

साहित्य रत्न माला—२

हिन्दी-काव्य में नवरस



निजि सो कवि सन निजि बडे, यामें सयय नाहि ।
पद रस निजि की सृष्टि में, नवरस कानता माहि ॥



लेखक

वान्भूराम चित्थरिया, 'साहित्य-रत्न'



हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य रत्न उपाधि
के लिये स्वीकृत निबन्ध ।



मकर १९८३ वि०

प्रथमावृत्ति १०००]

[६८५ २]

प्रकाशक :—

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,

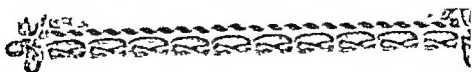
प्रयाग ।



मङ्गलाचरण

श्रूय करोति वाचाल पशु लघयते गिग्निः ।
 यत्कृपा तमह वन्दे परमानन्द मायवम् ॥१॥
 य ब्रह्मा वरुणेन्द्र रुद्र मस्तु स्तुन्यति दिव्यै स्तवे- ।
 वेदै साग पदक्रमोपनिषद्वैर्गयति य सामगा ॥
 यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यति य योगिना ।
 यस्या त न विदु सुगसुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥२॥
 वर्णानामर्थ सदाना रसाना छन्दसामपि ॥
 मङ्गलाना च कर्तारो वन्दे वाणी विनायको ॥३॥
 मज्जन्ती शङ्करो वदे श्रद्धा विश्वास रूपिणो ।
 याभ्या विना न पश्यति सिद्धा स्वान्तस्वमीश्वरम् ॥४॥
 वन्दे वोत्र मय नित्य गुरु शङ्कर रूपिणम् ॥
 यमाश्रितो हि वक्तोऽपि चन्द्र सर्वत्र वन्दते ॥५॥

अतस्ताप विनास हेतु तुमहो, सर्वत्र ही चन्द्रमा ।
 आलोकय सदैव ज्ञान पथ वे देवन्द्र सूर्योपमा ॥
 इत्यासी तत् भक्त वृन्द तुमसे हाते रहे सर्वदा ।
 नमामी सव शोक मिन्दु तरणी, स्वामी तुम्ही हो मया ॥१॥



होय मंगल लाभ पूर्ण-बहलें ध्यायेँ तुम्हा के। अहो ।
 होगा पूर्ण भला न कार्य्य फिर क्यों श्रद्धालु । सो तो कहे ॥
 इच्छाएँ अति उच्च पूर्ण तुमसे होता सभो की प्रभो ।
 भक्तो के उस म सदैव तुम हो नन्द सदा हे प्रभो ॥२॥
 सेवा में निनती "नरीन" यह हे सत्पार्श्व म्यामी दिग्या ।
 हो आग्रय्यक सो सभी गुण उता ओचित्य सारे सिखा ॥
 आशातीत अत्य उन्नति जुझे आलम्ब होये सभी ।
 जाये व्यर्थ न हे प्रभो । सुखदये सद् कार्य्य मेरा कभी ॥३॥
 जाना छन्द-प्रबन्ध गारि नगसा होता सदा ही रहे ।
 प्रासादादि अनेक सद्गुण पुता गरा 'गुप्ता' की नई ॥
 भापालकृत रूपनादि सहिता सद्भाव मे हो भरी ।
 हो शैली धनि व्यजनादि भगिता, अत्यत ही माधुरी ॥४॥



८-रसों का वर्णन

१-शृंगार-रस	२८२	२८२
१-सयोग	२८३	२८६
२-वियोग	२८६	२८८
(१) पूर्वाभिराग	२८८	२८६
श्रवण	२८६	२८०
चित्र	२८०	२८१
स्वप्न	२८१	२८२
प्रत्यक्ष	२८२	२८३
(२) मान	२८३	२८४
लघु-मध्य गुरु मान	२८४	२८६
(३) प्रवास	२८६	२८७
भूत-भविष्य	२८८	२८६
वियोग की एकादश दशा	२८६	३०६
रस सामिग्री द्वारा शृंगार		
पर दृष्टिपात	३०७	३१४
२-हास्य-रस	३१५	३२७
सामिग्री द्वारा विचार	३२७	३३३
३-करुणा-रस	३३४	३४६
सामिग्री द्वारा विचार	३४६	३५३
४-रोद्र	३५४	३६७
सामिग्रीद्वारा विचार	३६७	३७१



५—वीर	३७२	३८८
सामिग्री द्वारा विचार	३८६	३९२
६—भयानक	३९३	४०७
सामिग्री द्वारा विचार	४०७	४१२
७—वीरभत्स	४१३	४२४
सामिग्री द्वारा विचार	४२४	४३०
८—अद्भुत	४३१	४४५
सामिग्री द्वारा विचार	४४५	४४६
९—शान्त	४५०	४६३
सामिग्री द्वारा विचार	४६३	४६८
९—साहित्य-वृत्तियाँ	४६९	४७५
कौशिकी	४६६	४७१
भारती	४७१	४७२
सात्विकी आरम्भटी	४७२	४७३
१०—रसों के अनुकूल-प्रतिकूल		
छन्द	४७६	४७७
११—रस-दोष	४७८	४८४
प्रत्यनीक	४७८	४७६
नीरस विरस	४७६	४८२
दुस्सन्धान	४८	४८३
पञ्चादश	४८३	४८४

निवेदन



साहित्यरत्न प० बाबूरामजी विद्यारिषा ने प्रस्तुत निबन्ध स० १६७८ वि० में उत्तमा परीक्षा के निमित्त लिखा था। विद्यारिषा जी ने अपने लिए जो विषय चुना, वह साहित्य की दृष्टि से किनने महत्व का है, सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। जहाँ तक हमको मालूम है, इस विषय पर अभी तक हिन्दी के किसी विद्वान् ने कोई विस्तृत विवेचना पूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा है। एक दो पुस्तकें लिखी गई हैं अवश्य, पर बहुत ही संक्षेप में। ऐसी दशा में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक परीक्षार्थी के द्वारा इस विषय पर ऐसा विस्तृत विवेचना पूर्ण ग्रन्थ लिखा जाना कुछ कम कौतूहल की बात नहीं है।

हम यह नहीं कह सकते कि प्रस्तुत निबन्ध सब प्रकार से निर्दोष और परिपूर्ण है, क्योंकि आखिर एक परीक्षार्थी विद्यार्थी का ही लिखा हुआ है, तथापि लेखक ने यथाशक्ति अपने विषय को उदाहरणों के साथ, बड़ी मनोरञ्जकता से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। सफलता कहा तक हुई है, विद्वज्जन इसका निर्णय करेंगे।

‘साहित्यरत्न माला’ का दूसरा रत्न कारणवश विलम्ब से निकल रहा है, इसका हमको खेद है। परन्तु आशा है कि इस निबन्ध के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों अवश्य लाभ पहुँचेगा, और अन्य साहित्य प्रेमियों का भी मनोरञ्जन होगा।

पुस्तक में जो त्रुटियाँ विद्वज्जनों को दिखाई दें, उनकी सूचना को अवश्य दी जाय। हम उपकृत होंगे, और अगले संस्करण में सुधारने का प्रयत्न करेंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी,

साहित्य-मन्त्री





भूमिका

“तत्त्वकिमपि वाग्याना जानाति मिरलो भुवि ।

मार्मिक को मर-दानाम तरेण महुनतम्” ॥

अर्थात् “काव्य के अनिर्वचनीय तत्त्व को कोई बिरला ही जानता है, मधुवत को छोड़ पुष्पो के मधुर रस का मर्म जानने-वाला (अन्य) कौन है ?” । यह युक्ति अक्षरशः सत्य है । जिस प्रकार ध्रुवर, जल वातादि जनित अनेक बाधाओं का ध्यान न कर विशाल कमल कानन से मधु को प्राप्त करता है, तथा इसी कार्य के सम्पादन करने में वह गुलाब तथा केतकी के तीक्ष्ण कटको का किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं खाता; उसी प्रकार उपमा-रूपकादि-अलंकार व्यङ्गादि ध्वनि भेद, श्रोज, प्रसादादि गुण और शृङ्गारादि रस भेद रूपी अनेक प्रकार के पुष्प पारिजात से सुसज्जित अनुपम काव्योपवन में से अर्द्धतामृत आनन्द मधु-निष्कासन का अधिकारी केवल वही रस-मर्मज्ञ-सहृदय सज्जन है, जिसने अन्वेषण का पेचीदा मार्ग देखा है, जो किनारे पर हो बैठा न रह कर गहरे पानी में घुसा है, जिसमें तल्लीनता का अद्भुत गुण मौजूद है और जो काव्य के सन्मुख अपनी प्रिया के कोमल-काति कमजबूत अधरो केरसास्वादन का भी आदर नहीं करता है । उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि

प्रकार सत्य कविरच-वस्तु, जिसके विषय में निखिल शास्त्र-पारंगत, परम श्रद्धास्पद, महात्मा तुलसीदासजी की निम्नलिखित चोपाई उद्धृत की गयी है, दुर्लभ है, उसी प्रकार सत्य-रसिकता भी प्रत्येक मनुष्य में नहीं पायी जाती ।

आवर-ग्रथे अलकृत नला । छन्द प्रपञ्च अनेक विधाना ॥
 भाव भेद, रसभेद अपारा । कवित्वेप गुण त्रिभिध प्रकारा ॥
 मूर्धन एको अङ्ग उपाड । मम मति रक मनोरथ राज ॥

कहने को तो ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि ही काव्यमय है । सकल जल, थल, आकाश-प्रकाश, वायु, सूर्य, चन्द्र, तारागणादि में काव्य देदीप्यमान है । हाथोंसे लेकर चिउड़ी तक, गगन चुम्बी पर्वतों से लेकर अति सूक्ष्म परिमाण तक, अथाह सागरों से लेकर एक छोटे से जल बिन्दु तक, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो काव्य सब में एक भाव और एक रंग से समान रूपेण विद्यमान है, परन्तु देखने के लिये आँखों की आवश्यकता है । आँखें सब समान हैं, सब का कार्य भी एक ही है, परन्तु वह नेत्र ही और हैं, जिनसे उक्त काव्य सोदर्य का निरीक्षण किया जाता है । किसीने क्या अच्छा कहा है। —

“अनियार दीग्य नयनि, किती न युक्ति सयान ।
 यह चित्तया योरे कट्ट, जिहा वम हात सुजान” ॥

एक ही वस्तु के निरीक्षण से भिन्न भिन्न प्रकृति में मनुष्या की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियाँ होती हैं । किसी उपवन को सजित गुलाब का पुष्प यदि छड़ी लेकर सैर को जानेवाले,

बाबूजी के बटन-घर की शोभा बढ़ाता है, तो वही पुष्प माली की डाली सजाता है। ब्रह्मज्ञानी सत के अनुपम हृदय में वह ब्रह्महो कर स्थल पाता है। पसारी उसीसे अपनी दुकान का रंग जमाता है। वैज्ञानिक उसी को अपनी ज्ञान वृद्धि का मार्ग बनाता है। इसी प्रकार, कवि उसे देखते ही उपमा रूपकादि की खोज लगाता है। "लैला" परले सिरे की कुरूप थी, "लैल" शब्द से उक्त नाम की व्युत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ फारसी भाषा में रात्रि का है। "यथा नाम, तथा गुणम्" के आदर्श पर आप अमावास्या के अर्द्ध रात्रि के प्रगाढ़ तम को भी लज्जित कर देनेवाली थीं। एक दिन किसी मनुष्य को उनके दर्शन हुए। रंग रूप देखकर उससे न रहा गया—पूछा, श्रीमती ! "आप का शुभ नाम क्या है"। उत्तर मिला "लैला"। यह सुन कर उस पुरुष ने पुनः प्रश्न किया "क्या मज्जन् आप ही पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुका है" ? "क्या आप ही के इस सौंदर्य ने उसे बिना दामो का गुलाम बनाया है ?। क्या वह आपही के हाथों की कठ-पुतली हो गया है ? क्या वह ससार में इसी रूपोद्यान का भ्रमर बन कर जीवित रहना चाहता है ?"। लैला ने बड़ी सभ्यता के साथ कोमल, मधुर और गम्भीर वाणी से कहा—
 "श्रीमान् ! प्रेम मद-माते, स्वनाम धन्य महात्मा मज्जन् की हृदय हारिणी, भने, सुष्ठु कारिणी यही कुरूप दासी है !" यह सुन कर वह पुरुष अत्यंत चमत्कृत हुआ। लैला ताड़ गयी, उसने कहा—"महोदय ! इसमें भ्रम की क्या बात है। यदि परीक्षा करनी है तो रसिकवत् प्रातः स्मरणीय मज्जन् ही की आँखें

कर आइये, आपकी सब शिकायें निवारण हो जाँयगी'। पाठक।
 देखा, कितना भाव पूर्ण उत्तर है। वास्तव में लैला के रूप-
 सौन्दर्य की परीक्षा सहृदय मजनू ने ही की थी। इसी प्रकार
 ख़ुष्टि सौन्दर्य के अनुपम दृश्यों का वर्णन सहृदय, काव्य-
 रस-मार्मिक ही कर सकता है और वही उसके अंतर गत भाव
 सौन्दर्य तथा गुण-दोषों का पता लगा सकता है, अन्य की
 सामर्थ्य नहीं। नीर-क्षीर का विवेक दस ही कर सकता है जिस
 काव्य का ऐसा विशद वर्णन है उसकी परिभाषा अनेक विद्वानों
 ने अनेक प्रकार से की है। सम्पूर्ण मीमांसा द्वारा, "काव्य
 रसामक चाक्य" यह परिभाषा अत्यंत शुद्ध पायी गयी है अर्थात्
 रस युक्त शब्द ही काव्य कहा जाता है। ख़ुष्टि-काव्य कर्त्ता,
 आनन्द कद सच्चिदानन्द परमात्मा जो सब से प्रथम रवि है
 और जिसने अपनी वाणी वेदों में सब से प्रथम काव्य की ख़ुष्टि
 की है—उत्तरे भी अपनी रचना में रसों को प्रधानता प्रदान की
 है, यही कारण है कि उसका नाम "रसिक शिरोमणि" पड़ा है।
 "रस" लोकोत्तर आनन्द को कहते हैं। लोकोत्तर आनन्द का
 सम्बन्धव्यक्ति गत आनन्द से नहीं है, यह तो एक ऐसा
 अनिर्वचनीय आनन्द है कि सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये समान है।
 आनन्द मनुष्य जीवन के लिये कितना उपयोगी है? इसके
 लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं। काव्य और रस का
 अत्यंत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, जल
 में प्रवाह, अग्नि में तेज और शरीर में प्राण है उसी प्रकार, काव्य
 प्रवाह है, यदि कहा जाय कि काव्य भवाती, रस-रुद्र के

प्रदर्शित में विराजमान है तो अत्युक्ति न होगी। यही कारण है कि कवि कुलभूषण 'महान् कवि' ने काव्य रचना को अत्यन्त कठिन दिखलाते हुए उसमें अनेक काव्य गुणों की जो काव्य में होने आवश्यक हैं—की गणना कराते समय रसो को ही सर्वोपरि गिनाया है। वह कहते हैं —

‘अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धि रथास्ति सापि ।

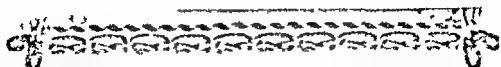
नो रीति रस्ति र्था सा यत्ना कुतस्तथा ॥

साध्यास्ति चेन्न तत्र यत्र गनिन्मदेतत् ।

व्यर्थं निरा रसमहो गदित रविन्व ॥

अर्थान्, कविता में प्रथम तो अर्थ लालित्य ही होना दुष्कर है। यदि यह हुआ भी तो, पद-शुद्धि नहीं होती। यदि यह भी हुई, तो रीति अर्थात् छन्द की शुद्धता पूर्ण गुणवती पद रचना नहीं होती। यदि यह भी हुई, तो वर्णनीय विषय की रमणीयता कहाँ? यदि यह भी हुई, तो नवीन व्यक्तिकी मनोदग्धता नहीं देखी जाती और यह सब होने पर भी रसके बिना तो काव्य ही व्यर्थ है। निदान कविता का विषय बड़ा ही गहन है।

यह सब होने पर भी ससार की कोई भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ काव्य उपस्थित न हो। कहा जाता है, कि जिस भाषा में काव्य नहीं, वह भाषा ‘भाषा’ कहलाने योग्य ही नहीं है। आद्य-सृष्टि से आज पर्यन्त, ससार में जितनी भाषायें हुई, और जहाँ वह बोली गई, वहाँ उनकी कविता अथ तक मौजूद है। सब से प्राचीन नम वेदों का बृहदश काव्य में ही



पाया जाता है । ससार की तुच्छातितुच्छ, असभ्य से असभ्य और जङ्गली से जङ्गली जाति के मनुष्य भी, अपने-अपने मेले, आमोद-प्रमोद तथा उत्सवों में कुछ न कुछ, कविता गाकर अपना मन बहलाव करते हैं । मनुष्य जाति का प्राकृतिक स्वभाव यह है, कि स्वयं आनन्द का अनुभव करे और दूसरों को करावे । इसी सिद्धान्त के अनुसार कोई पुरुष अपने काव्य से आनन्दित होकर उसके प्रभाव से दूसरों को प्रभावित कराने के लिये समुत्सुक होता है, यहाँ तक कि वह अपने इस कार्य में नफल मनोरथ भी होता है, अर्थात् समस्त जन-मण्डली उसके श्रवण मात्र से गद्गद् हो उठती है । यदि काव्य में यह कार्य करने की क्षमता है, तब तो वह काव्य है और उसका कर्त्ता कवि है, अन्यथा कुछ भी नहीं । जिनके काव्य में उक्त गुण नहीं वह काव्य करने का साहस कर समाज में हास्यास्पद होने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं उठाते । कविता मानव जाति के जीवन के लिये परम प्रयोजनीय वस्तु है । दास कवि काव्य रचना के विषय में कहते हैं —

एक लई तप पुजन के फल ज्यो 'तुलसी' अरु 'सूर' गुसाईं ।

एक लई बहू सम्पति 'केशव' 'भूपण' ज्यो 'बलराम' बडाई ।

एकन को 'यश' ही सा प्रयोजन है 'रसग्राम' 'गद्गम' की नाई ।

'दास' कवित्तन की रचना बुधवसन को सुख दै सन ठाई ॥

मानव जाति में कविता का इतना समादर और कवि के सम्पूर्ण दृष्ट-साधन का कारण केवल यही है, कि कवि अपनी कवित्व शक्ति द्वारा शुष्क से शुष्क और नीरस से

नीरस विषयो को भी इस प्रकार वर्णन करता है कि समस्त उपस्थित-जन समुदाय प्रफुल्लित हो उठता है। यह कवि की ही सामर्थ्य है कि वह अपनी वर्णन शैली द्वारा, घमासान युद्ध जिसका नाम सुनते ही रोमांच होता हो, गिरि कदराएँ—जिनके दर्शन मात्र से ही धैर्य विदा होजाता हो, गहन-वन, जो अगम्य हो, इत्यादि प्रकार अन्य भयावह पदार्थों का वर्णन इस प्रकार करता है कि उससे चित्त में एक लोकोत्तर आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। क्या गद्य, क्या पद्य क्या नाटक और क्या उपन्यास सभी में इस लोकोत्तर आनन्द रस की आवश्यकता है। यदि गद्य काव्य के माननीय आचार्य श्रीयुत लल्लूजी लाल के 'प्रेमसागर,' कवि शिरोमणि अद्वेय महात्मा तुलसीदासजी के 'रामचरित-मानस,' कवि कुल केरवचन्द महात्मा सरदास के 'सूरसागर,' पियूष वर्मा विहारीलालजी की 'सतसई,' और अद्भुत उपमा रूपकादि का प्रत्यक्ष रूप सजा कर देने वाले, कवि शिर मोर कालिदास की 'शकुन्तला नाटक' इत्यादि ग्रन्थों में उपर्युक्त गुण विद्यमान न होता तो वे आज समाज में इतने आदर की दृष्टि से न देखे जाते और कभी के पसागी की पुडियो का डाम दे गये होते। महानुभावा ! ऐसे ही प्रभाव गाली, परमापयोगी अथवा अत्यंत अनूठे विषय पर अपनी लैखनी परिचारित करने का साहस आज मुझे हुआ है। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में बड़े-बड़े उच्च कोटि के विद्वान तथा कवियों के इसी विषय के अनेक ग्रंथ प्रस्तुत हैं। फिर भी, उस विषय पर मुझ



जैसे अल्पक्ष का कुछ लिखने का साहस करना केवल धृष्टता मात्र है। इस विषय पर वही लिख सकता है जो स्वयं प्रतिभाशाली एवं अनुभवी कवि हो, जिसने अनेकों काव्य ग्रंथों का अवलोकन किया हो, बहुत से नवीन तथा प्राचीन लेखकों के लेख देखे हों, जो काव्य को साङ्गोपाङ्ग आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ चुका हो, जिसने इस विषय पर लिखे हुए कृत-विध सज्जनों के सारगर्भित समालोचना के ग्रंथ पढ़े हों और उनपर विचार किया हो। परन्तु, इन सब बातों के न होते हुए भी घड़े की आशा प्रतिपालन करना भी मनुष्य का परम धर्म है, इसी आदर्श को ग्रहण कर मैं इस विषय को सेवा में उपस्थित करता हूँ।

निस्सन्देह "विषय" बहुत गम्भीर है, उस पर कुछ लिखने के लिये मेरी बुद्धि किसी प्रकार भी समर्थ नहीं है, न इस विषय का ही पर्याप्त ज्ञान मुझ में है। मैं विद्यार्थी हूँ, यदि सहोच करके बैठ रहूँ तो भी सर्वथा हानि होने की आशका है। लाभ कुछ भी नहीं। इसी विचार से प्रेरित होकर, सम्मेलन नियमावली नियम २१ के अन्तर्गत—परीक्षा समिति द्वारा स्वीकृत उपनियम अध्याय ८ पैराग्राफ द्वितीय के अनुसार यह निबन्ध लिखना आवश्यक समझा। कहा जा सकता है कि, फिर कोई छंटा और सुबोध विषय क्यों न लिया होता—जिसपर कुछ थोड़ा बहुत प्रकाश भी डाल सकते। सोचता तो मैं भी ऐसा ही था, परन्तु क्या करूँ, मुझे अपने परीक्ष्य विषय—"हिन्दी-साहित्य" में कोई ऐसा विषय ढूँढ़ने पर भी न मिला जिसको मैं सरल और बोध गम्य समझूँ, प्रभाव डालता, कारण इसका

केवल यहो है कि मने आरम्भ से ही उर्दू पदों—मो भी अधूरी केवल मिडिल और नोरमल की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के अभिप्राय से, “हिन्दी” नोरमल स्कूल में मेरी द्वितीय भाषा थी, इससे प्रथम मने केवल चिट्ठों-पत्रों लिखने लायक हिन्दी घर पर सीखी थी। इसका फल यह हुआ कि दोनो भाषाएँ अधूरी रह गई—“न खुदा ही मिला, न विसाले सनम्। न इधर के रहे न उधर के रहे।” कहों तो हिन्दी साहित्य का यह विषय और कहों में। “चन्दर से पूछो अदरक का सवाद” तो वह बेचाग क्या कहेगा। “कट्टे गौहर शाह दानदया विदानद जोहरी” अर्थात् मोती का (मृत्यु नमस्कृत) सम्मान या तो जोहरी हो करता है या वादशाह ही (अन्य नहीं) अस्तु मेरा गुना विक्रियार्थ मुक्ता, माणिजादि रत्नों के समकक्ष व्यौपार में आने का साहस केवल इसी अभिप्राय से कर सका कि इन मिस से कुछ ‘परीक्ष-विषय’ में सहायता मिलेगी, “एक पथ दो काज” लेख का लेख लिख जायगा और कुछ न कुछ विज्ञता काज्य विषय में भी हो जायेगी। शब्द तथा अर्थ की अशुद्धियाँ भी अनेक स्थल पर रह गई होंगी, क्योंकि इस प्रकार का लेख लिखने का यह मेरा प्रथम ही साहस है—परन्तु इसकी विशेष चिन्ता यो नहीं है कि यह लेख उन महानुभावों के समक्ष ही उपस्थित होगा जो हमारे पथ प्रदर्शक, अग्रगण्य, तथा सुधारक हैं—अपने गालक की तोतली, और अशुद्धवाणी से अग्रण कर के भी माता पिता अकथनीय आनन्द का अनुभव कर प्रेम गद्-गद् हो जाते हैं, याकरणादि की अशुद्धियों पर

उनका ध्यान भी नहीं पहुँचता। आशा है कि, इसी प्रकार हमारी परीक्षा समिति के सदस्य, इस डटो-फूटी भाषा युक्त निबन्ध को पढ़ने का कष्ट उठाकर मुझे उत्साहित करने की अनुपम कृपाप्रदर्शित कराते हुए भविष्य के लिये शुद्ध और लाभदायक मार्ग बतावेंगे। अब अन्त में अपनी बनाई पद्य का कुछ अंश सेवा में भेंट कर इस लेख को यही समाप्त करता हूँ।

वाझण कुल हम तीन, भेंट का नहीं सहारा।
 शब्द-पुष्प है पास, उही है द्रव्य हमारा ॥
 यद्यपि है यह नुद्र, गंध उनम प्रति थोड़ी।
 सुत्तकठ से प्रेम सहित, माया पर जोड़ी ॥
 प्रणय कुसुम कर भेंट, उही सत्ताप मनाते।
 ईश्वर से कर निनय, हृदय में गीत नगाते ॥
 काव्य-कला-कौशल्य, देश में गूँथ चलावे।
 हिन्दी 'हिन्दू' हिन्द नाम की सत्य बनावे ॥

कवि किङ्कर सिरसागज, जिला मैनपुरी निवासी -

बाबूराम चित्थरिया 'नवीन'

वसन्त पंचमी }
 स० १९७८ वि० }

अध्यापक, ए० बी० रेल्वे स्कूल,

चौदीकुई—राजपूताना।

हिन्दी-काव्य

में

नवरस

१-रस की परिभाषा

(अ) आनन्द क्या है ?



नव जानि कामनाआ मा भडार हे। नहीं ज्ञात होता कि ईश्वर ने उसके हृदय में कितनी कामनाएँ भर रखी हैं कि कबश एन के पञ्चात् दूसरे का आविर्भाव होता ही चला जाता है। यदि एक पुरुष आज अपनी क्षुब्ध-निवृत्ति के लिए आपसे आटे का इच्छुक है

तो कल वही अपनी इस कामना की पूर्ति होजाने पर इसमें अधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसी प्रकार वह अपनी कामनाओं में, भग्सक प्रयत्न करके, अनेकों सफलताएँ प्राप्त करने पर भी चुप होकर नहीं बैठता। इसी अत्यलित कार्यक्रम का नाम विद्वानों ने तृष्णा रखा है। इसी को हम प्रतिदिन के

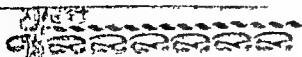
व्यवहार में "निन्यानवे का चक्र" कहा करते हैं। यह ऐसा चक्र है कि मनुष्य इसके चारों ओर आजन्म घूमते रहने पर भी उसका अन्त नहीं पा सकता। भर्तृहरिजी ने नृत्य ही कहा है कि "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"—तृष्णा जीर्ण नहीं होती, किन्तु आयु ही जीर्ण होती है। मनुष्य तृष्णादेवी का पुजारी बनकर अनेक प्रकार के सुख-दुख का अनुभव करता है। कभी तो वह सफलता की तरल तरङ्गों में प्रवाहित होकर फूला नहीं समाता और कभी विफलता देवी का क्रीडाम्बल बनकर अश्रुधारा बहाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्पूर्ण चतुर्वर्ग की प्राप्ति के मार्ग में तृष्णादेवी आकर प्रस्तुत हो जाती है। इस प्रकार तृष्णा के अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं, अर्थात् धर्म-प्राप्ति की तृष्णा, अर्थ-सम्पादन की तृष्णा इत्यादि। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि यह सम्पूर्ण तृष्णा मनुष्य को अपने वर्णभूत क्यों कर लेती है? किंचित् विचार करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य केवल आनन्द-प्राप्ति के निमित्त ही तृष्णा के फटे में फँस जाता है, अन्य कोई कारण नहीं। 'आनन्द' दृष्टिगोचर पदार्थ नहीं, अर्थात् उसको कोई देख नहीं सकता—न उसके रंग रूप का ही वर्णन किया जा सकता है। किन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव करने के लिए अनेकों साधन प्रस्तुत हैं। मस्तिष्क मन की इन्द्रिय है। उसमें मन अपने कार्य किया करता है। मन की अनेक शक्तियाँ हैं। उनमें से एक शक्ति आनन्द भी है। मन की चित्रपट्टी, मनुष्य के मुख की आकृति और नेत्रादि के व्यवहार हैं। उनके द्वारा हमें मनुष्य के हृद्गत सम्पूर्ण भाव

निश्चित रूप से ज्ञात होजाते हैं। किसी पुरुष से उसके मित्र ने प्रश्न किया—“आप मुझे कितना चाहते हैं?” उत्तर मिला—“अपने मन से पूछो”। सत्य है, जितना उसका मित्र उसे चाहता होगा, उतना ही वह उसे चाहता होगा। इस प्रकार मनुष्य एक दूसरे के मनोगत भावों तक को भी जान सकते हैं, अर्थात् मुख की चेष्टा, आँख, भ्रू, इत्यादि के व्यवहारा द्वारा मन का सम्पूर्ण भाव ज्ञात हो जाता है। किन्हीं ने कहा भी है.—

नयना ग्रेत गताय सय, हिय को हेत अहेत ।

जसे निर्मल आगसा, भसी उरी कहि दत ॥

अस्तु, जिन समय हमारा चित्त प्रफुलित होगा, उस समय हमारे मुख की चेष्टा और आकृति हमारे इस भाव को सिद्ध कर देगी। यदि इसके विरुद्ध हमारे चित्त में कुछ खेद होगा तो हमारे चेहरे की आकृति उसे भी तुल्य ही स्पष्ट करदिखावेगी। जब मन में आनन्द की शक्ति मौजूद है, और मन का घर मस्तिष्क है, तो सम्पूर्ण सुख और दुःख का अनुभव तुरत ही मस्तिष्क में पहुँचेगा। मज्जान्तुओं का सम्बन्ध शरीर की सभी नसों से है। मन जब किसी कार्य का सम्पादन करता है तो पहले मज्जागत-तन्तुओं में संचालन उत्पन्न करता है। इस संचालन से समग्र शारीरिक स्नायुओं में संचालन होने लगता है। यह संचालन जब रुचिकर होता है तब काम करने में आनन्द मिलता है,



और जब रुचिकर नहीं होता तो आनन्द भी प्राप्त नहीं होता । इस आनन्द के होने न होने का हाल सम्पूर्ण शरीर को ज्ञात हो जाता है, और आवश्यकतानुसार यह कार्य अपने प्रभाव से उसे प्रभावित भी करता है । इस प्रकार हमारे शरीर की उत्पन्न हुई दशा का बोध हमें देखनेवाले तुरत ही जान लेते हैं ।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया कि हमें आनन्द के अस्तित्व का बोध किस प्रकार होता है । अब इस बात के जानने की आवश्यकता और है कि आनन्द है क्या, और आनन्द को पाकर मनुष्य की क्या दशा होती है ? जब हम को किसी रमणीय दृश्य के देखने अथवा किसी मधुर ध्वनि के सुनने का अवसर प्राप्त होता है तो उससे हमारे हृदय में एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा हमें अन्य वस्तुओं का स्मरण नहीं रहता और हमारे सम्पूर्ण हृद्गत भाव केन्द्रस्थ होकर उसी निर्दिष्ट विषय में तरलीन हो जाते हैं । इसी विकार को आनन्द कहते हैं । परन्तु मनुष्य की यह आनन्दमय अवस्था सदैव एक दशा में नहीं रहती । जब तक मनुष्य पर उपर्युक्त दृश्य तथा ध्वनि का प्रभाव रहता है वह तभी तक रहती है । उदाहरणवत्, किसी परीक्षार्थी को जब उसके परीक्षोत्तीर्ण होने की सूचना मिलती है तो उसका चित्त सम्पूर्ण पदार्थों से हटकर एक अनुपम आनन्द का अनुभव करने लगता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् फिर उसे उसका ध्यान भी नहीं रहता । इसी प्रकार यदि किसी निर्धन पुरुष को कहीं से द्रव्य प्राप्त हो जाता है तो उस उसके चित्त में ऐसे विकार का प्रादुर्भाव होता है जो

अपरिणीत है। उसे अपने भूतपूर्व जीवन में सहन किये हुए अनेक कष्टों का, फिर कुछ समय के लिए, ध्यान भी नहीं रहता। इसी प्रकार उस द्रव्य द्वारा पड़े होनेवाले अनेक भूतों का भी उसे ध्यान नहीं रहता, किन्तु उसकी यह दशा भी न जाने कितने दिन की है ? किसी मनुष्य को ज्ञात नहीं कि आज उसकी यह दशा है, नो कल क्या होगी ? प्रत्येक प्रकार का आनन्द कुछ काल के लिए परिमित होता है। वह आनन्द-सागर जिसकी उत्तालनलों में जिज्ञासु अनन्तकाल तक गोते लगाते रहते हैं, "परमानन्द" कहलाता है। इस आनन्द को पाकर मनुष्य अपने अस्तित्व को भूल जाता है। वह ससार के सम्पूर्ण सम्बन्धों को तिलाञ्जलि देकर निश्चिन्त हो जाता है—जाति पॉति के सम्पूर्ण बन्धनों की बेड़ियों को तोड़ डालता है। उसे न किसी से उर, न किसी से प्रीति—वह न किसी धर्म का पड़न करता है और न किसी का मडन। उसकी हृत्तरी उस सुदीर्घ राग से प्रतिध्वनित होती है, जिसका अनुभव केवल नहीं कर सकता है जो उसका अधिकारी है, अन्य की सामर्थ्य नहीं। इन उपर्युक्त दोनों प्रकार के आनन्दा म से हम प्रथम प्रकार के आनन्द को लौकिक आनन्द और दूसरे प्रकार के आनन्द को पारलौकिक तथा ब्रह्मानन्द कह सकते हैं।

ऊपर यह दिग्गया जा चुका है कि आनन्द केवल मनुष्य का मन-जनित विकार है। वह मनुष्य का व्यान सब ओर से हटाकर केवल उस उपस्थित विषय की ओर लगाता है जिसका प्रभाव उन व्यक्ति पर पड़ चुका है। अब यह और देखना

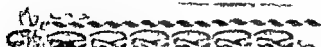


चाहिए कि वह प्रभाव कौन-कौन हैं जो उसके सम्पूर्ण विचारों को केन्द्रित कर देते हैं। मोटे प्रकार से हम उनको "सुखदाई" और "दुखदाई" दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं। परन्तु इस प्रकार विभाग करने में एक बड़ा कौतूहल यह उपस्थित होता है कि लोग "सुख" की गणना तो आनन्द में कर लेंगे, किन्तु "दुख" को उस आसन पर विराजमान करने के लिए उद्यत न होंगे, क्योंकि वहाँ छुआछूत का भगडा मौजूद है। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि हम सुख दुःख पर कुछ विचार करें। जिन महाशयों ने केवल प्रारम्भिक विज्ञान का ही अध्ययन किया होगा वह भी भली प्रकार जानते होंगे कि "ताप" और "शीत" केवल दो पृथक्-पृथक् नाम हैं। वास्तव में उनमें अन्तर कुछ भी नहीं है। जो वस्तु तपाकर अधिक गर्म कर दी गई है, वह उस वस्तु के सम्मुख अधिक गर्म होगी, जो थोड़े समय तक ही तपाई गई है। तुलना करने पर प्रथम से द्वितीय ठंडी नहीं जावेगी, किन्तु यह द्वितीय वस्तु उसके सम्मुख गर्म नहीं जावेगी, जो बिल्कुल ठंडी है। इस प्रकार एकही वस्तु एकही समय में दो पृथक् पृथक् नामों से पुकारी गई। इससे यह फल निकला कि वास्तव में गर्मी और सर्दी एकही वस्तु है, केवल नाम दो हैं। इसी प्रकार यह सिद्ध हो सकता है कि सुख और दुःख एक ही पदार्थ है। उनमें केवल नामान्तर ही है, क्योंकि यदि एक मनुष्य किसी एक अवस्था को सुखावस्था समझना है तो दूसरा उसे दुःखावस्था गताना है। तीसरे को सुख की कुछ और ही है। यही हाल दुःख का है। सुख-दुःख

आत्मा के निदिष्ट मार्ग तरु पहुँचे हुए विकास की स्थिति बतलानेवाले हमारे द्विये हुए नाम हैं—वास्तव में दोनों ही एकही। इस प्रकार स्या सुख, स्या दुःख—स्या क्रुद्धा, स्या क्रोध सभी विकार जा मनुष्य पर मुग्धकारी प्रभाव डाल, आनन्द में ही परिणत किये जायगे। यथा कोई दुःखी मनुष्य अपने दुःखों की कहानियाँ कह-रुहकर प्रलाप, रोदन इत्यादि करणोत्पादक कार्यरत रहता हो तो उनको श्रवणकर हमारे मन में जो विकार उत्पन्न होगा उसका समावेश भी आनन्द ही में किया जावेगा। यथाकि जिस प्रकार सुखी पुरुष के सुख में सुखी होना आनन्द है, उसी प्रकार दुःखिया के दुःख से दुःखी होना भी आनन्द ही है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि जो विकार मनुष्य के मस्तिष्क में शृंगार, हास्य और खीरत्व के प्रभाव डालते हैं उनकी गणना भी आनन्द ही में है।

(व) लोकोत्तर आनन्द

ऊपर जिन आनन्द का वर्णन हुआ, वह केवल व्यक्तिगत आनन्द से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्, यदि किसी ने कहे कि आज तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है तो उससे केवल उसी मनुष्य को आनन्द होगा, श्रांगों को नहीं। इसी प्रकार के आनन्द को व्यक्तिगत आनन्द कहते हैं। इसी तरह यदि किसी आदमी ने कहे कि तेरे अमृत प्रेमी की मृत्यु हो गई है, तो उससे केवल उसी मनुष्य को शोक होगा जिसका वह प्रेमी था, अन्य को नहीं। परन्तु मानव जाति का यह प्राकृतिक स्वभाव है कि वह



एक दूसरे के दुख में दुखी और सुख में सुखी होना चाहती है। साथ ही उसको अपने जीवन के प्रतिदिन के व्यवहार में पद-पद पर आमोद-प्रमोद की आवश्यकता का भी अनुभव होता है, और इसी कारण से वह परस्पर मिलकर रहने की भी अभिलाषिनी है। यदि ऐसा न होता तो हम आज कलकत्ता, बम्बई, पेरिस तथा लंदन जैसे मनोमुग्धकारी शहरों के स्थान में निर्जन-वन, हिसक जन्तुओं, ऊसर भूमि और उच्च पर्वतों को ही देखते। यदि मनुष्य जाति में यह इच्छा न होती तो उसका सर्वथा हास ही हो गया होता। यही इच्छा बढ़ते-बढ़ते इतनी बलवती हुई कि लोगों को उसकी पूर्ति के लिए, हाट-बाजार, मणि मटिगादि की आवश्यकता का अनुभव हुआ और आवश्यकतानुसार अपने चित्त-विनोदार्थ त्यौहार तथा मेला की सृष्टि की। बहुधा देखा जाता है कि जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण दिन के कार्यों से निश्चिन्त होजाता है तो मन बहलाने के लिए किसी चित्तान्तरक खेल-तमाशे, गाने-बजाने इत्यादि की योजना करता है। बहुधा गावों के रहनेवाले जब अपने दिन भर के सम्पूर्ण कार्यों से छुट्टी पाते हैं तो रात को या तो गाने-बजाने का रंग जमाते हैं, या कहानियाँ की झड़ी लगाते हैं, अथवा कबूती इत्यादि खेल खेलने में अपना समय बिताते हैं। अभिप्राय यह कि किसी-न-किसी तरह अपना मन बहलाते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों पर ससार भर की नाटक कम्पनियाँ, रास मंडल इत्यादि अपना पेट-पालन तथा भरण चर रहे हैं। लोग नाटकों के देखने, राम लीला तथा

दृष्ट-लोला के अपलोकन करने, नाटक उपन्यासादि के पढ़ने, यहाँ तक कि कभी कभी उनके लिए खान पान तक छोड़ देने तक के स्वभाववाले देखे जाते हैं। इसका कुछ न-कुछ कारण अग्र्य है। विचार करने पर यही उत्तर मिलेगा कि उन लोगों को उपर्युक्त विषयों में आनन्द प्राप्त होता है, इसीलिये वह उनमें तल्लीन हो जाते हैं। बात भी ऐसी ही है। परन्तु यह आनन्द किसी एक ही पुरुष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु समस्त उपस्थित-जन-समुदाय उस आनन्द सागर में निमग्न हो जाता है। यदि नाटक या उपन्यास हास्य का परिपोषक होगा तो सम्पूर्ण पाठक हसने लगेंगे, यदि उनमें रुचिरारस का प्राबल्य होगा तो सम्पूर्ण दर्शकों अथवा पाठकों को कल्याण सागर में परि-प्लावित होना पड़ेगा, और यदि उनमें घोररस का परिचय कराया गया होगा तो सभी पाठक वीरता का अनुभव करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी मनोरम दृश्य के देखने अथवा किसी मधुर ध्वनि के श्रवण करने या किसी प्रभावशाली साहित्य के पठन से किसी विशेष व्यक्ति को ही आनन्द की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त व्यक्तियों को समष्टिरूप से उसका अनुभव होना है। इस प्रकार के आनन्द को 'लोकोत्तर आनन्द' कहने हैं। इस आनन्द को विशेष रूपसे समझने के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि टो-पक उदाहरण वहाँ से उद्धृत करें। निम्नाकि तत्रतरेण हरिश्चन्द्र नाटक के चतुर्थाङ्क में से देते हैं। जिस समय महाराज राज हरिश्चन्द्र के प्रिय पुत्र गेहिताश्व सर्प के फाँद

मृतक अवस्था को प्राप्त होकर अपनी प्यारी माता के द्वारा अन्त्येष्ट संस्कार के लिए स्मशान में लाये गये थे, उनकी माता उनको इस अवस्था में देखकर अनेक प्रकार से विलाप कर रही थी, और उनके पिता अपने स्वामी-श्वपच की आज्ञा-नुसार उस भयावह स्मशान में मुद्दों से कर लेने के लिए चक्कर लगा रहे थे तथा उस दुखिया-जैदया के दुःखमय शब्दों को श्रवणकर दुखी हो रहे थे उसी समय अपने पुत्र को पहचानकर उन्होंने जो वान्य कहे हैं उन्हीं का साराश नीचे गद्य में दिया जाता है.—

“हरि०—(धवडाकर) हाय ! हाय ! यह क्या ? (मर्ता माँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ । अरे मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहित-ताम्र को न पहिचाना, और जान कहाँ गये थे जिनने अब तक महागानी की बोली न सुनी । हा पुत्र । हा लाल । हा सूर्यवश के अकुर । हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक मात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम ऐसे समय में दुखिया माँ को छोड़कर कहाँ गये ? अरे तुम्हारे कोमल अङ्गों को क्या हो गया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र । स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते, मैं अपने बाहुबल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता । अथवा अब इस अभिमान से क्या ? भगवान इसी अभिमान का फल यह मर दे रहा है । हाय पुत्र । (रोता है) । आह ! मुझसे बढ़कर

और कौन मन्दभाग्य होगा ! राज्य गया, धन, जन, कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्र शोक उपस्थित हुआ । भला अब मैं रानीको क्या मुग्न दिखाऊँ ? निस्सन्देह मुझमें अधिक अभागी और कौन होगा ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं ? जो कुछ हमने आज तक किया यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता । हमारा उर्म का अभिमान सब झूटा था, क्योंकि कलयुग नहीं ह कि अच्छा करने युग फल मिले । निस्सन्देह मैं बड़ा अभागा और बड़ा पापी हूँ । (रगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलय-काल आगया ? नहीं, यह बड़ा भारी असंगुन हुआ है, इसका फल कुछ अच्छा नहीं— 'युग होता ही क्या राकी रह गया है जो होगा ? हा ! न जाने किस अपराध से देव रुठा है । (गेता है) ' । "

अब हम उपर्युक्त गद्यको गद्य-श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य दोनों अवस्थाओंमें संगठन समझते हैं । सच कहिये, इस गद्य के पाठक की क्या दशा होगी ? क्या उसे महागाज हरिश्चन्द्र जी के आँसुओं के साथ अपने आँसू न बहाने पड़ेंगे ? क्या कुछ देर के लिए वह 'कि कर्तव्य विमूढ' न हो जायेगा ? क्या उस समय उसको मन में उत्पन्न होनेवाले भाव अथवा विकार उस को तन्मय न कर देंगे ? अपश्य कर देंगे । अब यदि यही कथन रगस्थल में हरिश्चन्द्र वेदधारी पात्र के मुखसे सुना जाये तो

कौन पापाए हृदय होगा जिसका मन न पिघले, जिसके रोमांच न रुड़े हो जाय, अथवा जो नेत्रों से जल न प्रवाहित करे। अर्थात्, सम्पूर्ण उपस्थित जनता पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

एक दूसरा उदाहरण नीचे और अंकित करते हैं जिससे हमारे विषय की पुष्टि होगी और यह भली भाँति सरलता-पूर्वक समझ में आजावेगा कि लोकोत्तर आनन्द क्या है ?

गुणोर्गिर पञ्च स्निग्नधीत्य, वेदान्त शास्त्राणि दिन त्रयच ।

अर्मा समाग्राय च तर्कनादान् समागत कुङ्कुट मिश्र पादा ॥

—साहित्य दर्पण

अर्थात्—यह, देखिये, कुङ्कुट मिश्र आये। इन्होंने गुरु से कुल जमा पाँच दिन शिक्षा पाई है, सारा वेदान्तशास्त्र तीन दिन में पढ़ा है और तर्कशास्त्र को तो फूल की तरह सूँघ डाला है।

अपाङ्ग गिरि जास्त्रिपली कपोल

दन्तागलिर्विगलिता नचमे रिपाद ।

गर्गा दृश्यायु पतय पथिमा त्रिलोक्य,

तातेति भाषण पग यलु नन्नपात ॥

एक रगीला बृद्ध कहता है —“क्या करे ? सिर के बाल सफेद हो गए, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गई, दाँत टूट गये, पर इन सब बातों का मुझे कोई दुःख नहीं है। हाँ, जब रास्ते में चलते समय मृगनयनी स्त्रियाँ मुझे देखकर पूछती हैं—‘बाबा किधर चले ?’ तो उनका यह पूछना मेरे लिए पर वज्र-मिस्ता है।”

उपर्युक्त पथों को पढ़कर किसको हँसी न आवेगी—किस की उत्तीर्ण न गुल जावेगी ? जो पढ़ेगा वह एक प्रकार के अनुपम आनन्द का अनुभव करेगा। इसी प्रकार के आनन्द को हम 'लोकोत्तर आनन्द' कहते हैं। मनुष्य इस लोकोत्तर आनन्द के मदैव इच्छुक रहते हैं, और जहाँ इस आनन्द के प्राप्त होने की आशा होती है वहाँ से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। चाहे नाटक-कम्पनियों में उसकी प्राप्ति हो, चाहे राम-लीला और राम-लीला में उसका दर्शन हो, चाहे डामा, कहानियों इत्यादि के श्रवण से उसका अनुभव होता हो, चाहे किसी नाट्य के पढ़ने में उस आनन्द की प्राप्ति हो, चाहे वह आनन्द शारीरिकश्रम सहन करने पर मिले, चाहे व्यय जाग वह सुगम हो, परन्तु उसके प्राप्त करने का प्रयत्न वे अनश्रय करते हैं।

(स) रस

इस उपर्युक्त "लोकोत्तर-आनन्द" को रस कहते हैं। इसीको यदि हम विस्तार से कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—“किसी बात का वर्णन, जो हमारे ऊपर गहरा प्रभाव जमा कर, हमारे चित्त में प्रेम, हास्य, दया, क्रोध, वीर्य, भय, ग्लानि, अचम्भा तथा शान्ति इत्यादि विकारों में से किसी एक अथवा अधिक विकारों का प्रादुर्भाव कराता है, हम उसी को सुनना अच्छा समझते हैं, और सुनते हैं, क्योंकि वक्ता की अनूठी उक्ति ही उपर्युक्त विकारों को उत्पन्न कराती है।” इमलिये

हा ! वृद्धा के अतुल वन, हा ! वृद्धता के सहारे ।

हा ! प्राणी के पग्न प्रिय हा ! एक में दलारे ।

हा शोभा के सदन सम, हा ! रूप लागवयाले ।

हा ! चेटा, हा ! हरन वन, हा ! नेत्र तारे हमार ॥१॥

कैसे होंके अलग तुझसे आज लो में उर्ची हूँ ।

जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ ?

हो जीउ गी न अन्न, परहे पेदना एक होती ।

तेरा प्यारा उदन मग्तीपार मैंने न रखा ॥२॥

यो ही बात निमिध कहते अश्रुधारा बहाते ।

धीरे धीरे यशुमति लगीं चेतना शून्य होने ।

जो प्राणी थे निकट उनके या यहाँ, भीत हो के—

नाना यथा सहित उनके वे लगें बोंब देने ॥३॥

— प्रिय प्रवास (प० अयोध्यानिहजी उपाध्याय)

उपर्युक्त पद्य महाराज कृष्ण के मथुरा चले जाने के समय उनकी माता के मुख से कहलवाये गये हैं। महाराज कृष्ण का वियोग ही इन शब्दों के कथन कराने का कारण है। सम्पूर्ण विशेषण जो महाराज कृष्ण के रूप व शुरुणा के द्योतक हैं, वह इस वाक्यावली के द्वारा पड़े हुए प्रभाव को और भी उद्दीप्त करते हैं। धीरे-धीरे यशोदाजी का चेतना-शून्य होना उस प्रभाव को अनुभव कराता है। इस सम्पूर्ण पद्य खंड में पश्चात्ताप संचार कर रहा है। इन नव कार्य-कारणों के द्वारा शोक मनोविकार स्थित होता है। अतः यह मनोभाव का विचार ही रस है।

वीरोक्ति

मातृ तुम सकल गुणों की खान, ये निज पुत्रों का अपमान ।
 यदि हत हो जननी सुपधाम, हुई तन छीन मलीन महान ॥
 रत्न मय या जो मुकुट प्रियाल, छोड़ वह अपनी कांति ललाम ।
 हुआ है कटकगण का थान, उना या जो हिम गिरि अभिराम ॥
 नहा है वह यमुना ओ गग, अयो तुम नेत्रों में जल जाल ।
 नीरनित्रि पूरित सातो आन, पहिन ला सुपद शांति की माल ॥१॥

अपणकर तेरा करण मिलाप जगा हममें है चीरित जोष ।
 करेंगे अन्ध हम सकल सुगार, त्यागकर नीच स्वार्थ का शोष ॥
 घने गे अजुन भीम समान, पुत्र पुनि तरे सत्र धलवान ।
 नारि सब होंगी पूज्य महान, सुयीला, सीता, सती समान ॥
 फरे ने सत्र ही सम्भन आज, घने गे वमनीर गम्भीर ।
 कर गे सार्वक अपना जम, मातृ पर कर बलिदान शरीर ॥२॥

—स्वरचित

यहाँ मातृभूमि की दीनता अर्थात् उसकी अवनति ही इस काव्य का अलम्बन है । “पहिन लो सुगद शांति की माल”—इस मधुर वाक्य द्वारा उसको शांति दिलाकर अपने जोशीले वाक्यों से उसके दुःख दूर करने की चेष्टा की गई है । इसी से दया का अनुभव होता है । मातृभूमि के हिमालय रूपी मुकुट का—जो किसी समय रत्न जटित था—कटकमय होजाना तथा उसकी अन्य बुरी दशाएँ उस साहस को, जो मातृभूमि के सेवा करने के लिए हमें मजबूर करता है, और भी भड़काती हैं । मातृभूमि के अनुरागाधिन्य के कारण स्थिरता न रहकर

सम्पूर्ण सुधार करने पर उतार होना चपलता का संचार कराना है। इसके साथ ही साहस और ज्ञान के साथ विपत्ति में भी धैर्य मौजूद है जो “नीच स्वार्थ के त्याग”—इत्यादि वचनों द्वारा जल-प्रवाह की भाँति प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण सामग्री द्वारा साहस स्थित हुआ, अर्थात् दया-युक्त वीरत्व का विकार चित्त में उत्पन्न हुआ। इसी प्रभाव को हम रस कहते हैं, जो कारण, कार्य और सहायक सामग्री द्वारा स्थिर होकर परिपूर्ण होता है। उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा भली भाँति समझ में आ सक्ता है कि मनोभाव के विकार हो रस कहलाते हैं। चाहे वह भाव सुख को प्रगट करें—चाहे दुःख का दिग्दर्शन करावें। चाहे दया का संचार करें—चाहे वीरत्व की छटा दिखावें। चाहे उनसे मय का अनुभव हो और चाहे वह शान्ति का परिचय करावें, अन्ततः वही ‘लोकोत्तर आनन्द’ की पदवी पर उपस्थित होकर रस-तन्त्रा प्राप्त करेंगे। इसको अन्य प्रकार से यो भी कह सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी काव्य द्वारा स्वयं आनन्दित होकर पुनः उसे सुनाकर अन्य लोगों को प्रसन्न करता अथवा अपने हृद्गत आनन्द की तरल-तरङ्गों के झरोखे से दूसरों के हृदय-कगारों को हिला-हिलाकर उन सब को भी आनन्दित करता है, और उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखा देता है—यहाँ तक कि समस्त मटली उस काव्य से प्रभावित होकर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करती है, तो उसी आनन्द अथवा प्रभाव का नाम रस है।

२-रस और काव्य का सम्बन्ध

‘काव्य’ शब्द की व्युत्पत्ति



वर्च कथन से यह भली भाँति स्पष्ट होगया कि रस क्या है। अथ श्राव्य्यता इस बात की है कि रस और काव्य के सम्बन्ध में और समझ लें। इसके लिए यह उचित प्रतीत होता है कि प्रथम हम इस बात पर विचार करें कि काव्य क्या वस्तु है, और उसके विषय में विद्वानों का क्या मत है? शब्द-शास्त्र पारीण विद्वज्जन ‘काव्य’ शब्द की व्युत्पत्ति “कुड्” धातु से जिसका अर्थ ‘शब्द’ है, बतलाते हैं। इसी “कुड्” से कवि बना है, जिसका पूर्ण अर्थ “शब्दों के नियमानुसार रचने-वाला है”। शब्द भी दो प्रकार के हैं—(१) ध्वन्यात्मक (२) वर्णात्मक। प्रथम से पशु-पक्षी और वाद्यादि के शब्दों का बोध होता है और द्वितीय से मनुष्य के मुख से निकले हुए शब्दों का। उक्त दोनों प्रकार के शब्द भी रमणीय और अरमणीय दो प्रकार के होते हैं। वस वर्णात्मक रमणीय शब्दों को नियमानुसार रचने का ही “कवि” नाम से पुकारने हैं और उसके

संस्कृत के विद्वानों द्वारा कथित काव्य के लक्षण

“तद्दोषो शब्दार्थो सगुणानलङ्कृती पुन कवि” ।

—काव्य-प्रकाश (मम्मट मट्ट रुत)

अर्थात्—शब्द और अर्थों का निर्दोष और गुण-युक्त होना तथा अलंकारों का कहीं होना और कहीं न होना काव्य का लक्षण है ।

“गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थो नैवमजितौ” ।

—प्रताप-रुद्र-ग्रन्थ (विश्वनाथ)

अर्थात्—गुण और अलंकारयुक्त निर्दोष शब्दार्थों को काव्य कहते हैं ।

“निर्दोष गुणान् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसात्मक कवि कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च निदति” ॥

—सरस्वती-कण्ठाभरण (महाराज भोज)

अर्थात्—जो वाक्य निर्दोष, गुण और अलंकार सहित रसात्मक हो, उसे काव्य कहते हैं ।

“निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता ।

सालङ्काररसानेकवृत्तिनाक् काव्यनाममाक् ” ।

—चन्द्रालोक (जयदेव)

अर्थात्—जो वाक्य निर्दोष, लक्षणवती रीति, गुण और रस सहित हो, उसे काव्य कहते हैं ।

“मायुशब्दार्थतम - गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपत - काव्यं कुर्वत कीर्तये” ॥

—वाग्भट

अर्थात्—जो शब्द और अर्थ सरल हों—गुण, अलङ्कार, रीति और रस-सहित हों—वह काव्य है ।

“यशो सगुणो सालङ्कारा य शर्था काव्यम् ।

—काव्यालङ्कार (वामनजी)

अर्थात्—दोष-रहित, गुण और अलङ्कार सहित शब्दों को काव्य कहते हैं ।

“इष्टार्थ-यन्त्रिणा पदारत्ना” ।

—काव्यादर्श (दंडी)

अर्थात्—इष्टार्थ को प्रकट करनेवाला अवच्छिन्न पद-समूह काव्य कहलाता है ।

“रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्” ।

—रस गंगाधर (पटिनराज जगन्नाथ)

अर्थात्—रमणीय अर्थ का प्रकट करनेवाला शब्द काव्य है ।

“रसात्मक वाक्य काव्यम् ।

—साहित्य दर्पण (विश्वनाथ)

अर्थात्—जिस वाक्य से लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो, उस वाक्य को काव्य कहते हैं ।

उपर्युक्त नौ लक्षण संस्कृत के नौ महान् पंडितों द्वारा निर्मित किये गये प्रयोगों से एकत्रित किये गये हैं । यह लक्षण

श्रव्य-काव्य के हैं। काव्य के दो भेद हैं—(१) श्रव्य काव्य, (२) दृश्य काव्य श्रव्य। काव्य गद्य अथवा पद्य द्वारा किसी विशेष वर्णन को इस प्रकार वर्णन करने को कहेंगे, जिससे श्रोता पर गहरा प्रभाव पड़े। कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण इसी भेद के हैं। दृश्य-काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके दृढ़गत आशय और हाव-भाव-सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। दृश्य काव्य का जो लक्षण इस विषय (शास्त्र) के मुख्य प्रवर्तक भरत मुनिजी ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है उसमें उस विषय के शास्त्रा प्रमाण-स्वरूप मानने हैं। वह लक्षण इस प्रकार है —

“मृदुललितपदाद्य गूढ शश्वर्थहीन,
जनपदमुराबोध्य युक्तिमन्मृत्युयोज्यम् ।
षडुत्तरसमाग सधिमन्वानयुक्तम्,
स भवति शुभकाव्य नाटकमनकाणाम्” ।

नाटक में क्या-क्या गुण होने चाहिए, कवि-कुल-निलक भवभूति इस विषय में स्वरचित मालती-माधव नाटक की प्रस्तावना में कहते हैं —

भस्मा रमाना गहना प्रयोगा,
सौहादंस्थानि विचेष्टितानि ।

श्रोद्धत्यमापोजितकामसूत्र,
चित्रा कथा वाचि विश्रुता च ॥

रसों की अधिकता से गम्भीर अभिनय, पात्रों के चरित्र प्रीति से युक्त और श्रोद्धत्य चंचलतादि काम के निमित्त हो—
कथाएँ आश्चर्यजनक हों तथा वाणी में चातुर्य हो।

उपर्युक्त श्रव्य काव्य के नौ लक्षणों में से अत के दो को नष्टरुत भाषा के परिणत विगेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों ने भी उन्हीं माननीय विद्वानों का पदानुसरण किया है। और यह है भी उचित, क्योंकि जेप लक्षणों में कहीं-कहीं तो कोई नियम ही स्थिर नहीं होता। जैसे प्रथम लक्षण में। कहीं लक्षण इतना लघुचिन्त कर दिया गया है जो सर्वथा अहितकर है। जैसे दूसरे लक्षण में कहा गया है कि कविता में कोई-दोष न हो, यह असम्भव है। नसार में केवल ईश्वर ही निर्दोष है। कुछ लक्षणों में रस के साथ अलंकारादि बाह्यात्म्य का व्यर्थ समावेश कर दिया है। यह बात आवश्यक है कि रूप, योगन-सम्पन्ना गुणवती स्त्री यदि भूषणादि से सुसज्जित कर दी जाय, तो वह सोने में सुगन्ध के समान होगी। पर माननीय और आदरणीय उसके गुण ही होंगे, अन्य श्रव्य रंगादि गोण ही रहेंगे। इसी प्रकार तीसरे लक्षण से लेकर छठवें लक्षण तक काव्य में प्रसादादि गुणों, अलंकारों, शब्दार्थ की सरलता और निर्दोषिता को सन्निवेशित करने के अर्थ हो समय नष्ट किया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो रसात्मक वाक्य में सब बात का समावेश हो ही जावेगा। इसी प्रकार सातवें लक्षण में दृष्ट का अर्थ इच्छा लिया गया है। कवि जो अवच्छिन्न पद-समूह अपने इच्छित भावानुसृत वर्णित करे, तो वह काव्य हो जाता है। परन्तु यहाँ सदासद की नितात विवेचना नहीं,

अतः अमान्य है। आठवे तथा नवें लक्षण इन दोनों में सर्वथा मुक्त हैं, अतः मान्य है। इन दोनों लक्षणों में कुछ विशेष अन्तर नहीं है, केवल 'शब्द' के स्थान में 'वाक्य' रखने से काम चल सकता है और दोनों लक्षण एक हो सकते हैं। यदि "शब्द" ही बना रहे तो हमारे मूल सिद्धान्त में कोई बाधा भी नहीं पड़ती, क्योंकि नवें सिद्धान्त में जो 'वाक्य' शब्द आया है वह एकवचन है। काव्य से "वाक्य समूह" की समशीलता का तात्पर्य है, अतः बहुवचन का कार्य एकवचन से ही सम्पादन किया गया है। इसी प्रकार पंडितराज जगन्नाथजी का "शब्द" भी बहुवचन का द्योतक हो सकता है। शब्द-समूह को ही हम वाक्य कहते हैं, अतः दोनों लक्षण एक ही अर्थ की पुष्टि करने के कारण एक ही रहे जा सकते हैं। चावू जगन्नाथप्रसाद "मानु" ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्य-प्रभाकर में 'रसात्मक वाक्य काव्य' को ही प्रधानता दी है। मराठी लेख माला के प्रसिद्ध लेखक और संस्कृत-साहित्य के महान् परिष्ठित चिपलूणकर शास्त्री ने अपने एक निबन्ध में "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" को ही काव्य का लक्षण स्वीकार किया है। सेठ कन्हैयालालजी गोदर-रचित "अलंकार-प्रकाश"—नामक ग्रंथ में भी काव्य का लक्षण इसी प्रकार दिया हुआ है —"रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं"। इसकी टीका में 'रमणीय' शब्द का अर्थ "अलौकिक आनन्द अथवा आह्लादगत चमत्कार" हो लिया है। हिन्दी भाषा के निस्स्वार्थ सेवी, प्रसिद्ध समालोचक, निबन्धु महाशयों ने अपने "विनोद"—(हिन्दी भाषा का

अद्वितीय इतिहास) में, भूमिका के प्रसङ्ग में, काव्य के लक्षण का विवेचन करते हुए विश्वनाथजी के ही मत को प्रधानता दी है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय प० सुधाकर द्विवेदीजी ने प्रथम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में अपने हिन्दी साहित्य-सम्यन्धी निम्न में मम्मट के मत को न मानकर विश्वनाथजी के ही मत को प्रधानता दी है। प० गंगाप्रसादजी अग्नि-होत्रो, पञ्चम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की नियन्ध-माला के "हिन्दी-कविता किस ढंग की हो"—नामक लेख में पंडितराज जगन्नाथ के मत को स्वीकार करते हैं, जिसे हम अभी ऊपर विश्वनाथजी के लक्षण के साथ ही मिला चुके हैं। अतः बहुमतानुसार यही लक्षण मान्य है। इसी प्रकार दृश्यकाव्य के दोनों लक्षण भी काव्य में रसों को प्रधानता देते हैं।

हिन्दी-कवियों की काव्य-विषयक दो-एक सम्मतियाँ

‘भ्रपण भूषित, दूषण हीन प्रणीत महा रस म र्त्रि अइ ।

पूरी अनेक पादस्थ त जिहि म परमारथ स्वारथ पाई ॥

ओ उरती श्रुती उलही करि ताप अनाप भरी चतुगई ।

हानि सबे मुय की जनिता वनिआगत यों वनिता कनिनाइ ॥”

—सुधानिधि (तोप रवि)

हिन्दी-काव्य में नवरस

“स अनुकूल गुण जाम धुनि मलकत

नाहा जनिभगहे, रचिर अति अद गति ।

जाको पान करत नञ् कनिसुधा कोन,

कामिनी अवर मधुमापुरी यो ना रचति ॥

जो पे ऐसे रचान की रचना करि जाने तौ,

निश्च सुख भूपन का रचित कहि पेटे पति ।

नारि तो सभा में यात्र आगे सुकजिन के तू,

आपने बलुप से करेजे सो निकासे मति” ॥

—चटन कवि

कति शुगति करि उपमा निचारि चार, तुफ निरधागि शुभ अनरन कीजिये ।

दृढमन्त्र करि अरथ अनूप वरि, तमक जडाउ जड शोध शुद्ध लीजिये ।

तत ललित पद लेहे निशनाथ कहै, यहै कनिरीति रीकि रीकि रसपीजिये ।

न उगयक बलायक समान दान, गाहक निना कपित नाहक न दीजिये ।

—विश्वनाथ

कति अनूठी आनै ललित नयीन पद, आयर जमावे आछि अमल सुदार में ।

ध अनूप रूप रस रसनाये पर, नाद ना बनाये निश्च विविज निचार मे ।

त गुलाल छन्द आभरण गार ओर, अति रसभारै पतिननिता निहार म ।

कहि आनै ओ कोहे प गहि आनै बेगि, सो कनि कहाने छवि पावे दरबार में ।

—गुलाल कवि

धम गणगण ओ रूजे गण मित्रमित्र अनुप्रास, वर्ण बल, दृष्ट चहियतु ह ।

हाव भाव केनि करणा कटाव व्यग, अलकार नायिका को भेद लहियतुहे ।

ल को मजन ओ भेषभेज अन्वय को, यमक मिलाय शुभ अन्द गहियतु ह ।

ण न आने, न अपण सरस जामे, ये ता नित होय तो कपित कहियतु ह ।

—अज्ञातनामा कवि

‘मोहिनि कैंसी मनोहर माल गुहे तुव अनर रीझि रिझाये ।
 प्रेम को पथ, क्या हरि नाम की, उक्ति अनूठी उनाय सुनावे ।
 ‘ठाकुर’ सो कवि भाव हमें जोद भारी सभा में उडधन पावै ।
 पठित ग्रोर प्रसीनाँ की जो चित्त हर सो कवित्त कहवै” ।

—ठाकुर

उपर्युक्त पदों पर विचार करने से नली भोंति ज्ञात हो सकता है कि कोटी मात्राश्र की गणना अथवा तुरुगन्दी कर लेना ही रुचिता नहीं है । क्या केवल छन्दोमयी वाणी ही काव्य-पद की जोतक हो सकती है ?—रूढ़ापी नहीं । जब तक लोकोत्तर-आनन्द प्रदायिनी कोई अपूर्ण और अनूठी उक्ति ललित पदों द्वारा व्यक्त न की जाय, जब तक वह उक्ति अपूर्व प्रभावोत्पादक न हो, जब तक वह रचना कर्ण प्रिय, कोमल, कान्त एवं मनो-हारिणी न हो, जब तक उस रचना में अलंकार, छन्द विषेमादि गुणों द्वारा रस प्रगृहीत न कर दिया जाय, तब तक वह काव्य-पद पर विराजमान होने का साहस कदापि नहीं कर सकती । जिस काव्य में रसिमता नहीं पाई जाती, अथवा जो रचना रुचि-कर भाव प्रसूनों की गंध से सुगन्धित नहीं होती, वह काव्य तत्त्व पारगत प्रवीण पंडितों की सभा में कदापि आदरणीय नहीं हो सकती । जिस कविना में लोकोत्तर का अभाव होता है वह केवल पद के ही भरोसे अपना साम्राज्य उपस्थित नहीं कर सकती । केवल मीन, मृग, राजन, कमल, चन्द्र और केहरों आदि अलङ्कारोपयोगी सामग्री द्वारा ही कोई कवि नहीं बन

सकता । जब तक रचना में कोई चमत्कार न पाया जावेगा, तब तक वह कवि समाज में कविता-रूप में परिगणित कदापि न होगी । हाँ, शुष्क और नीरस होने के कारण रचयिता को हास्यास्पद अवश्य बनावेगी ।

इस उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यही निकला कि कविता का सर्वस्व एकमात्र सरस, सुगंध, एव अनूठी उक्ति ही है, और नाना प्रकार के छन्द, प्रबन्ध, अलङ्कारादि उसके बाह्य सौन्दर्य के सहायक तथा परिपोषक है । कहा भी है—
 “कवेरिदं काव्य, कवेर्भाव कविता” । अर्थात् कवियों से वर्णित रस-मय शब्द-समूह का नाम काव्य और कविता है । कविता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है । किसी मृत एव निधिल भाव में सजीवनी शक्ति का संचारकर उसे जीवित करना कविता का ही काम है । निस्सन्देह कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है, जो ईश्वर के अनुपम कृपा-औदार्य के फल स्वरूप हमें अनेक अद्भुत पदार्थों के साथ-साथ प्राप्त हुआ है । इससे हृदय-कलिका विकसित हो जाती है—चित्त तन्मय हो जाता है । भूपण के कवित्तों को ही सुनकर छत्रपति शिवाजी की नस-नस में विद्युत् का प्रवाह होकर आश्चर्य-जनक वीरता का प्रकाश हुआ था । जयपुर धरार्धाश्वर महाराज जयसिंह कविवर विहारी के एक दोहे को सुनकर ही अन्त-पुर से मन्त्रमुग्धवत् दरबार में दौड़े चले आये थे । कविता ही प्रवीणराय पानुगी ने सम्राट अकबर से अपने सतीन्व

की रक्षा की थी। पृथ्वीराज ने कविता द्वारा ही हिन्दू-पति महाराणा प्रताप का प्रणु रखवाकर उनके यश को ध्रुव किया था। कविता द्वारा ही श्रेय नाम की गंगरेजिन ने आलमकवि को बिना दामो का गुलाम बना लिया था। कविता के द्वारा ही कविवर केशवदासजी प्रेतयेनि से छूटे थे। कहाँ तक कहें, सत्सार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो कविता द्वारा सुलभ न हो। यही सोचकर का-यालद्वार में मम्मटजी लिखते हैं —

अथमनर्थापशम मममथया मत येनस्य ।

निरचितरचिरमुरस्तुतिरखिल लभते तेन कवि ॥

अर्थात्—अर्थ की प्राप्ति अनर्थ का विनाश और असाधारण सुख इत्यादि, अधिक क्या कहें, कवि की वाञ्छनीय सब वस्तुएँ देवताओं की रचिर स्तुति से प्राप्त होती हैं।” इतनी विवेचना से फल यही निकला कि कविता परम प्रयोजनीय वस्तु है, उसका राज्य सौदर्य है। इस सौदर्य द्वारा ही सत्सार में उसका अपूर्व आदर है। इसी सौदर्य को हम रस कहते हैं। इसी रस के द्वारा हम काव्य से महत्याकाङ्क्षाओं को प्राप्त करने हैं। बिना रस के हम किसी पर प्रभाव न डाल सकेंगे। और जब प्रभाव ही न डाल सकेंगे तो सत्सार के लिए आदर्श, शिक्षा और रचिर कार्य शैली ही क्या उपस्थित कर सकने हैं? आदर्श सृष्टि कवि का प्रधान उद्देश्य है। कविता वही है जिसके पढ़ने से पाशविम्भाव सम्पन्न मनुष्य भी अपने को

सकता । जब तक रचना में कोई चमत्कार न पाया जावेगा, तब तक वह कवि समाज में कविता-रूप में परिगणित कदापि न होगी । हाँ, शुष्क और नीरस होने के कारण रचयिता को हास्यास्पद अवश्य बनावेगी ।

इस उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यही निकला कि कविता का सर्वस्व एकमात्र सरस, सुगन्ध, एव अनूठी उक्ति ही है, और नाना प्रकार के छन्द, प्रबन्ध, अलङ्कारादि उसके बाह्य सौंदर्य के सहायक तथा परिपोषक हैं । कहा भी है—
 “कवेरिद् काव्य, कवेर्भाव कविता” । अर्थात् कवियों से वर्णित रस-मय शब्द-समूह का नाम काव्य और कविता है । कविता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है । किसी मृत एव शिथिल भाव में सजीवनी शक्ति का संचारकर उसे जीवित करना कविता का ही काम है । निस्सन्देह कविता एक स्पर्शीय पदार्थ है, जो ईश्वर के अनुपम रूपा-औदार्य के फल स्वरूप हमें अनेक अद्भुत पदार्थ के साथ-साथ प्राप्त हुआ है । इससे हृदय-कलिका विकसित हो जाती है—चित्त तन्मय हो जाता है । भूपण के कवित्तों को ही सुनकर छत्रपति शिवाजी की नसूनस में विद्युत् का प्रवाह होकर आश्चर्यजनक वीरता का प्रकाश हुआ था । जयपुर-धरार्धाश्वर महाराज जयसिंह कचिवर बिहारी के एक दोहे को सुनकर ही अन्त-पुर से मन्त्रमुग्धवत् दरवार में दौड़े चले आये थे । कविता द्वारा ही प्रतीकराय पातुरी ने सम्राट अकबर से अपने सतीत्व

की रक्षा की थी। पृथ्वीराज ने कविता द्वारा ही हिन्दू पति महाराणा प्रताप का प्रण रखवाकर उनके यश को ध्रुव किया था। कविता द्वारा ही शेख नाम की रंगरेजिन ने आलमकवि को बिना दामो का गुलाम बना लिया था। कविता के द्वारा ही कविहर केशवदासजी प्रेतयोनि से छूटे थे। कहाँ तक कहें, सत्सार का पेसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो कविता द्वारा सुलभ न हो। यही सोचकर का-यालद्वार में मम्मटजी लिखते हैं—

अर्थमनार्थम सममयना मत योनास्य ।

विरचितरचि। मुरस्तुतिरतिल लभते तदेव कवि ॥

अर्थात्—अर्थ की प्राप्ति, अनर्थ का विनाश और असाधारण सुख इत्यादि, अधिक क्या कहें, कवि की वाञ्छनीय सब वस्तुएं देवताओं की रुचिर स्तुति से प्राप्त होती हैं।" इतनी विवेचना से फल यही निकला कि कविता परम प्रयोजनीय वस्तु है, उसका राज्य सौंदर्य है। इस सौंदर्य द्वारा ही सत्सार में उसका अपूर्व आदर है। इसी सौंदर्य को हम रस कहते हैं। इसी रस के द्वारा हम काव्य से महत्याकाक्षाओं को प्राप्त करने हैं। बिना रस के हम किसी पर प्रभाव न डाल सकेंगे। और जब प्रभाव ही न डाल सकेंगे तो सत्सार के लिए आदर्श, शिक्षा और रुचिकर कार्य-जेली ही क्या उपस्थित कर सकेंगे ? आदर्श सृष्टि कवि का प्रधान उद्देश्य है। कविता यही है जिसके पढ़ने से पाशविश्रमाय सम्पन्न मनुष्य भी अपने को

मनुष्यत्व में परिवर्तित कर सके और पुनः मनुष्यत्व में देवत्व को स्थापित करदे। ऐसे ही काव्य को हम आदर्श काव्य कह सकते हैं। यह वही संजीवनी शक्ति है जिसके द्वारा कोई जाति श्रवणति के महान् गहरे तथा प्रगाढ़ा प्रकार-सयुक्त गूँत में गिरकर भी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकती है। कवि का कौशल इसीमें है कि वह सृष्टि को कुछ लाभ पहुँचावे, बिना किसी प्रकार का कष्ट सहन किये हुए ही उससे शिक्षा प्राप्त हो। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति काव्य-सृष्टि का केवल एक अङ्ग है। उसकी परिपुष्टि के लिए कवि-कौशल की आवश्यकता है, और यह कौशल कवि की अलौकिक काव्य-कल्पना है, इसी के द्वारा कवि सब कार्य सिद्ध कर सकता है। जिस प्रकार आदर्श सृष्टि के लिए काव्य की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य के लिए रस की आवश्यकता है। अतः रस ही प्रधान है और उससे काव्य का निगूढ सम्वन्ध है।

जिस कविता के विषय में इतनी विवेचना हो चुकी उसके ज्ञान की दृढता के लिए यह उचित समझ पड़ता है कि उसके कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाय।

काव्य के कुछ उदाहरण

उपर्युक्त वाद-विवाद द्वारा यह सिद्ध हो गया कि "जिस देश की जो भाषा हो उसी में कुछ विशेष अर्थ दिखलाने को—

जिसे उस देश के श्रोताओं को एक विशेष आनन्द प्राप्त हो—
काव्य कहते हैं” । कर्पूर-मजरी में लिखा है —

“अथ त्रिसेस कव्यो भासा जो भोदि सो भोद ।

अर्थात्—भाषा कुछ हो, उसमें अर्थ विशेष को काव्य कहते हैं ।

शब्द के विशेष अर्थ से श्रोताओं के कान को एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है । यही कारण है कि सुन्दर वचन को लोग कर्णामृत अथवा श्रवणामृत और उसके विरुद्ध उचन को कर्ण-
रुद्रु कहा करते हैं । विशेष अर्थ रखनेवाला चाहे गद्य हो, चाहे पद्य, उसी को काव्य कहेंगे ।

गद्य के उदाहरण

साधारण गद्य, जो विशेष अर्थ से वंचित है ।

आप कहाँ से आते हैं और आप का क्या नाम है ?
इसके बदले—

विशेषार्थ सूचक

“अनायि देशावतमस्तन्याद्य वसन्तमुक्तस्य दशा वनस्य ।

अव्याह्नपिन्नते जनेन सहाय्यदास सवेत तथा कृतार्था

अर्थात्—“श्रीमान्, आज आपने किस देश की दशा वसन्त-
मुक्त वन की सी की है, और आपके ससर्ग से कृतार्थ म मन्द
भाय^१ क्या आपका नाम सुनने का अधिकारी नहीं हूँ ?”

कहिये, इन वचनों को श्रवणकर कौन पापाण हृदय होगा,
जो उत्तर न देगा । इसका कारण केवल यही है कि वक्ता के
वाक्य साधारण धोल-चाल के शब्दों से कुछ विशेषता रखते हैं ।

गद्य-काव्य का दूसरा उदाहरण

साधारण थाल-चाल

“राजा दोपहर होगया । उठो, चलो, नहाओ” ।
इसी को—

काव्य में इस प्रकार कहेंगे—

“हे नाथ, दोपहर की गर्मी से जमीन गर्म होगई । वह अब
आपके स्नान से शरीर के गिरे हुए पानी को पीना चाहती है” ।
जैसा कि महाकवि कालिदास ने भी लिखा है—

“तत्रामालिप्य प्रणय कुपिता धातुरागे शिलाया—

मातमान ते चरणपतितं यावन्निद्रामि कर्तुम् ।

अन्त्रैस्तान्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,

कूर्त्स्नस्मिन्नपि न सहते सङ्गम नो हृतात ॥

—उत्तर मेघदूत श्लो० ४२

अपनी प्रणयनी के वियोग की ज्वालमालाओं से सतत यक्ष
मेघ-द्वारा उसे 'सदेशा' भेजता है कि मैं पत्थर की शिला पर
जिस समय, तेरी मूर्ति गेरू से लिखकर चाहता हूँ कि इस प्रेम-
कलह के कारण रुठो हुई अपनी प्रियतमा को पेर पड़कर मनाऊ,
मेरे ही आँसुओं की झड़ी लग जाने के कारण आँखें बन्द हो

जानी है । सो हे प्रिये । ऊँटोर दैव से मूर्ति में भी हमारा
मुहारा मिलना नहीं सहा जाता ।

(४)

आयातित्याति च परे ऋतु प्रमेण, मण् जातमत्र ऋतु युग्म मगत्वरन्तु ।
वीरणावीरधनलेनरिना नितान्त, वर्षाप्रिलोचन युगे हृदयेनिदाघ ॥”

—चस्तुपाल

अपने स्वामी वीरधपाल के मरने पर उसका भत्री, कवि
चस्तुपाल इस प्रकार दुःख प्रकाशन करता है—“और ऋतु में
तो यथाक्रम आती ही जाती रहती है, पर वीरधपाल के बिना
प्रत्येक दो ऋतु आगई है सो कभी जानेवाली हो नहीं—नेत्र-
युग्म में तो वर्षा सदा के लिए उपस्थित होगई है और हृदय में
निदा के लिए निदाघ ।

(५)

“काशाशुभा रिक्चपप्रमनोजप्रकृता, मोम्माससरतनृपुगनाशरम्या ।
आपवगालिरुचिग तनुगात्रप्रदि, प्राप्ताशग्नयधृतिरूपरम्या ॥”

—कालिदास

भावार्थ—नव विवाहिता वधू की तरह रमणीय रूपवाली
अरदऋतु आ गयी । काशके फूल इसकी पोशाक है । खिला हुआ
न मोहक कमल समूह इसका मुख है । उन्मत्त हमो का शब्द
सके नूपुरों की ध्वनि है । पड़े हुए धान के पेतों की शोभा
सके पतले गात की शोभा है ।

(६)

“हा हा रेपि स्फुटति हृदय ध्वसते देहबन्ध ।

शून्य मन्ये जगदभिरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ॥

सीदन्नन्य तमसि त्रिपुरे भञ्जती यान्तरात्मा ।

प्रियङ्गुमोह स्थगयति कथं मद भाग्य करोमि’ ॥

—भवभूति (उत्तर रामचरित)

सीताजी के वियोग से दुःखित रामचन्द्र जो कहते हैं—
हा देवि ! हृदय फटा जाता है, देहबन्ध (सन्धियाँ) टूट जाता है। संसार सूना है, हृदय में निरन्तर जला जाता हूँ। आत्मा कष्टित होकर अन्धकार में डूब रहा है। मोह घेरे लेता है। मैं अभागा क्या करूँ ?

(७)

यदि वाचर्चनीयतम एष किमपि भवतापृथा राता ।

शारिरयनिपति भिर्निर्मिलेरप्रमाननार्थमिह किं निमग्निते ॥

—माघ (शिशुपाल वध)

अर्थात्—“हे पाण्डवों ! यदि श्रीकृष्ण किसी प्रकार आप लोगों के पूज्य भी हैं तो फिर भला अपमान के लिए बुलाये हुए सम्पूर्ण पृथ्वी के राजाओं से क्या प्रयोजन ?”

उपर्युक्त उदाहरण, जो काव्य के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये हैं, प्रायः संस्कृत के सुविख्यात माननीय कवियों के मुँहों से ही उद्धृत हुए हैं। हिन्दी और संस्कृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्युक्त संस्कृत के भाव हिन्दी में भी आये हैं। उन महा-कवियों की भाव लहरों ने हिन्दी भाषा के कवियों द्वारा उक्त

भाषा को भी अपनाया है। अतः दो एक उदाहरण, नमूने के पर, उपस्थित कर दिये गये हैं। अब हिन्दी काव्य के कुछ उदाहरण नीचे अंकित करते हैं —

(१)

हुँवर कुँयनि फल भागिनि रहा । मया लाभ सन सादर लेहीं ॥
जाइ न रनि मनोहर जोगी । जो उपमा कहु कहँ सो धोरी ॥
राम सोय सुदर परझाहीं । जगमगाति मनि लम्भन माहीं ॥
मनहुँ मदन रति बरि बहु रचा । यदि राम रिगाह अनूपा ॥
रस लालसा सकुच न धोरी । प्रगट दूरत चेहारि नोरी ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

निखिल काव्य तरव मर्मज्ञ महात्मा तुलसीदासजी ने रामचन्द्र तथा सीताजी के विवाह के समय की भाँवरों का वर्णन किस मनोहरता तथा हृदय ग्राहकता के साथ किया है कि जिसको पढ़कर अलौकिक प्रेमाबुध में निरन्तर गीते लगाने पर भी मन तुष्टि नहीं होती। वह कहते हैं —

‘रामचन्द्र तथा सीता मनमोहनी भाँवरों दे रहे हैं। उनके दर्शनों से दर्शक अपनी आँखों को सुन्न देते हैं। उस सुन्दर जोड़ी का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी समता देन के लिए सम्पूर्ण उपमाएँ थोड़ी हैं। विवाह-मण्डप के लम्बों में जड़ी हुई मणियों में उनकी परछाँई से ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेव तथा रति इस उत्सव के देखने की लालसा से आये हैं। लालसा और सकोच दोनों का बाहुल्य होने के कारण कभी तो प्रकट हो जाते हैं, और कभी छिप जाते हैं।’

पाठक ! मणियों पर परछाई का पडना और हट जाना स्वाभाविक है, परन्तु कवि ने अपनी श्रृंखला-द्वारा केसा मनोहर रूप दिया है कि जिसको सुनकर एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

(२)

“मैया मोहि राज बहुत खिभाये।

मोमो कहत मोल को लीहों, तेहि जसुमति कब जाये ॥

कहा कहा यहि गिस के मारे, हो खेल नहि जात।

पुनि पुनि कहत कोन हे माता, को हे तुम्हरो तात ॥

गोरे नन्द, जसोदा गोरी, सुन कत श्याम गरीर।

खुट्की दे दे सत गाल सर, सिरें नेत बलरीर ॥

तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न लोके।

मोहन को सुख सिस-समेत लखि, जसुमति मन अति रीके ॥

सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई, जन्मत ही को धृत।

सूरस्याम मो गोवन की सी, है माता तू पूत ॥”

—सूरदास

उक्त कविता में भाव किस स्वाभाविकता और मरलना के साथ प्रदर्शित किये गये है, जिनको पढ़-सुनकर चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। बाल्यावस्था का मोलापन किस उत्तमता के साथ चित्रित किया गया है, साथही वात्सल्य के दिखाने में भी अपूर्व कौशल से काम लिया है और गोधन की मोगद खिलाकर तो मानो स्वाभाविकता की सीमा को दुर्गमित कर है।

(३)

कैई कहे कुलीन कुलीन अकुलीन कहे,

कैई कहे रकिनि कलकिनि कुनारी हो ।

कमो परलोक, नरलोक वरलोकन म,

लीन्हो मै अलोक लाक लोकन से न्यारी हो ।

तन जाहि मन जाहि, देन गुग्जन जाहि,

जीव क्यों न जाहि, टेक दरत न टांगी हो ।

वृक्षाननगारी धनगारी के झुहुट पर,

पीतपटगारी गहि श्रुति प गारी हो ॥

—देव (प्रे० च०)

उक्त छन्द में कवि ने प्रेमोन्मत्तता का क्या ही उत्तम चित्र
रखा है । स्वार्थ को तो उठाकर खूँटी पर लटका दिया है ।
किन्तु गम्भीरता के साथ प्रेम का वर्णन किया है कि देखते ही
मना है । यह प्रेम का बहुत ही उत्कृष्ट वर्णन है । इससे कवि
क प्रेम-सम्बन्धी विचार की प्रौढता का पता चलता है ।

(४)

धतरस लालच लाल की, झगली धरी लुकाय ।

सौह करे, भौहनि इसे, देन कह नहि जाय ॥

—विहारी (सतसई)

उक्त छन्द में पीयूषवर्षी विहारीलालजी ने मानव-प्रकृति
का क्या ही अच्छा चित्र रखा है । कम से कम घटे भर की
मातृभक्त का समावेश एक दोहे में हा कर दिया है । थोड़े
शब्दों में विशेष भावों का भरना कोई इनसे सीखे ।

(५)

कामिनि वन में, जामि चन्द में, गमिनि पायस मेघ-गद में ।

कांति दान में, सूरति ज्ञान में, प्रीति बड़ी सनमान में । ॥

“भूषण भूषण में तरनी, नलिनी नय धूप, देव प्रभा में ।

जालि चारु ओर जहान लमै हिंदुवान सुमा सिता में ॥

—भूषण

कवि ने क्या ही उत्तम उपमाएँ “सुमान सिता” के सादृश्य के लिए एकत्रित की हैं ।

(६)

हरि फर मदन, सफल दुमलदन,

सुदुर मदिमदल के कहत अगद मति ।

परम सुवास पुनि पीउव जिवास परि

पूदन प्रवास, वैसोदस नू-अफास गति ॥

पदन मदन वैसो श्री जू के सदन जहि

सोदर सुभोदर रिनस जू के भीत अति ।

सीता जू के सुल-सुपमा की उपमा के कहि,

कोमल न कमल, यमल न रजनिपति ॥

—केशवदास

कवि ने सीताजी के सुल की प्रशंसा में क्या ही उत्तम तुल्य कहा है !

(७)

आरं खेनि होरी घरे नवल किशोरी कहुँ,

गोरी गइ रंग में सुगधन भूषारै ह ।

वह पन्नाकर श्वन्त चलि, चौकी चलि

हृन्त के पारन तें फन्द गन् छोरे ह ॥

गौर की घमा सुज्जल दुनीचे शरि,

आ गीट उतारि सुकुमारि छप भारे ह ।

रन्तन अरु शरि, रनरि भइ सी चापि,

चाप पचाप के उरनि निचोर हे ॥

—पद्माकर

कवि ने क्या हो हृदय ग्राहिणी कविता की है । वास्तविकता का उल्लेख तो पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है । भीगे घन्नों को निचोड़ते समय का फोटो कवि ने क्याही सफाई के साथ पचाया है कि उसमें कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोटी । एकान्त में जाकर केशों से मुक्ताहार सुलभाने का वर्णन क्या ही स्वाभाविक है ?

रस और काव्य का सम्बन्ध

उपर्युक्त पद्यों के पठन से ज्ञात होगा कि अलौकिक आनन्द-रस के सम्बन्ध से ही उनको काव्य कहते हैं । यदि उनमें यह गुण न हो तो उन्हें काव्य कहने के लिए कोई उद्यम न होगा । प्रिय भावुकता के कविता हो क्या, चाहे जिसर भर के खटराग जोड़ लो, जब तक उसमें सरसता न हो तब तक वह कविता कदापि नहीं । गद्याङ्गमें उत्तम काव्य में सहायक अवश्य है, परन्तु आवश्यक नहीं । हमने यह माना कि जो कवि अलङ्कारादि को खोज खोजकर अपनी कविताओं में

भरते हैं वह परिश्रम तो अवश्य करते हैं, परन्तु रस का सामयिक अभाव होने के कारण कृत्रिम-कार्य नहीं होते। अलंकार वही उत्तम समझे जाते हैं जो भाव पूर्ण कविता के साथ आते हैं। बिना भाव को समझे-बूझे कविता करनेवालों की ठाकुर कवि ने खूबही धूल उड़ाई है। वह कहते हैं —

सौख लयो मीन मृग सजन कमल चन्द,

सौख लयो जस आ प्रताप को कहानो हे ।

सौख लयो कामरेनु कल्पवृक्ष चि तामणि

• सौख लयो मेर औ कुमेरु उर आनो हे ॥

‘ठाकुर’ कहत याकी बडी है कठिन रीति,

भूलकर याको नहीं बोगियत जानो हे ।

देल सो बनाय आय मेलत सभा के रीच,

लोगन कवित कीरो मेलकर जानो हे ॥

वास्तव में जिस कविता में कोई अनूठी उक्ति नहीं, जिस काव्य में कोई रस नहीं, वह काव्य मृत है।

इतने कथन से अब काव्य और रस का सम्बन्ध स्पष्ट हो गया और सिद्ध हो चुका कि जिस काव्य में रस नहीं वह काव्य काव्य ही नहीं। जिस शरीर में प्राण नहीं, वह शरीर ही किस काम का? जब तक शरीर में प्राण स्थित है, जब तक शरीर और आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थित है, तभी तक सम्बन्धी उससे प्रीति करते हैं तथा शत्रु वैर-भाव रखते हैं।

यह सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ त्यों ही उसे बाहर पटकने की

चिता हुई । इसी प्रकार नीरस कविता को भी उठाकर पढ़ने को जो नहीं चाहता । यही कारण है कि काव्य-तरवपारीण महानुभावों ने काव्य को शरीर से और रस को आत्मा से समता दी है । इसी प्रकार जिस पुष्प में गंध नहीं वह केवल कहने और देखने का ही पुष्प है । जिस अग्नि में तेज न होगा, भला उसे अग्नि-लंछा कौन देगा ? जिस जल में प्रवाह नहीं, उसे जल कौन कहेगा ? यस यदि हम इन्हीं सम्बन्धों को लेकर काव्य को पुष्प, अग्नि और जल कटिपत करे, तो रसको गंध, तेज और प्रवाह से समता देनी पड़ेगी । काव्य पत्र रथ है और इस उसके पहिये । कहिये, बिना पहियों के रथ कैसे चल सकता है ? सारांश यह कि यदि हम काव्य भवानी को रस-रुद्र के अर्द्धाङ्ग में विराजमान कटिपत करे तो किञ्चिन्मात्र श्रुत्युक्ति न होगी । महाकवि देवजी ने अपने रत्ने हुए उत्कृष्ट ग्रन्थ "काव्य-रसायन" में रस-निर्णय करते समय शब्द, काव्य और रस में निम्नलिखित सम्बन्ध दिया है —

काव्य-साग शब्दार्थ के, रस तेहि काव्य सुसाग ।

सो रस वगस्त भाव वस अलंकार अङ्गिकार ॥

ताते काव्य सुश्रुत्य रस, जाम दरसत भाव ।

अलंकार शब्दार्थ के, रुद्र अनेक सुभाष ॥

—देव (काव्य रसायन)

देवजी के मतानुसार यदि हम कविता को वृक्ष मानले, तो रस उसके फलों का रस होगा ।

साहित्य, संगीत, काव्य और रस का पारस्परिक सम्बन्ध

इससे प्रथम कि हम साहित्य, काव्य, संगीत और रस का पारस्परिक सम्बन्ध बतलावें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी परिभाषाओं पर विचार कर लें। काव्य और रस की परिभाषाओं पर पाँछे विचार किया जा चुका है, अब साहित्य और संगीत पर विचार करते हैं।

साहित्य शब्द का अर्थ बड़ा ही जटिल हो गया है। इसके अर्थ नाना प्रकार से किये जाते हैं। यही कारण है कि इसका अर्थ बतला देना तनिक कठिन हो गया है। लोग साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश और रस-संगोवर इत्यादि को तो साहित्य-ग्रन्थ कहते हैं, परन्तु रघुवश और कुमार-सम्भव को इस गणना में गन्तव्य नहीं समझते। वह उन्हें काव्य-संज्ञा प्रदान करते हैं। यद्यपि उपर्युक्त तीनों ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय एकही है और केवल साहित्य, काव्य और रस शब्द के संयोग-द्वारा उनका नामकरण किया गया है। इसका कारण यही है कि वे उक्त दोनों विषयों में भेद समझते हैं, पर वास्तविक बात यह है कि साहित्य शब्द रस, गुण, अलंकार, रीति इत्यादि के निर्णायक ग्रन्थ में एक प्रकार से रुढ़ि हो गया है। इसीसे पंडित लोग काव्य-ग्रन्थ को साहित्य-ग्रन्थ कहने में हिचकिचाते हैं। इसी प्रकार लोग केवल पद्य को काव्य कहते हैं, गद्य को नहीं। गद्य चाहे जितना भाव-और रस पूर्ण क्यों न हो, उनकी दृष्टि में वह काव्य नहीं,

और पद्य केवल चमत्कारिक गद्यावली ठाग हो उनसे इस महत् पद को प्राप्त कर लेना है। यह केवल भ्रम है। सच पूछिए तो साहित्य और काव्य एकही वस्तु है, केवल नाम-मात्र का अन्तर है। किसी भाषा में हो, किसी शैली में हो, चाहे गद्य में हो, और चाहे पद्य में हो, केवल रसवती रचना को ही साहित्य या काव्य कहने हैं।

'साहित्य' शब्द से—'व्यञ्ज' प्रत्यय कर्त्तव्य से—साहित्य' शब्द बना है। प्रकरणानुसार इस शब्द के कई अर्थ हैं। यथा—

(१) साहित्य मेलनम् । (२) परस्परमापेक्षायां तुल्य रूपाणां युगपदेक क्रियान्वयित्वं साहित्यम्—इति शब्दविशेष । (३) तुल्य वद्वेक क्रियान्वयित्वं बुद्धि विज्ञेय विषयित्वं वा साहित्यम्—इति शब्द शक्ति प्रकाशिका । (४) मनुष्यकृतश्लोकमयं ग्रन्थ विशेष साहित्यम्—इति शब्द कल्पद्रुम ।

साहित्य के इतने अर्थ होनेपर भी यथार्थतः निर्दोष शब्दार्थ, गुण, रस, अलङ्कार, रीति विधि विषय को ही साहित्य कहते हैं। इसका दूसरा नाम काव्य भी है। इसके ये दो भेद हैं—(१) लज्ज लक्षणात्मक (२) केवल लक्षणात्मक । पहले में साहित्य दर्पण आदि और दूसरे में रघुपथ इत्यादि हैं। एक अनुशासन है और दूसरा अनुशिष्ट। प्रतिदिन के व्यवहार में पहला 'साहित्य' शब्द से और दूसरा 'काव्य' शब्द से व्यवहृत जाता है। सामान्यतः 'साहित्य' शब्द का अर्थ होता है—साहित्यस्य भाव साहित्य। अर्थात्—साथ का जो भाव है वही साहित्य है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो रित

साथ वर्तमान है वह हुआ सहित। उसका जो भाव है वह हुआ साहित्य। अर्थात्—जो हमारे हितकर भाव है, वही है साहित्य। इस प्रकार काव्य, इतिहास, पुराण, भूगोल, विज्ञान इत्यादि सभी विषय साहित्य में परिगणित होंगे। अब साहित्य की व्याख्या पर विचार कीजिए। हम लोगों की आत्मा चिदानन्द-स्वरूप है। प्रीति, स्नेह, दया और भक्ति ही सात्विक भावों की अवस्थाएँ हैं। इन भावों के प्रकाशन में प्रकृत काव्य ही हमारा सहायक है। आत्मा से प्राणित जो कोषत्रयात्मक सूक्ष्म शरीर है उसमें हम श्रेष्ठ काव्यों के अनुशीलन द्वारा सद्भावों का समग्र कर सकते हैं। काव्य ही लोकोत्तरानन्द का दाता है। यद्यपि दर्शनादि शास्त्रों द्वारा हम ज्ञानोपायन कर सकते हैं, परन्तु आनन्द और सौन्दर्य के विशिष्ट साम्राज्य-पथ पर लेजानेवाला काव्य ही है। अतः दर्शनादि की गणना साहित्य में होते हुए भी प्रधानता काव्य को हो दी जावेगी। इस प्रकार साहित्य और काव्य मिलकर एक हो जावेंगे।

अब सङ्गीत पर थोड़ा सा प्रकाश और डालना है। अभी ऊपर हम कह आये हैं कि सभी हितकारी विषय साहित्य के अन्तर्गत हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार लोगो ने सङ्गीत को भी साहित्य मान लिया है, यद्यपि इस मत के विरुद्ध महाराज भट्ट हरिजी ने एक श्लोक द्वारा अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

“माहित्यं संगीतं कलाविहीनं सानात्पशुं पुच्छन्निपाणादीन् ।

तृणं च सादृशविहीनं तद्भाग्येयं पश्य पशूनाम् ॥

—सुभाषित०

तथापि यह अवश्य कहा जावेगा कि साहित्य और संगीत का मेल बहुत पुराना है। मानव-जाति का प्राचीनतम साहित्य भटार वेद स्वयं संगीत रूप में है। मीमांसकों ने अपने गूढ़ विचार प्रथित करते हुए शब्द को ब्रह्मत्व का पट्ट दिया है, क्योंकि शब्द परमात्मा की आद्यसृष्टि आकाश का गुण है, इस कारण अन्य तत्त्वों की अपेक्षा शब्द सबसे प्रथम तत्त्व के निकट का सम्बन्धी है। इसी कारण शब्द को शब्द ब्रह्म या नाद-ब्रह्म कहने की प्रथा चली। शब्द में ब्रह्म व्यापकता का गुण होने के कारण आदि शब्द-महोदधि रूप वेद की धेष्टना मानी जाती है, यहाँ तक कि संगीत को पञ्चमवेद कहा है।

जब किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करने के हेतु शब्दों का उपयोग मात्रा, गण इत्यादि के नियमों को छोड़कर किया जाता है तब उस शब्द-रचना को गद्य कहते हैं, और जब मात्रा, गण इत्यादि के अनुसार शब्द-प्रबन्ध होता है तब उसे पद्य कहते हैं। इसी प्रकार पङ्क्ति, श्लोक, गद्यार इत्यादि स्वरों के नियमों के अनुसार जब पद्य-रचना होती है उसे संगीत कहते हैं। उक्त तीनों शब्द रचनाओं में संगीत का गौरव अधिक है। इसका कारण यह है कि गद्य तथा पद्य की रचनाओं में सरलता के साथ-साथ भावुकता अथवा अर्थ बोधकता का होना प्रथम गुण है, शब्द रचना गौण रूप में देखी जाती है। सुन्दर शब्द होने पर भी यदि अर्थ हीन ह तो उनका कुछ भी आदर नहीं। परन्तु अर्थ बोधकता की प्रधानता न रखते हुए भी रेखल माधुर्य से

गुण से सुरीला गाना उस गीत में वर्णित रस को इतना सरस और आकर्षक बना लेता है कि मनुष्यों की तो कौन कहे, श्रवोध वालकों तथा पशु-पक्षियों तक को विमोहित कर लेता है। यथा—
 “मुनि वीणा की मधुग्ता, मारे जात कुरङ्ग”। सर्गीत में तल्लीनता का सर्वोपरि गुण इतनी अधिकता के साथ विद्यमान है कि ऋषि, मुनि, यती और योगियो तक को भगवद्भक्ति में उसका सहारा लेना पडा है। प्रभावशाली चक्रत्व के लिए पद्य और सर्गीत की आवश्यकता पडती ही है। यही कारण है कि हर मेला, दशहरा तथा उत्सव काव्य तथा संगीत के बिना फीका जान पडता है।

वस्तु उपर्युक्त कथन का भाव यह हुआ कि साहित्य और काव्य वास्तव में एक ही हैं। इसलिए साहित्य का रस के साथ वही सम्बन्ध है जो काव्य के साथ बताया जा चुका है। अथ यदि हम संगीत को भी उन्नी श्रेणी में रखें तब तो उसका भी रसों के साथ वही सम्बन्ध होगा जो काव्य के साथ है, और यदि इसके विरुद्ध भर्तृहरिजी के मतानुसार संगीत को साहित्य से पृथक् मान तब भी उसमें रस उतना ही आवश्यक है जितना पद्य के लिए। प्रथम तो संगीत स्वयं ही मधुर होता है, इसके साथ ही यदि उसमें सुबोध और सरस शब्दों का समावेश हो, तो क्या कहना है!—मणि-काञ्चन का साथ हो जायेगा।

वास्तव में यह गद्य, पद्य और सर्गीत मानो त्रिपथगा ह,
 “रस प्रवाहित होते रहते ह।

काव्य और रस का सम्बन्ध कब से है ?

इस बात के समझने के लिए कि काव्य और रस का सम्बन्ध कब से है, पहले यह विचारना उचित है कि काव्य के जन्म लेने का कारण क्या है, उसने कहाँ जन्म लिया और कविता की प्रभा का विकाश रुचि-हृदय पर कब पड़ा करता है ? ससार के विद्वानों में अनेक प्रकार के वाद-विवाद होने के पश्चात् यह निश्चय हो चुका है कि ससार की सम्पूर्ण भाषाओं में संस्कृत भाषा प्राचीनतम है, अतः उसका काव्य ही सबसे प्राचीन काव्य है। संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकिजी हैं। अतः उन महानुभाव के मुख से निकला हुआ सर्व-प्रथम काव्य ही प्राचीनतम माना जायगा और जिस दिन उक्त काव्य उद्भूत हुआ वही दिन काव्य का जन्म दिन कहा जायगा। अब यह और देखना है कि उक्त मुनि की प्रवृत्ति इधर किस प्रकार हुई।

प्रातः काल का समय था। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु का संचार हो रहा था। पुष्प खिलकर तपोभूमि की शोभा को द्विगुणित कर रहे थे। वटुक लोग बड़े आनन्द के साथ वेदों का पाठ कर रहे थे। अनेको पक्षी अपने कलरव से वन को गुंजायमान कर रहे थे। यज्ञ का पनित्र धुआँ गगन मंडल में फलकर दिग्गत का सुगन्धित कर रहा था। हिरण्यियाँ अपने बच्चा को साथ लिये स्वतंत्रता के साथ विचरण कर रही थी, और कभी-कभी अपनी भोली चिनचन से पथिकों के मन में प्रेम का संचार करती थी। पास

तमसा नदी अपने निर्मल नीर की छटा दिखाती हुई आनन्द के साथ प्रवाहित हो रही थी। मुनि-पत्नियाँ घड़ो से जल भर-भरकर ले जाती थी। छोटे-छोटे बालक अनेक चित्ताकर्षक खेलों की सृष्टि करके दर्शकों के चित्त पर एक अनुपम प्रभाव डाल रहे थे। ऐसे मनोहर समय में भगवान् वाल्मीकिजी इसी पवित्र भूमि से होकर विचर रहे थे। घायु से हिलकर वृक्ष पुष्पो की बरसा कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों ऋषि के स्वागत में हिल-हिलकर प्रेम प्रकाशन करते हुए पुष्पाञ्जलि दे रहे हैं। पशु-पक्षियों ने पारस्परिक वैर-भाव परित्यागकर प्रेम का संचार किया था। इस समय मुनि के दर्शनों की लालसा से सब कोई प्रसन्नता-पूर्वक उधर को चले आ रहे थे। मुनि इन सम्पूर्ण कार्यों का निरीक्षणकर एक असाधारण आनन्द का अनुभव कर रहे थे। इतने ही में सहसा एक कारुणिक ध्वनि सुनाई दी—एक हृदय-विदीर्णकारी चीत्कार ने वन भूमि को चारों ओर से गुँजा दिया। मुनि उस शब्द को सुनकर चौंक पड़े, निगाह फैलाकर देखा तो कुछ दूर पर एक क्रीच (पक्षी) बाण से बिँधा हुआ पड़ा था। उसने शरीर से अविश्रान्त रक्तधारा प्रवाहित हो रही थी और वह अपने जीवन की अंतिम लीला का अनुभव कर रहा था। उसकी प्रियतमा (मादा), अपने पर फैलाये हुए बड़ी करुणा से चीत्कार करती हुई गगन मंडल को अधीर कर रही थी। निकट ही एक

वर्णवाला निपाद, मात्तात् मृत्युरूप धारण किये हुए अप

रक्त नेत्रों द्वारा अपने लक्ष्य की सफलता सूचित करता हुआ प्रसन्नता-पूर्वक अपने शिकार की ओर टकटकी लगाये हुए देख रहा था। इस कारुणिक दृश्य को देखकर मुनि के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसको गुप्त न रख सके। तुरन्त ही उन्होंने निम्नलिखित शब्दों द्वारा निपाद के उस निन्द्य काम का विरोध किया, उसे धिक्कारा और साथ ही उस पक्षी के साथ यह सहानुभूति प्रकट की —

“मा निषा” प्रतिष्ठा स्वमगम शाश्वती समा ।

यत्प्राप्त मिथुनापममर्था काम मोहितम्” ॥

—वात्मीक (रा० बा०)

अर्थात्—निपाद । तू चिरकाल तक प्रतिष्ठा लाभ न कर सकेगा, क्योंकि तूने कौञ्च पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त हुए एक का बंध किया ।

पाठक ! इन्हीं शब्दमयी वाणी का नाम काव्य हुआ। इस प्रकार उस प्राकृतिक दृश्य द्वारा उत्पन्न हुए मनोविकार को मुनि ने बड़े अचम्भे के साथ अनुभव करके उसे लाभकारी समझ कार्य-रूप में परिणित किया, जिसके फल स्वरूप रामायण का प्रकाश हुआ ।

ऐसे ही प्रभावशाली दृश्यों द्वारा कवि की वाणी को कविता करने में सहायता मिलती है। जो कवि प्रथम स्वयं किसी प्रभाव से प्रभावित हो लेता है, वही अपनी वाणी-द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सक्ता है। जिसने उत्तमोत्तम प्राकृतिक दृश्य देखे हैं, जिसने अपने हृदय को प्रभावित किया है

वही दूसरों के हृदयों में अपने काव्य को स्थान दिला सकता है, अन्य की सामर्थ्य नहीं। जिस मनुष्य के हृदय पर जितने शीघ्र-शीघ्र नाना प्रकार के प्रभाव पड़ेंगे, उतनी ही गीघ्रता से वह कवि बनेगा। प्रभावोत्पादक अवसर मनुष्य को कवि बनाने के लिए बहुत ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। प्रायः बड़े-बड़े कवीश्वरों के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह इन्हीं अवसरों द्वारा उत्तम कवि बने हैं। नाना प्रकार के वन उपवनो की अनुपम शोभा मनुष्य को सौन्दर्योपासक बनाने में सहायक होती है। जो लोग इस सौन्दर्य के साम्राज्य में भ्रमण कर चुके हैं वह दूसरों को भी प्रेम पूजक बना सकते हैं। जिन्होंने सिंह, व्याघ्र, भेड़िये, भालू इत्यादि हिसक जन्तुओं की भयकरता का अनुभव किया है, वह दूसरों के हृदयों में भी अपने भयकर दृश्यों के वर्णन द्वारा भय का संचार करा सकते हैं। जिन्होंने उच्च से उच्च पर्वतों, उनकी कन्दराओं और अगम्य सागरों का निरीक्षण कर अपन को आश्चर्य-चकित किया है, वह दूसरों को भी अपने ऐसे दृश्यों के वर्णनों द्वारा चमत्कृत कर सकते हैं। जो लोग नित्यप्रति अमोद प्रमोद का अनुभव करते रहे हों, जिनको पारस्परिक प्रेम द्वारा अपने मनोरजन की सामग्री मिलती रही है, वही अपने वर्णनों द्वारा दूसरा का मनोरजन कर सकते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों के मनों में किन्हीं अनुपम धानों के द्वारा शान्ति प्राप्त हो चुकी है, वही दूसरों को अपने वाक्यविलास द्वारा शान्त कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि जिन लोकोत्तर आनन्द का विषय न कोई कवि बना और न बन सकता है। काव्य

के जन्मकाल से आज पर्यन्त लोकोत्तर आनन्द और काव्य का नैसर्गिक सम्बन्ध चला आता है और जब तक ससार में वह रहेगी तब तक यह सम्बन्ध भी अवश्य ही रहेगा।

उपर्युक्तविचार की मीमांसा करने पर यही पता चलेगा कि कविता देवी का शुभागमन एक मुनि के हृदय से, एक पक्षी की शाश्वतीय दशा द्वारा उत्पन्न हुए कारुणिक भाव की जागृति से हुआ है। यह करुणोत्पादक भाव क्या था ? इसी भाव को हम रस कहा दे सकते हैं। और, ऐसी अवस्था में हमें यह कहना पड़ेगा कि प्रथम उक्त महात्मा के हृदय में यदि उक्त पक्षी तथा व्याधा कारण स्वरूप उपस्थित न हुए होते, कार्य स्वरूप उस पक्षी का मृतक शरीर तथा सहायक उस पक्षी की प्रेम-जीड़ा तथा उसके शरीर से रक्त संचालन होते हुए देखकर यदि विषाद नामक मनोविकार उत्पन्न न हुआ होता तो दया का संचार कदापि न होता। इससे यही सिद्ध हुआ कि काव्य से प्रथम कारण, कार्य और सहायक रूप से रस की सामग्री उपस्थित होकर रस का संचार होता है और पुनः वही रस शब्दों (काव्य) के रूप में सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

इस प्रकार यह प्रतिपादित हुआ कि रस का और काव्य का सम्बन्ध उसी दिन से है जिस दिन काव्य का जन्म हुआ।

यहाँ तक रस और काव्य का सम्बन्ध दिखाया जा चुका, अब आगे हम रस की सामग्री पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

३-रस-सामग्री



सुख के सम्पूर्ण कार्य, कार्य-कारण न्याय के सम्यन्ध से सिद्ध होते हैं। अर्थात् जब वह किसी पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा करता है तभी उसके पाने का प्रयत्न भी करता है, अन्यथा नहीं। कल्पना कीजिये कि किसी मनुष्य को अग्नि की आवश्यकता है, तो उसे

इस वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रथम काष्ठ की आवश्यकता पड़ेगी। लकड़ियाँ पकृतित करलेने के पश्चात् वह उसको जलाने के लिए चुम्बक पत्थर अथवा दियासलाई की सज्ज करेगा, तब कहीं अपने मनोरथ में सफल होगा। इसी प्रकार प्यासा मनुष्य बिना लोटा-डोर लेकर कुएं पर जाये अपनी तृप्ति दूर नहीं कर सकता। ठीक यही अजस्था रसों की भी है। यदि कोई कवि चाहता है कि मेरा काव्य सरस हो तो उसको प्रथम रसोपयोगी सामग्री का एकत्रित करना आवश्यक होगा, बिना उसके रस की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि कविलोग प्रथम प्रकृति-निरीक्षण करते हैं, ससार के सुख दुःखों का अनुभव करने हैं और फिर इन कार्यों के फल स्वरूप हर्ष-शोकादि मनोविकारों का—जो उनके चित्त में प्राप्त हुए—वर्णन करते हैं। वस इन्हीं मनोविकारों को करनेवाली सामग्री को हम रस-सामग्री कहते हैं।

जिन प्रकार कारण, कार्य और उसके महाय समूह द्वारा अग्नि तथा जल की सिद्धि हुई, उसी प्रकार इन्हीं वस्तुओं से रस की सिद्धि होती है। जैसे यदि कोई मनुष्य निर्जन वन में भ्रमण कर रहा हो, मार्ग में अचानक उसे सिंह की गर्जना सुनाई दे तो मारे भय के उसका शरीर काँपने लगेगा, रागड़े खड़े हो जायेंगे और शरीर से पसीना निकलने लगेगा। अब विचार कीजिये कि भय नामक मनोविकार उत्पन्न होने के लिए 'सिंह की गर्जना' कारण-स्वरूप है और शरीर का कम्प, स्वेद और रोमाच इत्यादि की क्रिया उस मनोविकार के कार्य-रूप है। इसी प्रकार सिंह द्वारा मृत्यु का ध्यान होने से आस का संचार हुआ और इस प्रकार भय पुष्ट हुआ। इसी प्रकार यदि कोई किसी ने कुछ अनुचित बात कहे तो उन वाक्यों को श्रवण करते ही उसके चित्त में क्रोध नामक मनोविकार का आविर्भाव होगा। और उसके संयोग से शरीर प्रकम्पित हो जायगा, नेत्र लाल हो जायेंगे, हाँठ फड़कने लगेंगे और सम्भव है कि वह अपने प्रतिद्वन्दी से इस अनुचित व्यवहार का बदला लेने के लिए भी उद्यत हो। इस उदाहरण में "अनुचित वक्ता तथा उसके अनुचित वचन" कारण स्वरूप है और शरीर का कम्प, हाँठों का फड़कना इत्यादि क्रियाएँ उस मनोविकार के कार्य-स्वरूप हैं। इसी प्रकार जिस मनुष्य के चित्त में क्रोध नामक मनोविकार उत्पन्न हुआ है उसका उस कठोर वचन बोलनेवाले ने यदि पहले कभी कोई अपकार किया होगा और उसका भी उसे स्मरण हो आवेगा तो वह स्मरण उस मनोविकार को और भी

जाज्वल्यमान करेगा। अभिप्राय यह है कि यह स्मरण रूप अन्य मनोविकार क्रोधनाम मुख्य मनोविकार की सहायता करता है। इसी प्रकार से हर्ष, शोक इत्यादि अन्याय मनोविकारों के कारण, कार्य और सहायियों को उनकी घटनाओं के अनुरूप समझ लेना चाहिए। इन कारणों, कार्यों और सहायकों के नाम क्रम से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी या सचारी हैं।

प्रधान मनोविकार को स्थाई भाव, उसके कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सहायी मनोविकार को सचारी भाव कहते हैं। अब हम नीचे एक उदाहरण देकर इन चारों अंशों को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

कल्पना कीजिए कि किसी स्त्री को अपने पति से प्रगाढ़ प्रेम है, तो वह पुरुष उस प्रेम का आधार होगा। यदि वह पुरुष अपनी पत्नी के पास उपस्थित हो, सयोग से एकान्त स्थल हो, शरदऋतु की चन्द्रिका छट्क रही हो, पास ही में इत्र फुलेलादि सुगंधित पदार्थों का संयोग हो, तो इन संयोगी पदार्थों द्वारा वह प्रेम और भी भड़कने लगेगा। इसलिये यह पदार्थ 'उद्दीपन' हुए और इन्हीं प्रलम्बन और उद्दीपन कारणों से वह प्रेम उत्पन्न हुआ है, इसलिए यही विभाव है। इनके द्वारा कार्यरूप जिस प्रेम की स्थिति हुई है, उसका नाम रति है, और यही रस का मूल रूप है। इसको 'स्थायीभाव' कहते हैं। इस प्रकार प्रेम या रति उत्पन्न होने से उसके कार्यों का अनुभव होने लगेगा। पारस्परिक कटाक्ष, भुजानेप इत्यादि ऐसे कार्य हैं जो उस प्रेम की प्रतीति कराते हैं। इन्हीं कार्यों को 'अनुभाव'

कहते हैं। अब केवल उस रस की पुष्टता की आवश्यकता रही, सो उत्कण्ठा इत्यादि के द्वारा परिपूर्ण हुई। यही पुष्ट करनेवाली वस्तुएँ 'संचारो', 'व्यभिचारी' या 'सहकारो' भाव कहलाती हैं। यस इन कारणों, कार्यों और सहायको के सम्मेलन से रतिभाव स्पष्टतया प्रकट होने लगा और वह अब रस कहलाने के योग्य हुआ। यहाँ पर यदि हम नायिका नायक द्विष्ट स्त्री-पुरुषों को कटिपत करले तो लोग इस बात की शका कर सकते हैं कि उक्त कारणों और कार्यों रस सामग्री द्वारा उत्पन्न हुआ रस उन्हीं में स्थित होना चाहिए, जो वास्तविक नायिका तथा नायक हैं। फिर नाटक इत्यादि के पात्रों में उनका मिथ्या आरोप हमको सुखकर क्यों होता है? इसका उत्तर यही है कि प्यासा जीव जब जल पाने का प्रयत्न करते-करते मृगतृष्णा को देखता है तो उसी को जल मानकर, उसी तरफ को प्रयाण-कर, पानी के शीघ्र ही प्राप्त होने का आनन्द अनुभव करता है, पर वास्तव में वहाँ जल नहीं होता। ऐसे ही कभी-कभी मार्ग में पड़ी हुई गड़बड़ से हमें सर्प का भ्रम होने के कारण सहना भय का अनुभव होता है, और शरीर कम्पन आदि भय सूचक प्रक्रियाएँ प्रदर्शित होने लगती हैं, पर वास्तव में वहाँ सर्प नहीं रस्सी ही होती है। इसी प्रकार नाटकों के पात्र वास्तविक नायिका, नायक न होते हुए भी अपनी चतुरता के कारण अपने में रति-प्रतीत करा दर्शकों के हृदयों में चमत्कार उत्पन्न करा देते हैं। ऐसा चमत्कार भी रस ही है।

अभी ऊपर हमने वर्णन किया है कि रस उस समय उत्पन्न होता है जब विभाव इत्यादि के द्वारा स्थायीभाव प्रकट होता है। इसका अभिप्राय यह है कि नाटकों के दर्शकों तथा काव्य के पाठकों को जब स्थायीभावादि के समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती तभी वह रस कहा जाता है। नाटक तथा काव्य में जिस नायक का वर्णन किया जाता है, उसमें रत्यादिक भावों प्रथम से ही सिद्ध होते हैं, परन्तु जब तक दर्शक तथा पाठक के हृदय में सरलता-पूर्वक उनका ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसके लिए वह रस-सहाधारी कदापि नहीं हो सकते। रस का अस्तित्व उसी समय समझा जायगा जब उसका आस्वादन हो, और जब दर्शको तथा पाठको का चित्त सम्पूर्ण विचारों का परित्याग कर केवल उसी आनन्द में तल्लीन हो जाय। पीछे हम इस बात का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि अलौकिक आनन्द तथा रस में सम्पूर्ण आनन्द (हास, शोक, भय) इत्यादि सम्मिलित है। अब यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या रस सदैव सुख का ही अनुभव कराता है?—इसके उत्तर में हमें यही कहना पड़ेगा कि हाँ, यदि ऐसा न होता तो लोग ऐसे नाटक अथवा लीलाएँ जो जुगुप्सा की परिपोषक होती हैं कदापि न देखते, क्योंकि सम्पूर्ण ससार का नियम है कि जिस कार्य में सुख होता है उसे लोग करते हैं, और जहाँ दुःख की सम्भावना होती है वहाँ रुकते नहीं होते। शोक, हर्ष, भय, क्रोध इत्यादि के लौकिक कारणों से लौकिक शोक, हर्ष, भय

और क्रोध होता है, परन्तु काव्य में उन्हीं के साथ अलौकिक विशेषण प्रयुक्त किया जाता है। अतएव उसे हम अलौकिक भावों से उत्पन्न होने के कारण सुख ही मानगे। सीताराम के वनवास, हरिश्चन्द्र के दृढव्रत और प्रह्लाद के सत्याग्रह इत्यादि के वर्णन काव्यों में इस भावुकता के साथ वर्णन किए गये हैं कि उनको पढ़कर अविभ्रान्त अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, और यदि यही वर्णन नाटकों के पात्रों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं तब तो उनका कहना ही नया है। वास्तव में बात यह है कि रसास्वादन के लिए दर्शकों तथा पाठकों की वासना परमावश्यक है। इस वासना के डाल ही यह फल प्राप्त होता है कि उपस्थित जनता अपने तथा नायक के बीच कोई अन्तर नहीं समझती। यही सहानुभूति बढ़कर इस कक्षा तक पहुँच जाती है कि समाज को यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं और नायक एक ही हूँ अथवा अलग-अलग।

ऊपर हम यह वर्णन कर चुके हैं कि रसेत्पत्ति के लिए विभाव कारण है, अनुभाव कार्य है और संचारी भाव उत्तरे सहायक तथा पुष्टिकर्ता है। इसका अभिप्राय यह है कि विभावों के कारण स्थायीभाव इतने प्रबल हो जाते हैं कि विशेष रीति से उनका अनुभव होने लगता है। ऐसी योग्यता आ जाने पर उन्हीं रति आदि स्थायी भावों का ज्ञान रस-रूप से होता है। उस समय उसके जो लक्षण ज्ञात होने लगते हैं, उनका नाम अनुभाव है। संचारीभाव का काम उस रस को दृढ़ करना अथवा

आस्वाद-सुख को विस्तृत कर देना है, क्योंकि इन चारोंके द्वारा रसका बोध होता है। अतएव हम इनको रस-बोध का कारण कह सकते हैं। परन्तु यह कारण इस प्रकार नहीं है जिस प्रकार मरान का कारण ईद, पापाण, चूना, काष्ठ और लोहा होता है, क्योंकि ऐसी दशा में इन सब अगोंका ज्ञान पृथक्-पृथक् होता है। विभाव-कादिकोंका सम्मेलन उस पचामृत की तरह है जो दूध, दही, घृत, मधु और शर्करा के संयोगसे बनता है। इस प्रकार पचामृत को न तो हम दूध कह सकते हैं, और न दही इत्यादि की संज्ञा उसे दे सकते हैं। वह तो उक्त सब वस्तुओं का सम्मिश्रण है जो अपूर्व स्वाद का आस्वादन कराता है। इसी प्रकार विभावकादि का मेल भी एक अपूर्व रस का अनुभव कराता है। रस-पूर्ण होने के लिए इन सभी अगों की आवश्यकता होती है। परन्तु कभी-कभी काव्य में दो अथवा एक ही भाव मिलता है। ऐसे स्थल पर गेय अङ्ग प्रसङ्ग वश समझ लिये जाते हैं। रस-निरूपण की ये मोटी-मोटी बातें बतलाकर अब हम उसे उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

रेखि रूप लोचन लज्जाने । हरये जनु निज निधि पहिचाने ।
 येके नयन रघुपति-द्विषी । पनका हूँ पहिरी निमेषी ।
 अग्रिक सनेह देह भइ भोरी । सर सनिहि जनु चित्त चकोरी ।
 लोचन मगु रामहि उर आनी । की हे पलक कषाट सयागी ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उपर्युक्त चोपाइयाँ उस समय की हैं जब सीताजी ने प्रथम ही रामचन्द्रजी को जनक की पुष्पगण्डिका में देखा, जहाँ सहेलियों के साथ देवी को पूजने गई थीं।

ही सीताजी का मन रामचन्द्रजी के रूप पर मोहित हो गया। अब हम इस उदाहरण पर विचार करते हैं।

प्र० १—लोचन क्यों ललचाने ? उ०—(नायक गम) रूप देखि ललचाने। प्र० २—(सीता के) नयन क्या थके ? उ०—रघु-पति छवि देखी। प्र० ३—तो यहाँ सीताजी के मोहित होने का कारण क्या है ? उ०—रामचन्द्रजी का रूप। अतएव रामचन्द्रजी (नायक) आलम्ब्यन्-विभाव हुए। प्र० ४—सीताजी के साथ रामचन्द्रजी के प्रेम को उद्दीप्त कौन करता है ? उ०—रामचन्द्रजी का रूप अथवा रामचन्द्रजी के वह अनुपम गुण जो सीताजी ने किमी भाँति पहले सुने थे और जो यहाँ वर्णित नहीं हैं। वस यही (रूप, गुण) उद्दीपन विभाव हुए। रामचन्द्रजी की छवि देखकर क्या कार्य उपस्थित हुए ? उ० (१)—लोचन ललचाने (हर्ष), (२) नयन धके, (३) पलकन हूँ परिहरी निमेषी, (४) अधिक सनेह देह भर भोगी। इन सम्पूर्ण कार्यों की सहायता से कौन प्रधान कार्य सिद्ध हुआ ? उ०—सीताजी के हृदय में रामचन्द्रजी का अनुराग (रति)। प्र०—इसका अनुभव हमको किस प्रकार हुआ ? उ०—सीताजी के इस कायिक कार्य द्वारा—
“लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।”

उपर्युक्त वाक्यों द्वारा सीताजी के प्रेम का अनुभव हुआ। अतएव यह “अनुभाव” और नयनादि का चकित होना, देह का भोग होना अर्थात् स्तम्भ, मोह और जडता इत्यादि जो उक्त अनुभव के सहायक हैं, न दृढ़ या विस्तृत करते हैं, सचारी

या व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसी का नाम रति है। यही स्थायीभाव है।

दूसरा उदाहरण

लड़ी गेल्या वहीं पर रो रही थी। फटी दो टुक छाती हो गयी थी।
कलेजा दाय। मुह को आरहा वा। भग था दर्द गह, तडपा रहा था।
“बुढ़ा पग्यार प्राणधार छूटे। गेह तुम एक कुल आधार छूटे।
तुम्हारा देखकर सुल जो रही थी। नहीं तो कौन था सुल, जो रही थी।
बुढ़ा मय कुछ छूटे हा। लाल तुम भी। लुदा सन कुछ छूटे हा। लाल तुम भी।
अरे यह है कहाँ पर सर्प बसता। मुझे भी क्या नहीं है नीच बसता।
लगाय लाल को छाती चलूँ मैं। लिये यह साथ ही जाती चलूँ मैं।
निसै मैं जान ही सा जानती थी। जिसे मे देखकर सुल मानती थी।
कहाँ है दाय। अरन यह प्राण मेरा। निरागा मैं त्रिपद मैं प्राण मेरा।
फटो हो चल दिये तुम दाय। छोना। लिलाऊंगी किसे मेरे पिना।
किसी को दुल नहीं मने दिया हे। नहीं निज गीत पर पातक लिखा हे।
रहा हे धर्म पर निश्वास मेरा। हुआ क्यों दाय सत्यानाश मेरा।
विधाता। दाय क्या यह पुण्य फल हे। जगत में नामता तेरी प्रमल ह।
हृदय-धन-प्राणपति पद-पद्म छूटे। छुटी स्वामीनता सुल-सद छूटे।

—सनेही

उपर्युक्त पद्य को पढ़ते ही ज्ञात होता है कि इसमें शोक चीज रूप से स्थित है। इस शोक का कारण शैव्या के पुत्र (रोहिताश्व) का मरण है, अतः यह आलम्बन विभाव है। यह दुःख घर के नष्ट होने, उपस्थित कष्टों के स्मरण इत्यादि द्वारा और भी उद्दीप्त होता है, इस हेतु यह उद्दीपन

विभाव है। बार-बार रोना हाय-हाय करना इत्यादि कार्य उक्त शोक का अनुभव कराते हैं, अतः यह अनुभाव है। विधाता की वामता, नैराश्य तथा भाग्य की निन्दा और पश्चात्तापादि द्वारा शोक स्थित हुआ है, इसलिए यह पश्चात्तापादि संचारीभाव और शोक स्थायी भाव है।

तीसरा उदाहरण

समस्त सपा मँग श्याम ज्यों कद । कलिन्द की नन्दिनि के सुख कसे ।
गडे किनारे जितने मनुष्य थे । सभी महाशक्ति भीत हा उठ ॥
हुए कई मूर्छित घोर रास से । कई भगे मेदिनि में गिर कइ ।
हुई यशोदा अतिही प्रकम्पिता । जनेग भी व्यस्त-समस्त हागये ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

यहाँ यशोदा युक्त सम्पूर्ण किनारे पर उपस्थित स्त्री-पुरुषों के कारण भय आलम्बित होता है, इसलिये यह सब आलम्बन विभाव हैं। सम्पूर्ण सपा के साथ श्याम का कलिन्दनन्दिनी के अंक से निकलना इस भय को उद्दीप्त करता है, अतः यह उद्दीपन विभाव है। इसी प्रकार उन लोगों को कम्प होना, मूर्च्छा आना इत्यादि जो इस शोक का अनुभव कराते हैं वे अनुभाव हैं, और रास संचारी भाव है। इन सम्पूर्ण कारण, कार्य और सहायक समूह द्वारा भय स्थिर हुआ है, अतः भय स्थायी भाव है।

ऊपर दो-तीन उदाहरण देकर रस सामग्री पर विचार किया जा चुका है। अब हम उही भावों का पृथक् पृथक् विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं, क्योंकि रसों की उत्पत्ति के आधार रूप

यहाँ पर कोई स्त्री अपने प्राण प्यारे के गुण तथा रूप का वर्णन कर उसके वियोग के कारण उत्पन्न हुए रोद को प्रकट कर रही है। अतः वह पुरुष आलम्बन हुआ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में आलम्बन विभाव क्रमशः स्त्री और पुरुष है। 'इनको काव्य-मर्मज्ञ चिद्वहारा ने नायिका तथा नायक की सङ्गात् प्रदान की है।

नायिका— जिस लावण्यवती को देखते ही हृदय-सागर प्रेम की तरङ्गों से तरङ्गित हो जावे, उसे नायिका कहते हैं।

यथा:—

रूपोद्यान प्रकुरलप्राय कलिका राकेन्दुनिम्बानना ।

तन्वगी फलदासिनी सुरसिका मीठा बला पुत्तली ।

शोभा चान्द्रिका, यमूय मणि सी, लावण्य-लीलामयी ।

श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदूरी माधुर्य सम्भूति थी ॥

—अयोध्यालिह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

यहाँ राधिका रानी नायिका है।

इन नायिकाओं के कितने ही प्रभेद हैं—यहाँ तक कि कई आचार्यों ने इनपर स्वतंत्र ग्रन्थ-रत्न लिखे हैं। परन्तु स्थानाभाव के कारण हम बहुत ही सूक्ष्म रीति से उनका दिग्दर्शन कराते हैं। इन नायिकाओं के प्रकृति के अनुसार ये तीन भेद हैं—(१) उत्तमा, (२) मध्यमा और (३) अधमा। स्वभावानुसार भी ये तीन ही भेद हैं—(१) अत्य-सुगति दुःखिता, (२) मानवती, और

(३) वक्रोक्ति-गर्विता । धर्मके अनुसार भी नायिका के ये तीनभेद हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया तथा (३) सामान्या (गणिका) । स्वकीया के, अवस्था के अनुसार, ये तीन भेद हैं—(१) मुग्धा, (२) मध्या तथा (३) प्रौढा । इसके पश्चात् दशा इत्यादि से कितने ही भेद कर डाले हैं, यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते नायिका-भेद की गणना ६२५२ तक पहुँचती है । सस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य इन्हीं नायिका भेदों के कारण बदनाम है । लोग कहते हैं कि हिन्दी में केवल नायिका-नायक के हाज, भाव, कटाक्ष, तथा भुजाक्षेप इत्यादि का वर्णन है । कहीं नायिका मान किये बैठी है और नायक उसके पैरों पर पड़ रहा है । कहीं नायिका के विछुओं की झनकाय नायक का मन खींचे फिरता है, इत्यादि । इसी प्रकार के अनेक आक्षेप किये जाते हैं, और वह किन्हीं अर्थों में हैं भी ठीक, क्योंकि इससे समाज को किसी विशेष लाभ के प्राप्त होने की संभावना नहीं है । हाँ, यह आशका है कि कहीं इसके विपरीत विलास न फैले । काव्य करने का मुख्य उद्देश यह है कि सहानुभूति, उपदेश और आदर्श द्वारा समाज को लाभ पहुँचाया जाय, परन्तु ज्ञात नहीं होता कि नायिका भेद इस उद्देश-पूर्ति में कहीं तक सहायक है । यह अनर्थ कहा जा सकता है कि वह विलासीजनों के मनोरंजन की सामग्री अवश्य है । लोग कह सकते हैं कि कवि का कार्य प्रकृति निरीक्षण है, उनमें स्त्री जाति के स्वभावादि से परिचित होकर समाज को उससे परिचित कराना भी तो कवि का काम है । यह ठीक है, परन्तु

इसका इतना विस्तार निरर्थक है। यहाँ हम उपर्युक्त थोड़े से नायिका-भेदों का वर्णन करते हैं जिससे इस विषय साधारणतया कुछ समझा जा सके।

प्रकृति के अनुसार

(१) उत्तमा—अपने प्राण प्यारे के शोष सुनकर भी जे रोष न करे।

(२) मध्यमा—जो अपने पति के अपराधों पर मान सम्मान दोनों करे।

(३) अधमा—जो अपने पति के हित करने पर भी अहित करे।

स्वभावानुसार

(१) अन्य सुरति दुःखिता—अन्य स्त्री के शरीर पर अपने प्यारे के रति-त्रिह देखकर जो स्त्री अपने दुःख प्रकट करे।

(२) मानवती—अपने पति का अपराध दिग्माने के लिए मान करनेवाली स्त्री को कहते हैं।

(३) वक्रोक्ति गचिता—जो अपने प्यारे के प्रेम व निज रूप का अभिमान करे।

वर्मानुसार

(१) स्वकीया—जो स्त्री मन, वचन तथा कर्म से अपने पति के प्रेम में लीन हो।

(२) परकीया—जो गुप्त रीति से पर-पुरुषानुरागिणी हो।

(३) सामान्या—जो केवल धन के लिए ही हित कर

अवस्था के अनुसार स्वकीया के भेद

(१) मुग्धा—जिसके शरीर श्रग-प्रत्यग में नवयोवनाकुर निकलते आये ।

(२) मध्या—जिसके लज्जा तथा मदन समान हो ।

(३) प्रोढा—कुछ लज्जा तथा मदन-पूजित और सम्पूर्ण कामकला में प्रवीण स्त्री ।

अब नीचे दो एक उदाहरण द्वारा प्रेम (रति) के आलम्बन-नायिका भेद को साधारण रीति से समझने का प्रयत्न करते हैं —

सुरचन्द्र प्रकाश हुलास भरी, गुरु सतन का सतकार कर ।

ननदीन निदाहि हिये हरष वरमोतिन सो तनिका ॥ १ ॥

दृग लजन से अलोकि अली पतिसो रति में सब भाव भर ।

कर कजन ते पग बोध सदा सन सामन सासन सीम बने ॥

उपर्युक्त उदाहरण में नायिका उत्तमा है, क्योंकि उसे अपनी सोति इत्यादि किन्नी से भी ड्रेष नहीं । इसके अतिरिक्त वह सन का सतकार करती है, अतः स्वकीया है । क्योंकि परकीया गुन प्रेम रखती है 'प्रो' सामान्या पैसे की मित्र है । इन दोनों लक्षणों में से एक भी लक्षण इससे नहीं मिलता । किन्तु ननदी और साधुआ के सम्बन्ध उसके स्वकीयत्व को और पुष्ट करते हैं । अवस्था पर विचार करने से यह प्रौढा ज्ञान होती है, क्योंकि रति में, सम्पूर्ण कलाओं में, कुशल वही हो सकती है । रति के समय,

पुनर्यथा—

नातो नभचर ये विचारि चार चन्द कुजै,

सजुत विनोद गोद मोद मयठार्यो हे ।

शभु शीश भूपन निराजे शभु सीस ही पे,

सोतो सब जोग हे सुलोगन निचार्यो हे ।

ईश्वर कहत पे अजोग इतना ही तीय,

भोग एक निठुर कठोर मन धार्यो हे ।

मधुप कहाय कुलै कालिमा लगाय दाय,

यारिज निहाय आय विद्रुम निदार्यो हे ।

सुरचन्द्र पर कुज अर्थात् मंगल विराजमान है, अभिप्राय यह कि 'रद-चिह्न मुल्ल पर दिखाई देते हैं।' कुचा पर चन्द्र के सगुण नष्ट क्षण है। इन रति-चिह्ना को नायिका ने अपने पति के साथ किये हुए सम्भोग-चिह्न समझकर दुःख प्रकट किया है, जो तीसरे और चौथे पद में साफ जाहिर है। अतः यह नायिका "अन्य-सुरति दुःखिता" है। नायक (मधुप) और नायिका (यारिज) का सम्बन्ध जो अंतिम पद में दिया गया है, वह नायिका में स्वकीयत्व भाव प्रकट करता है, क्योंकि भ्रमर और कमल का ही वास्तविक सम्बन्ध है, विद्रुम का नहीं। विद्रुम से यहाँ अन्य स्त्री का श्रय-लिया गया है। प्रकृति के अनुसार वह मध्यमा प्रतीत होती है, क्योंकि उसने पति के अयोग्य कार्य पर असन्तोष प्रकट किया है। उत्तमा का यह काम नहीं। अवस्था उसकी प्रौढा ज्ञात होनी है, क्योंकि उसने वचनो से सम्पूर्ण काम-कला से परिचित जान पड़ती है।

वस इस प्रकार थोड़ा सा प्रकाश नायिका-भेद पर डालकर
अर नायक का वर्णन करते हैं ।

नायक—सुन्दर रूप और गुण विभूषित युवक, जो काव्य,
संगीत तथा रस से विश्व हो और स्त्रियाँ उसे प्रेम दृष्टि से देखें ।

यथा—

छदित गोडुल की जन-भंडलों, जय नजाधिप-सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने छल की छवि यो लगी, तृप्तिचातक ज्यों घन की पड़ी ॥
पलक लोचन की पडती न थी, हिल नहीं सकता तन लोम था ।
“छत्रिता यदुकामिनि यो चर्नी, गठित पाहन पुत्तलिका यथा ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

प्रकृति तथा दशा के अनुसार नायक के दो भेद हैं । अर्थात्
(१) मानी और दशा के अनुसार (२) प्रोषित ।

(१) मानी—जो अपनी प्रेयसी से मान करे ।

(२) प्रोषित—निज प्रियतमा के प्रियोग से लतल ।

पुनः नायक के निम्नलिखित तीन भेद हैं :—

(१) पति—जो वेदानुकूल नायिका के साथ पाणि-
ग्रहण करे ।

(२) उपपति—जो अन्य स्त्रियाँ में अनुरक्त हो ।

(३) वैसिक—वेश्यागामी, निर्लज्ज तथा निडर पुरुष ।

पति निम्नलिखित पाच प्रकार के होते हैं—

(१) अनकूल—जो अपनी केवल एकही विवाहिता स्त्री से
प्रेम रखे, अन्य स्त्री का ध्यान भी न करे ।

(२) दक्षिण—कई स्त्रियाँ पर जिसकी समान प्रीति हो ।

(३) धृष्ट—जो अपमान होने पर भी नम्र हो, विना सकोच अपराध करे तथा लज्जा से विमुक्त हो ।

(४) शठ—जो छलछिद्र द्वारा अपने द्वेषों को गुप्त रखे । निज कार्य-साधन के निमित्त मृदुभाषी पुरुष ।

(५) जो शृङ्गारादि रसानुकूल क्रियाओं का समुचित ज्ञान न रखता हो ।

उपपत्ति के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) वचन-चतुर—जो वाक्पटुता द्वारा निज कार्य साधन समर्थ हो ।

(२) क्रिया-चतुर—जो रूपट तथा छल-क्रिया द्वारा अपना कार्य सिद्ध करे ।

अब उदाहरण द्वारा नायक-भेद पर दृष्टिपात करते हैं ।

बोलत है एक सग खरे एक सग ही बोलत हैं मनभायक ।

दूसरी बात न जानत ये निसिबासर सग रहें सुपदायक ॥

कौन समान करे इनकी गनिये इनहों को मदा पगनायक ।

रेखि परे खगराजन में इष सारस साँचे सियारम लायक ॥

उपर्युक्त उदाहरण पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह नायक पति है, क्योंकि विना नियमानुसार पाणिग्रहण किये कोई भी किसी स्त्री के साथ मदेव नहीं घूम सकता । इसका एक ही स्त्री से प्रेम होने के कारण यह अनुकूल पुरुष ।

महाकवि देवजी परकीया और सामान्या के सम्पर्क को लम्बत ही घृणित माना है । वह कहते हैं —

प्रकट भये परकीय अर सामान्या के। मग ।
 प्रनहानि बनहानि सुख, योरो दुख रूपा ॥
 उत्तम रस शृंगार की, स्त्रिया मुख अंगार ।
 ताके। पतिनात्रक वगा, मुख सम्पति के। मार ॥

देवजी का यह भी मत है कि वास्तविक प्रेम मुग्धाओं में होता है। मभ्या में कभी कभी कलह भी हो जाती है। यही कारण है कि उसका प्रेम निन्दनीय है। इसी प्रकार प्रौढा म रोप, गर्भ इत्यादि का ग्राह्य होने के कारण प्रेम उच्च श्रेणी का नहीं होता। अथात् शृङ्गार की मुख्य पात्री शुद्ध स्वकीया नायिका ही है और उसमें भी मुग्धा की प्रधानता है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है —

परकीया अपवनि निरुद्ध, हाति प्रेम आचीन ।
 पति सम्पति तन निपति मे, दाहि परै पन पीन ॥
 पर रस चाह परकिया, तज आपु गुन गोन ।
 आपु ओटि खोग मिले खात रूख फल होत ॥
 वाची प्रीति कुचात की, बिना नेह रस रीति ।
 मार रग मारु मही, वारु की सी भीति ॥

देवजी का मत अनुकरणीय है। क्या ही अच्छा हो, यदि चर्तमान हिन्दी के नाटक प्रणेता तथा उपन्यास लेखक इस बात पर तनिक ध्यान दें और आवश्यकतानुसार स्वकीया नायिका का ही वर्णन करें। और यदि प्रसङ्गवश कोई अन्य नायिका वर्णित भी हो तो उसका कुफल इस उत्तमता से दिखाया जाय कि समाज को उनसे घृणा हो।

(२) दक्षिण—कई स्त्रियों पर जिसकी समान प्रीति हो ।

(३) धृष्ट—जो अपमान होने पर भी नम्र हो, बिना सकोच अपराध करे तथा लज्जा से विमुक्त हो ।

(४) शठ—जो छलछिद्र द्वारा अपने द्रोषों को गुप्त रखे ।
निज कार्य-साधन के निमित्त मृदुभाषी पुरुष ।

(५) जो शृङ्गारादि रसानुकूल क्रियाओं का समुचित ज्ञान न रखता हो ।

उपपत्ति के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) वचन चतुर—जो वारूपदुता द्वारा निज कार्य साधन समर्थ हो ।

(२) क्रिया-चतुर—जो कपट तथा छल-क्रिया द्वारा अपना कार्य सिद्ध करे ।

अब उदाहरण द्वारा नायक-भेद पर दृष्टिपात करते हैं ।

ढोलत हैं एक सग खरे एक सग ही ढोलत है मनभायक ।

इसरी बात न जानत ये निसिबासर सग रहे सुखदायक ॥

फौन समान करै इनकी गनिये इनहुँ को मदा सगनायक ।

नेति परे खगराजन में एक सारस साचे मियारस लायक ॥

उपर्युक्त उदाहरण पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह नायक पति है, क्योंकि बिना नियमानुसार पाणिग्रहण किये कोई भी किसी स्त्री के साथ सदेव नहीं घूम सकता । इसका एक ही स्त्री से प्रेम होने के कारण यह अनुकूल दृष्टि ।

महाकवि देवजी परकीया और सामान्या के सम्पर्क को बहुत ही घृणित माना है । वह कहते हैं —

प्रसन्न भये परकीय अर, सामान्या के। सग ।

गमहानि वनहानि सुख, धोरो दु ख डकग ॥

उत्तम रस शृंगार की, स्वकिया सुख अगार ।

तावे। पतिनायक बन्यो, सुख सम्पत्ति के। सार ॥

देवजी का यह भी मत है कि वास्तविक प्रेम मुग्धाओं में होता है। म-या में कभी-कभी फलह भी हो जाती है। यही कारण है कि उसका प्रेम निन्दनीय है। इसी प्रकार प्रौढा में रोष, गर्व इत्यादि का बाह्य होने के कारण प्रेम उच्च श्रेणी का नहीं होता। अर्थात् शृंगार की मुख्य पात्री शुद्ध स्वकीया नायिका ही है और उसमें भी मुग्धा की प्रधानता है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है —

परकीया उपपत्ति निरुद्, हाति प्रेम आधीन ।

पति सम्पत्ति तन निपत्ति मे, दोषि परै पन पीन ॥

पर रम चाहि परकिया, तज आपु गुन गीत ।

आपु ओटि छाग मिल, दात दूध फल होत ॥

काची प्रीति कुचात की, निना नेह रस रीति ।

मार रंग मारु मही, वारु की सी भीति ॥

देवजी का मत अनुसरणीय है। नया ही अच्छा हो, यदि वर्तमान हिन्दी के नाटक-प्रणेता तथा उपन्यास लेखक इस बात पर तनिक ध्यान दें और आवश्यकतानुसार स्वकीया नायिका का ही वर्णन करें। और यदि प्रसङ्गवश कोई अन्य नायिका वर्णित भी हो तो उसका कुफल इस उत्तमता से दिखाया जाय कि समाज को उनसे घृणा हो।

यहाँ तक रति (प्रेम) को आलम्बित करनेवाले नायिका तथा नायक-भेद का वर्णन बहुत सूक्ष्मता से कर अब हम अन्य प्रधान मनोविकारों के आलम्बन विभावों का वर्णन करेंगे।

अन्य मनोविकार के आलम्बन विभाव

कोइ मुखहीन त्रिपुलमुख काहू । विनु पद कर कोइ बहु पद-याहू ।
त्रिपुलनयन कोइ नयननिहीना । रिष्ट-पुष्ट कोइ अति तनप्रीना ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उपर्युक्त चौपाई को जो पढ़ेगा, हँसेगा। इस हसने का कारण क्या है?—आकृतियों का विपरीत होना अर्थात् दो नेत्रों के बदले किसी के तो बहुत से नेत्रादि हैं और किसी के एक भी नहीं। अतः इस हँसी का उत्पत्ति कारण होने से यही मुखादि की विकृति आलम्बन विभाव हुई। साधारणतः जो हसी आने का कारण होगा वही आलम्बन कहा जावेगा, इसके लिए कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि न जाने कब, किसे, किस बात पर, हसी आवे। बहुधा हसने के आलम्बन वस्तु-मात्र में देखी हुई विकृत अथवा विपरीतता, व्यंग दर्शन, परचेष्टा का अनुकरण और असम्बद्ध प्रलाप इत्यादि हैं।

x

x

x

x

सहस्रन दुर्वल बूढ़े लोग निपुत्री भये रहे निर कोरि ।

कहै करि रोदन 'बेय हाय । कहाँ तुम गये कमर को तारि ॥

सहस्रन गन्तु बुद्धाई दत्त “हाथ ! हरि हिये दया है नाहि ।

हमारे उरिगो बन्तु जवान, हमारी दृष्टि गई हा बाहि” ॥

—रायदेवीप्रसाद (पूर्ण)

उपर्युक्त उदाहरण में बूढ़े लोगों को निपुत्री होते पढ़ और इस कारण लिर फोड़ते देख पाठकों को शोक होगा। इसी प्रकार सहस्रों बन्धुओं को बन्धु विहीन देख तथा उनका अलाप सुन दुःख होगा। इस दुःख का कारण बूढ़े लोगों के पुत्रों तथा बन्धुओं के प्रिय बन्धुओं की मृत्यु होना ही है। अतः शोक नामक प्रधान मनोविकार का आलम्बन-विभाव प्रियबन्धु इत्यादि की अपार हानि तथा मरण हुआ।

×

×

×

×

मोह का सकेत फिर कर मनसुना। धर्म का कतम्य शनो ने गुना।
देवकी ने शीघ्र रण करुण दिया। बाँध उसको हाथ में पति ने लिया।
चिह्न शनो साथ ले उत्साह म। जा गये जयसिंह है रन चाह म।
सुध प्रिया की मार्ग में आती गयी। किन्तु रन मैदान में जाती रही।
बुद्ध म ता और ही कुछ ध्यान है। पूर्ण हिय में देश का अभिमान है।
प्राण है क्या देश के हित के लिये ? नेत्र छोकर जो जिये तो क्या जिये।

—कामताप्रसाद गुरु (सहगमन)

उपर्युक्त उदाहरण में, जयसिंह ने मोह को तृणवत् त्याग दिया है। उसकी खो ने रण-करुण बाँध दिया है। इससे वह और भी उत्साहित होकर जा रहा है। मार्ग में यदि विरह ने अपनी थोड़ी सी धाक जमाई भी तो वह रन मैदान में काफूर हो गई।
उन सम्पूर्ण कार्यों का कारण क्या है?—एकमात्र

के लिए युद्ध करना, जिसके सम्मुख जयसिंह प्राण को भी तुच्छ समझता है। इस उत्साह का कारण वैरियों का वह वैभव है जो देश का अहित करने पर उत्तारु है, जो जयसिंह को असह्य है। यहाँ वही वैभव गुप्तरूप से अपना प्रकाश डाल रहा है। अतः रिपु का वही वैभव आलम्बन-विभाव हुआ।

X

X

X

X

चाहे जातु अथपति के घाण से त्राण पाना।

दुष्कर्मी तो हट, तज सर्भा छोड़ दे व्यान मेरा ॥

रे दम्भी ! हूँ अनल तुझको, गम को पुष्प बना।

दूगी तेरा जन-दल जला हार दूगी उन्हीं का ॥

यह सुनकर रावण ने—

भागे तानी दशन घिस के सङ्ग को यों निकाला,

मानो गर्जा जलद निजली है अभा भू जलाती।

पत्नी भागे सप तर हिले गम के रग डूबी,

भोली भाली जनक तनया पे न आतंक आया।

—स्वरचित (सीता-रावण-सम्वाद)

उपर्युक्त पद्य में रावण को इतना क्रोधित कर देनेवाला रिपुणी स्वरूपा सीता ही है। अतः यहाँ सीता ही उक्त क्रोध का आलम्बन हुई। इस मनोविकार का आलम्बन रिपुही होता है।

X

X

X

X

प्रवाहिना-उद्धत तीन पायु मे। विधुनिता हो लपटे सञ्चरित्यता।

नितात ही थीं बननी भयकरी। प्रचष्ट शत्रु प्रलयकरी समा ॥

अतः ये पादप गन्ध हो रह। असत्य गाढे पत्नी मगद थीं।

वश अपार दृन थी। बना महा शत्रु मयी वनस्थली ॥

अपाग पनी पशु नस्त हो महा । सव्यग्रता ये सन योग भागते ॥
 नितान्त हो भीत सगी सुपाणि भी । बने महाव्याकुल थे, पला गे ॥

—अयोध्यालिह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

उपर्युक्त पद्य में पशु-पक्षियों को भयभीत कर पलायन करानेवाला कौन है ?—वन में लगी हुई प्रचण्ड अग्नि । अतः यही अग्निकाण्ड उक्त भय का आलम्बन विभाव हुआ । भयकर दृश्य ही इस मनोविकार का आलम्बन होता है ।

× × × ×

रिपु अन्न की कु डली, करि जुगिन जु चरानि ।

पीनहि में पागी मनहु, जुगति जलेयी खाति ॥

—जगद्दिनाद

कटकणि जडुक भूत प्रेत पिशाच राक्षस सचहीं ।

बेताल वीर कपाल ताल बजाय जागिन नाचहीं ॥

अन्तानली गरि उडत गीध पिशाच कर गरि जानहीं ।

समाम पुनरामिन मनहु यहु बाल गुडि उडानहीं ॥

उपर्युक्त पद्य को पढ़कर ग्लानि के कारण चित्त कुछ और ही तरह का हो जाता है । इस ग्लानि का कारण पीन, भेद, मज्जा इत्यादि हैं । अतः यही आलम्बन विभाव है ।

“स्वर्गाय मातरि निज, अद्भुत रूप अगड ।

राम नेम प्रति लागे, केहि कोटि मह द ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

इस दोहे को पढ़ते ही चित्त पर आश्चर्य का सामान्य स्थापित हो जाता है । इसका कारण यह है कि “राम-नेम”

कोटियों ब्रह्माण्डों का घर है"—यह बात असंभव ज्ञात होती थी, जो माता ने अब साक्षात् देखी, अतः आश्चर्य हुआ। वन यही असंभव दृश्य आश्चर्य का अवलम्बन हुआ। असंभव चरित्र तथा यान भी इस प्रधान मनोविकार के आलम्बन हैं।

X

X

X

X

काम पर्यौ दुलहों अर दुलह चाकर द्वार के द्वारेई छे ।
 माया के बाजने बाजि गये अर भातयवा परभात ही छे ।
 आतसबाजी गई छिन में छुटि सूकत नाहि अर्जों अँखि फूटे ।
 नेव देखैयन दाग बने रहे बाग बने ते बरोगहि लूटे ।

—देव

उपर्युक्त पद्य को पढ़ तथा सुनकर चित्त में वैराग्य की स्थिरता होती है। ज्ञात होता है कि ससार माया जाल है। मरने पर कुछ काम न आयेगा। इसलिए उस अखिल विश्व-निर्माता अजर, अजन्म विधाता का भजन करके जोवन्मुक्त हो जाना हा मनुष्य का कर्तव्य है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने का कारण सत्सङ्ग तथा गुरु ही है। बिना गुरु के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, और बिना ज्ञान के चित्त निर्मल नहीं होता। इसी प्रकार बिना स्वच्छ हृदय के ईश्वर प्राप्त नहीं होता। अतः सत्सङ्गति और गुरु ही इस वैराग्य के आलम्बन हैं।

विभावान्तर्गत उद्दीपन-विभाव

ऊपर आलम्बन-विभाव पर विस्तार-पूर्वक विचार किया जा चुका है। अब हम उद्दीपन विभाव पर विचार करते हैं।

रसहि जगाउ दीप ज्या, उद्दीपन कहि सोय ।

—भावचिलास

जिहै निलोकत ही तुम्ह, रस उद्दीपित होत ।

उद्दीपन सुनिभाय ह, कहत कविन के गीत ॥

जिन हेतुओं से रस उद्दीप्त होता है उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। जिस प्रकार श्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम का बाहुल्य हिन्दी काव्य में दिखाया गया है, उसी प्रकार इस रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों से भी ग्रथ भरे हुए पड़े हैं। कामोद्दीपन का कारण कोई एक या दो वस्तु नहीं हो सकतीं। नीचे 'भाव' कवि-चरचित एक पद्य को भँदकर मुख्य-मुख्य चारह हेतुओं के नाम दिये जाते हैं।

१ सत्ता, २ सती ३ सुता सुपन, ४ उपन, ५ पद मृत ६ पान ।

उद्दीपनहि विभाव मं, वरुणत कवि मनि भान ॥

७ चँ चँटनी ८ चँटनी, ९ पुष्प १० पराग ११ समेत ।

यो ही ओर सिगार सष, उद्दीपन के हेत ॥

कोई-कोई कवि लगीत कला, सुन्दर सुन्दर चित्र इत्यादि यत्नेको प्रकार के उद्दीपन हेतु वर्णन कर गये हैं। परन्तु इनका वर्णन निम्नृत करना निरर्थक है, क्योंकि विश पाठक उन हेतुओं को स्वयं उपर्युक्त परिभाषा द्वारा ही समझ लेंगे। जो कामोद्दीपन में सहायक हो, वह सभी सामग्री उद्दीपन विभाव में परमगणित ही सामग्री ।

यथा—

करुन किंकिनि नृपुं धुनि सुनि । कहत लपण मन राम हृदय गुनि ।
मानहुँ मदन दुन्धुभी दीन्हों । मनमा त्रिस्त्रिजय कहँ कीन्हों ।

उपर्युक्त पद्य में स्त्रियों के आभूषणों की ध्वनि ही काम का उद्दीप्त कर रही है। अतः वही उद्दीपन-विभाव है। पुनर्यथा—

मर्दानी स्त्रियाँ

लहगे से छूटों हम सारी से छूटों ।

खाना पकाने की, चौका लगाने की, भोजन जमाने की, खरारी से छूटों ।
गडा होडाये चाहे दूधू कुदाये, बोली पिनम की सवारी से छूटों ।
मरदाना कुर्ती, बेरो आँ फुरती, आदों हो चाल गंगारी से छूटों ।
धियेदर में जाये गे, लेक्चर उडाये गे, छुट्टी हुई तानेदारी से छूटों ।

—बालमुकुन्द गुप्त

इस पद्य को पढ़कर हसती आती है। इस हास्य का आलम्बन मर्दानी स्त्रियाँ हैं। हास्य को उद्दीप्त कराने के लिए अपनी चाल छोड़ दूसरी चाल चलने के लिए कहनेवाले वाक्य है। अतः यही अनुचित चाल उद्दीपन विभाव है। हास्य को कुरूपता और अनुचित वाक्य उद्दीप्त करते हैं।

x x x x .

उहाँ राम लज्जिमनहि, निहारी । नेले वचन मनुजअनुहारी ।
मकहु न दुषित गेबि मोहि काउ । वरु सदा तन मृदुल सुभाउ ।
अद्वैतनि गइ कपि नहि आया । गम उठाइ अनुज उर लाया ।
हित लागि तजहु पितु माता । सहै विपिन हिम आतप चाता ।

सो अनुराग कहीं अरु भाई । उठहु न सुनि मम वच रिक्ताई ।
 सुत रित नारि भयन पतिवारा । होहि जाहू जग नारहि वारा ।
 जे जनस्यो वन बुधबद्धाहू । पितामचन नहि मनस्यो वाहू ।
 अस रिचारि निय जागहु ताता । मिलहि न जगत सहोदर आता ।

X

X

X

X

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उपर्युक्त उदाहरण में लक्ष्मणजी का मूर्च्छित शरीर, जिसको देखकर रामचन्द्रजी शोकातुर हुए हैं, आलम्बन विभाव हैं । हनुमानजी का वेद्य की यताई औपधि को लेकर न आना, राजि का घेतता जानना, पिता के पचन, लक्ष्मणजी के शील-स्वभाव तथा सहोदर भ्राता का न मिल सकना, रामचन्द्रजी की दु पित दशाको और भी बढ़ाते हैं । अतः ये उद्दीपन विभाव हैं । प्रियवन्धु इत्यादि की दु पित दशा मृतक का दाहकर्म, उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन, गुण श्रवण इत्यादि शोक नामक प्रधान मनोविकार के उद्दीपन विभाव हैं ।

X

X

X

X

जय तेहि कीन्ह राम के निन्दा । बाधवन्त तब भयड कपिग ।
 हरि हर निन्दा मुनिहि जा काना । होय पाप गोपात-समाना ।
 कटकथान कपिकुजर भारी । दुहु भुजदड नमकि महि मारी ।
 गिरत दयानन उठैड मँभारी । भूतल परे छकुट पदचारी ।
 डोलत वरनि मभासत ससे । चने भागि भय मारन प्रसे ।
 कह्यु तेहि न निज सिरहि सँजारे । कह्यु अग प्रभु पास पजारे ।

उपर्युक्त पद्य में राम

रावण के मुख से सुनकर

अगद को क्रोध हुआ

में भरकर न

क्या-क्या न कह डाला ? अतः रावण आत्मभय और श्री रामचन्द्रजी की निन्दा ही इस क्रोधरूपी मनोविकार को उद्दीपन करनेवाली हुई। रिपु की उमंग इस मनोविकार का उद्दीपन विभाव है।

x x x x

यह जो उठत सब आर सो, दल प्रवल कल कल धोर ।
बस, लील लेहि अयेहि निहि, मम चड कोप अधोर ॥
जिमि प्रलय आधी सों त्रिचल, जलधि जल बल भूरि ।
गिरि गत सन अति दुभित बडगनल हूँ चहुँ पूरि ॥

—सत्यनारायण कविरत्न (उत्तर-रामचरित नाटक)

उक्त पद्य कवि ने लव के मुख से कहलवाया है। जब लव ने अपने हाथ से रामादल को विनाश करके भी पुनः उसका कोलाहल सुना तो वह क्रोध करके उत्साहित होकर उनकी ओर बढ़ता है। इस वीरत्व का कारण रिपु-वैभव है, और सेना का कोलाहल इस वीरत्व को और विस्तृत करता है। अतः सेना का कोलाहल उद्दीपन हुआ। मारू वाजे की ध्वनि इत्यादि भी इस मनोविकार के उद्दीपन विभाव हैं।

x x x x

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय ।
विकल बलही बीच ही, पर्यो ररक्षा राय ॥

यहाँ भय को उद्दीप्त करनेवाले अजगर तथा सिंह हैं। अतः वही भय नामक मनोविकार के उद्दीपन-विभाव हुए।

x x x x

आनत गलानि जो बखान करा जात यह,

मादा मल मृत आर भज्जा की सलीती है ।

कह पदमाकर जरा ता जागि भोजी तन,

छीनी जिन रैन जैसे रेंनुही की भीती है ।

सीतापति राम के सनेह बस घीती जा पे,

तो तो निव्य नेह यम यातना त जीती है ।

रीती रामनाम त रही जो निना काम ता या,

सारिण खगल हाल सान की सलीती है ।

—पदमाकर

उपर्युक्त उदाहरण में मल, मूत्र, मज्जा इत्यादि से जो अरुचि पैदा होती है, वही उद्दीपन विभाव है। इन सबकी खलीती मादा आलम्बन है।

×

×

×

घन धस्त कर पर धर्या, गिरि गिम्हर नि गज ।

अजन गोप मुत चरित लवि, सुस्पति भयो सयक ॥

इस उदाहरण में आश्चर्य चकित करनेवाले महागज कृष्ण आलम्बन विभाज और आश्चर्य को दृढ़ करनेवाला घन का धरसाना है। अतः “घन का धरसाना” उद्दीपन-विभाव हुआ। आश्चर्य को दृढ़ करनेवाले हेतु, गुणा की विचित्रता तथा महिमा है।

×

×

×

घन तितान रति गति निया, पल भय सलिन प्रवाह ।

अग्नि सैज पत्ता पवन, अजन कट्ट पग्याह ॥

उक्त काव्य में शान्ति का आलम्बन साधुपुरुष है और -

वितानादि उसको और भी पुष्ट करते हैं। अतः वन-वितानादि उद्दीपन-विभाव हुए।

अनुभाव

यहाँ तक विभाव का वर्णन कर अब हम अनुभाव के विषय में कुछ लिखते हैं।

जिनको निरूपित परस्पर, रस को अनुभव होइ।

इहाँ को अनुभाव पद कहत मगाने लोइ ॥

आपुनि ते उपजाय रस, पहिले दाहि विभाव।

रसहि जगावे जा बहुरि, ता तेउ अनुभाव ॥

हिन्दी मुख्य कारणों से चित्त में रसादि जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हीं भावा को बाहर प्रकट करनेवाले भावों को काव्य-शास्त्र में अनुभाव कहते हैं। अनुभावो भावबोधक (इत्यमर)। विभावों को यदि कारण कहें तो अनुभाव उनके कार्य होंगे। यदि भाव जो पहले कारण-स्वरूप है और फिर वही रस का अनुभव करावे, तो उनको भी अनुभाव कहेंगे।

अनुभाव के तीन भेद हैं—(१) सात्विक (२) कायिक और (३) मानसिक।

सात्विक भाव

शरीर के सहज अङ्ग-विकार को सात्विकभाव कहते हैं। मृत्ति प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु के देखने से शरीर पर जब किसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है तब उस समय की दशा सात्विक भाव है। इसके नव भेद हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वर-भंग, (५) कम्प, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलर (९) जृम्भा।

स्तम्भ

प्रसन्नता, आधि व्याधि, लज्जा और भय इत्यादि से सम्पूर्ण
अङ्गों की गति रुक जाने को स्तम्भ कहते हैं। यथा —

पर समझ न ऐसी काम यो थी किसी की।

कुसुम पर निकासी कान्ति-स्वामी बने क्यों ?

मधुप गण निलानो पुष्प मारे सु द थे।

अनुजत्रय पडे थे पुत्तली काठ की अंगों ॥

—स्वरचित

जिस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी के अपवाद सूत्रक
सम्वाद को श्रवण किया था, उस समय वह 'कि कर्तव्यविमूढ'
हो गये थे। शेष तीनों भाई यह दशा देख काष्ठवत् रह गये
थे। भय तथा लज्जा के कारण भगवान से कुछ कह न सकते थे,
और न कहीं आ-जा सकते थे। उनके मर्वाङ्ग उस समय बेकार
से थे। ऐसी ही अवस्था स्तम्भ कहलाती है।

प्रेम प्रमोद प्रियश सच आता। चलनि न चरणा शिथिल सच गाता ॥

तुलसीदास (रामचरित मानस)

×

×

×

×

स्वेद

क्रोध, भय, लाज, हर्ष अथवा श्रम इत्यादि के कारण अंग
प्रत्यङ्ग में जल बिन्दु झलक आने को स्वेद कहते हैं। यथा —

सुर पर पसीना झा ग्या। था रम छुधा से जा ग्या ॥

मारे तूपा व आट थे सुमे पडे।

यी बात तक भाती नहीं । खुद से गिरा आती नहीं ॥

नल ने कहा तन दमन से होकर लड़े ॥

—स्वर्चित (नल-दमयन्ती-सम्वाद)

यहाँ पर यह स्वेद नल के व्याधिग्रस्त रहने के कारण करुणा को पोषण करने के लिए दिखाया गया है । अतः स्थायी भाव का परिपोषक है—साधारण श्रम का द्योतक नहीं । साधारण श्रम का स्वेद इस भेद में गन्तव्य नहीं है ।

रोमाञ्च

हर्ष, शीत भय और क्रोध इत्यादि के कारण शरीर में रोम उठ आने को रोमाञ्च कहते हैं । यथा —

समाचार जन लज्जामण पाये । व्याकुल निलसि बदन उठि धाये ।

कम्प पुलक तन नयन सनीरा । गह्वे चरण अति प्रेम अवीरा ।

यहाँ व्याकुलता के कारण पुलकावली उठी है ।

मगल समय सनेह बस, सोचत जिय मम तात ।

आयसु डेडहि हृषिं हिय, कहि पुलके प्रभु गात ॥

दियामल गात रोम भये डारें ।

बार बार छल बुझति माता । नयन नेत्र जल पुलकति गाता ।

स्वर-भंग

हर्ष, भय, मद और क्रोध इत्यादि के कारण स्वाभाविक ध्वनि के विपर्यय होने को स्वर-भंग कहते हैं । यथा —

पुलकित ना मुख आय न बचना ।

हटे फटे बचन उसने क्रोध में यों निकाले ।

मुनि की निरख गद्गद गिरा थी राम की घस हा गई ।

शकुन्तला के ज्ञान न अपना भी रहा ।

‘ग्राय्यपुत्र की’—यही मात्र उमने कहा ।

“जय हो”—निकला नहीं गिर की गति रनी ।

घाल नृप ‘वह सुके प्रथम ही मिल चुकी ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

कम्प

हर्ष, क्रोध, भ्रम भयादि के कारण अकस्मात् शरीर के काँपने को कम्प कहते हैं । यथा —

चक्रित भीत अचेतन सी बनी । कँर उठी तिमरी जा-मडली ।

कुम्बिता उसके सुवि कन की । प्रल आर दुई उर वेदना ॥

—अयोध्यातिह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

सुग कान्ति पड़ी पीली पीली । आर अगन्त नीली नीली ।

का हाथ नहीं यह कुर काया । या उसकी शेष सूक्ष्म आया ?

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

वैवण्य

मोह, क्रोध, भयादि से शरीर की कान्ति के परिवर्तन को वैवण्य कहते हैं । यथा —

नन उमगमयी सब बालिका । मचिन और मगकित हो गई ।

अति प्रफुल्लित बालक वृत्त का । उदन-मडल भी कुम्बला गया ॥

—अयोध्यातिह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

अश्रु

हर्ष, क्रोध, शोक, भय तथा धुआँ इत्यादि के कारण नेत्रों से जल प्रवाह होने को अश्रु कहते हैं । यथा —

मञ्जु निलोचन मोचति गरी । वाली देखि राम महतारी ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

श्यामा गार्ते श्रवण करके बालिका एक रोई ।

रोते-रोते अरुण उसके होगये नेत्र दोनो ।

ज्यों-ज्यों लज्जाविग्रह यह थी रोकती गारि-वारा ।

वों जो आसू अविकतर थे लोचनोमध्य आते ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

युगल नेत्र नु सीप लगा रहे, जमल झुक-झुकी हर गार, या—

अग्रध नायक को उपहार ले उमड़ प्रेम प्रसून गँग लसे ।

—स्वरचित

प्रलय

किसी विषय, वस्तु अथवा कार्य में इस प्रकार तटलीन हो जाना कि तन-मन की भी सुधि न रहे, प्रलय है । यथा —

गोरी गुमान भरी गजगामिन कालिधौ को वह कामिनी तरे ।

आईं नु ती सुचितें सुसक्याइ के मोहि लई मनमोहन मरे ।

हाथन पाँय हलै न चलै अंग नीगज नन फिरै नहीं परे ।

नेत्र से ठौर ही ठाढ़ी चित्तोत लिखी मनो चित्र पिचित्र चित्तरे ।

—देव (भावविलास)

यों ही पात निविध करते अश्रुधारा बहाते ।

धीरे धीरे यशुमति लगीं चेतनाशून्य दाने ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

श्याकुल राय विधिन मय गाता ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

पुन अनेपे। गो धुकी इसका सहती घाप नहीं में ।
 सुना न गेना आपने लो आती ह आज रही म ।
 कहकर यह बी यह गिनी ता की कुछ भी खबर नहीं थी ।
 इसी समय गम्भीर धनि गगनागत गो सुनी नहीं थी ।

—स्वरचित

जृम्भा

किसी प्रेमी के विछोह, मोह तथा आलस्य के कारण
 क्षण क्षण में सुख के खोलने को जृम्भा कहते हैं । यथा —

आरस मो रम मो 'पमाकर' था कि पों चल उम्भन के किये ।
 पीक भरी पलकें भलकें अनकें भलक छनि टूटि छटा लिये ।
 सो नृत्य भावि सख था को ? रिसकें कमिके मसकें छतियाँ छिये ।
 गति का जागी प्रभात उठी अद्वरात जभात लजात लगी न्ये ।

—पद्माकर

लक्ष्मी धर्मित उनीन्धण, शयन कराकु जाय ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कायिक अनुभाव

शरीर के अंगों द्वारा जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उन्हें कायिका-
 अनुभाव कहते हैं । यथा —

मेनहि रघुपति लपण निगार । प्रेम ममत निक्कट बेडार ।

सीतहि चित्तै कही प्रभु वाता । यह कुमार मोर लबुआता ।

सीतहि समय तेनि खुगुइ । कहा अनुज मन सेन बुझाइ ।

लवि गुरजन विच कमल सों, शीश छवायो श्याम ।

हरि समुप कनि आरसी हिये लगाई घाम ॥

हरपि न वाली लग्न ललन निरसि अमिल सँग साथ ।
 यौखिन ही मँ हँसि धर्यो गीग हिये पर हाव ॥

मानसिकानुभाव

मन रुत प्रमोदादिक अनुभाव को मानसिक अनुभाव कहते हैं । यथा .—

गोस्त को लूटियो न छोरियो दगाका गने,

दृष्टिओं गने न कहूँ मोतिन के माल का ।

कहे 'पदमाकर गुवालिनि गुनीली हेरि,

हरखै हँस्यो करे झूठे-ठूठे ख्याल कां ॥

न करनि, ना करति, नेह की निशा करति

सोंकरी गली में रग राखनि रसाल को ।

दीयां दिवदान के सुकसे ताहि भाजत है

जाहि मन आयो भाग भगरो गुपाल को ॥

सियहि सुख वरणिष्य केहि भाँती । जनु चातक पाये जस स्वार्ता ॥

राम सुभाष चले गुर पाहीं । सिय सनेह वरणात मन माहीं ॥

मनहीं मन मनाय अकुलानी । होव प्रसन्न महेन भवानी ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कायिक तथा मानसिक अनुभावों के अन्तर्गत काव्य पारंगत आचार्यों ने द्वादश हाव और बतलाये हैं । यह हाव सयोग-समय के हैं, इसलिये केवल सयोग शृङ्गार में ही काम आते हैं । और रसों में उनका कोई प्रयोजन नहीं । अतः स्थानाभाव के कारण उनके उदाहरण नहीं दिये गये । केवल नाम और परिभाषा लिख देने से ही चतुर पाठक समझ लेंगे । अतः परिभाषा-युक्त नाम अंकित किये जाते हैं —

(१) लीला—प्रेमवश पति पत्नी के परस्पर एक-दूसरे का वेप धारण करना ।

(२) आहार्य—जहाँ पति पत्नी का अथवा पत्नी पति का रूप धारण करे, वहाँ आहार्य-भाव होता है ।

(३) विलास—वह भाव जिनके द्वारा प्रियतमा प्रीतम के रिझाने का प्रयत्न करे ।

(४) विच्छिन्न—थोड़े ही शृङ्गार से अधिक शोभाशालिनी होकर नायक के रिझाने को कहते हैं ।

(५) विभ्रम—सयोग समय में आतुरता के कारण कार्य भूषणदि में विपर्यय होना ।

(५) क्लिक्चित हाव—भय, हास्य, रस, को यदि का एक साथ उत्पन्न होना ।

(६) ललितहाव—सयोग-काल में आभूषणादि से सज्जित सर्वाङ्ग, धोलना, चलना, फिरना और देखना सभी रिझाने-वाले हैं ।

(७) मोहयित—प्यारे के रूप, गुण, शील, स्वभावाद्वि सुन कर प्रेम उत्पन्न होने को कहते हैं ।

(८) विन्वोकहाव—सयोग समय मान धारणकर प्रीतम का निरादर करना ।

(९) निहत हाव—लाज के कारण सयोग काल में अपना अभिप्राय प्रीतम पर न प्रकट कर सकना ।

(१०) कुट्टमित हाव—सुख के समय बनावटी रोष नग्न करना ।

(११) हेला हाव—सयोग-काल में ढिठाई-पूर्वक नाना विलासकरने को हेला-हाव कहते हैं।

(१२) बोधक हाव—नायक नायिकाओं का परस्पर कुछ सकेता द्वारा अभीष्टार्थ प्रकट करने को कहने हैं।

संचारी या व्यभिचारी भाव

जो भाव सब रसों में संचार करते हैं उनको संचारी भाव कहते हैं। यह स्थायी भावों में विद्यमान रहकर सम्पूर्ण रसों में जलतरङ्गवत् उत्पन्न हो-होकर उन्हीं में विलीन होते जाते हैं, समस्त भावों में संचार करने के कारण संचारी भाव कहलाते हैं। यह रस के सहायक होते हैं। इसके ३३ भेद हैं। उनके नामो-ल्लेख के लिए हम साहित्य-दर्पण का एक श्लोक उद्धृत करते हैं —

निर्वेदोन्मेषाद्वैरम्यग्रम जडता आश्रयोऽहो विबोध

स्वप्नापस्मारगर्भा मरणमलसतामर्षनिद्राऽग्रहित्य ।

श्रोत्रमन्त्र्यान्माद शक्वा स्मृतिमतिरहिता व्याधिमत्तलज्जा

दुर्वासूयाविषाद सधृतिचपलता ग्लानिचिन्ताप्रितका ॥

—अर्थात्—१—निर्वेद, २—ग्लानि, ३—शक्वा, ४—असूया,
५—धम, ६—मद, ७—धृति, ८—आलस्य, ९—विषाद,
१०—मति, ११—चिन्ता, १२—मोह, १३—स्वप्न, १४—विबोध,
१५—स्मृति, १६—अमरण, १७—गर्व, १८—उत्सुकता,
१९—अग्रहित्य, २०—वीर्यता, २१—हर्ष, २२—ब्रीडा,
—ग्रता, २४—निद्रा, २५—व्याधि, २६—मरण,

२७—अपस्मार, २८—आवेग, २९—ज्वर, ३०—उन्माद,
३१—जडता, ३२—चपलता और ३३—वितर्क ।

निर्वेद-सचारी

त्रिपत्ति, ईर्ष्या अथवा किसी खेद के कारण ज्ञान उत्पन्न होने से अपने शरीर तथा सम्पूर्ण सासारिक पदार्थों को अनित्य समझ उनका तिरस्कार करना निर्वेद सचारी है। यथा —

अथ चित्तेति चित्रकूटहि चतु ।

केपित फलि लेपित मंगल भग, विलम्बत वदत माह माया मलु ।

गलशृङ्ग भन भङ्ग हेतु ललु दलन वपट णखट रम्भलु ।

भूमि तिलोकि गमपन अकित, नन तिलोकि गधुनग विहार धलु ।

न कर दिसन पचान चार मति, नरप पात्रिले सम अगिले पलु ॥

—तुलसीदास

×

×

×

तजा मन दूति त्रिभुवन के सग ।

जाके सग कुबुत्रि उपजति है परत भजन म भग ।

कहा हात पयपान कगये त्रिप नहि तजत भुवङ्ग ।

कागहि कहा कपूर सुगाये, स्नान न्हाये गङ्ग ।

सर के कहा अरगजा लेपन मरकट भुवन अङ्ग ।

गज के कन न्हाये संगिता, बहुरि धरे सहि अङ्ग ।

पाहन पतित वाम नहि चेत, गीता कस्त त्रिपङ्ग ।

सूरदास मलकामी कामहि चढत न दूजो रङ्ग ।

—सूरदास

×

×

मोह म द्यो चतुर्गई चढ्यो चित गर्व उढ्यो करि मानसो जाता ।
 भूनि परो तन ता मद मरि र सुदरता गुन जोवन माता ।
 सूक्ति परो कजिदर सब अर जानि परो मिगल जग जाता ।
 नेसुक मो में जो हेतो सयान तो हेतो कहा इमो हित दाता ।

—देव

X

X

X

मानुष हो तौ यही रसखानि यमा रज गोकुल गोप केवान ।
 जो पसु हो ता कहा यस मेरो चरो नित मद की धेनु मभाएन ।
 पाहन हा तो वही गिरि के। जो धर्या कर द्रव पुरदर धामन ।
 जो गग हो तो वसेरो करौ मिलि कालिन्दी कूल कश्म की डारन ।

—रसखानि

X

X

X

पूग जाता समक तुमके प्रेम की नीतियो का—
 में पे प्यारे । कुसुम तुमसे युक्तिपा पूजती हूँ ।
 मैं पाउगी हृदयतल में उतमागानि कैसे ।
 जो हुयेगा न मम तन भी व्याम के रग ही में ।
 ऐसी हो के कुसुम तुमसे प्रेम की पक्यता है ।
 मैं हेके भी मनुज-रुप की न्यूनता से भरी हूँ ।
 कहीं लज्जा परम दुख की रात में लिप है ।
 आ जायगा न प्रियतम का रग सदाहि में ।

—अथोद्धासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

X

X

X

चिन्ता अथ प्रकाश करि अपनाई अपमानु ।

अपने सत्यज्ञान जड़ मो निर्देश दग्यानु ॥

—देव

ग्लानि-सचारी

भूख, प्यास तथा रति श्रमादि के कारण शरीर का निर्वल होकर उसके अवयवों में शिथिलता आजाने को ग्लानि कहते हैं। यथा —

पामल कमल से भी अधिक लोहू रहा जिनर्म मलक—

पर, प्राण प्यास के निरस गत धार था ।

पाता न इन्दु समानता, उम मुखकमल पर म्यानता—

यह मोचकर पाता हृदय पर तीर था ।

—स्वरचित (नल दमयन्ती सचाट)

×

×

×

शिथिल गात फौपन हियों, बोलत बनत न बन ।

करी खरी त्रिपरीत कटुँ, कहत रंगीन नन ॥

—बिहारी

×

×

×

लती करघटे हो रही हू प्रेम पिय में मैं पगी ।

मिल जिन कटी निशि तांकिवाँ आस पलभ न लगी ।

नी रास ने कुछ शानि थी सो नून छोड़ि ले रही ।

उड़ना अरी तुलतुल यहा मे बयो मुझे दुख ने रही ।

×

×

×

—स्वरचित

भर ग्लानि धोरे मुन नाहों ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

×

×

×

रग भर रति मानन दम्पति, रीति गई रनिया छन हो जन ।

प्रीतम प्रात वने अचमात, चित चित चान्न भाइ गर्भा धन ।

मोह म द्यो चतुराई चढ्यो चित गर्व बढ्यो करि मानसो नातो ।
 भूलि परी तन ता मद मदि सुदरता गुन जोवन मातो ।
 सूक्ति परी करिदेव सब अव जानि परी मिगरी जग जाता ।
 नेसुक मा मे जो होनो सधान तो होतो कदा हरिसो हित हातो ।

—देव

X

X

X

मानुष हो ती यही रमयानि यसो वज गोकुल गोप केगारन ।
 जो पसु हो तो कहा उस मेरो चगे नित नद की धेनु मकारन ।
 पाहन हा तो यही गिरि के जो वग्यो कर शत्रु पुरदर धार ।
 जो खग हो ता वसेरो करो मिलि कालिन्दी कूल रुद्रर को डारन ।

—रसयानि

X

X

X

पूग जाता समझ तुझको प्रेम की नीतियो का—
 मैं ऐ प्यारे ! कुसुम तुझमें शक्तिया पूजती हूँ ।
 मे पाङ्गि हृदयतल में उतमाशानि केने ।
 जो हूवेगा न मम तन भा श्याम के रंग ही म ।
 ऐसी, हो के कुसुम तुझमें प्रेम की पक्यता है ।
 मैं देखे भी मनुज कुल की म्पूनता मे भरो हूँ ।
 कैसी लज्जा परम दुःख की रात मेरे लिए है ।
 आ जायेगा न प्रियतम का रंग सराङ्ग मेरे ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

X

X

X

चिता अथ प्रकाश करि, अपनेइ अपमानु ।

उपजै तन्त्रज्ञान जँ सो निर्दे वधानु ॥

—देव

श्रम-सचारी

अति रति अति गति तें जहा, मुग्रति स्येद सरसाय ।

सो धम नहौ मुभाय ये, स्येद उसास मनाय ॥

—पद्माकर

अति रति अति गति ते जहा, उपजे अति तन खेद ।

सो धम जाम जानिये, निरसहता अर स्येद ॥

—देव

के रति रग धर्या विर ह्ये परयक मंय्यारी परी सुख पाय क ।

स्या पदमाकर ह्य के बुं रों सुकादल मे तन आय क ।

चिन्दु स्ये महेदी पे लम कर तापर यो रगो आनन आयक ।

इन्दु मना अग्रिद पे राजत इन्द्रधनु के बृन्द बिडायके ।

धम जलवन पलवन प्रगट पलवन धकति उसास ।

करा खरी निपणीति रति, परी निमार्मा पाम ॥

—पद्माकर

खरी दुपहरी बीच तरन तर गगीच

सही परै तगनि के करनि की जाति ह ।

ताम तजि धाम चली ग्याम पे निक्कल वाम,

काम मर दाम यधु रूपहि मिलोति ह ।

बड-बडे चारनि ते आगनि के भागनि ते,

धाकी मुकुमाहि अर स्येद रग धोनि ह ।

मग न मगली मृदुकेली केली कुंजन म,

चठनि उठनि टाटी होति चलि होति ह ॥

—देव

राधिका के हिय हेरि हग हरि के हिय को पिय को पहिरायो ।
 केती तहाँ तिय ती निन भोनिन मोतिन सो निनको तनु तायो ।
 —देव

× × ×

आगत उसासी दुख लागे ओर हासी सुनि,
 हासी उरलाय कहो को नहि दहा कियो ।
 कहें पदमाकर हमारे जान उधो उन,
 तात को, न मात को, न भ्रात को कहा कियो ।
 कूचरी ककालिन कलकिन उरुष तैसी,
 चेटकनि चेगी ताके चित्त को चहा कियो ।
 गयिका की कहनत कहि दीजा मोहन सो,
 रसिक-शिरोमणि कहायधो कहा कियो ।
 जेसे को तैसो मिलै, तब ही जुरत सनेह ।
 ज्यो निभग तन श्याम को, कुटिल कूपरी नेह ।

× × × —पद्मान्न

उ च निग्रास बीच परगृती । सहि न सक पराई विभती ॥
 जिनहि मुहाइ न अधध बधाग ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

× × ×

एक बार सुनिअर कोणिक के तप मे सुगर्पन व्रस्त हुआ ।
 इन्द्रासन लेले न कहो सुनि यह विचारकर ध्वस्त हुआ ।
 भेजी तब अप्सरामेनका उसो एसी रूपरमी ।
 जिसे देखकर अपना समय रख न सके वे महायती ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

धन मद यौवन मद महा, प्रभुता को मद पाय ।
तापर मद को मद जिहै का त्यहि सके सिधाय ॥
जग योधा का मोहि समाना ।

परम स्वतंत्र न मित्र प क्राइ, भावहि मनहि करहु तुम नोई ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

हे सारथे ! हैं द्राणा गया, आर्च स्वय मेरेन्द्र भी ।
ने भी न जीतेगे समर म आज क्या मुझसे कभी ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (जुद्धवध)

पद्मिनी अधिकारो के घर, स्वतंत्र विचरता हैं प्रत्येक ।

—स्वरचित

धृति-संचारी

साहस, ज्ञान और सत्सङ्ग इत्यादि से विपत्ति पडने पर भी
ग्राह्य न त्यागने को धृति संचारी कहते हैं । यथा .—

अप्य मन न भये दस नाम ।

एक हुता मो गयो श्याम सँग का अन्तराधे इस ॥

इन्दी निधिल भई केमव बिनु ज्यो देही निनु सीम ।

आमा लगी रहत तन स्यासा जीज कोटि बरीस ॥

तुम तो मला श्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस ।

सूरदाम दा रम की महिमा जो पूछै जगदीम ॥

—सूरदास

मुनु मातु मैं पायो मरुल जगराज आज न सशय ।

द्वन्द्व शुद्ध देखहु सकल, श्रमित भये अति राग

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

घट बहन में स्कन्ध नत ये ओर करतल लाल ।

उठ रहा था द्वासगति से उन्नदेग प्रियाल ।

श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद सीकर जाल ।

एक कर से थी सँभाले खत काले जाल ।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

मद-संचारी

धन, यौवन, मोदर्य्य अथवा मदिरा इत्यादि के सेवन से मनुष्य उत्पन्न होकर असंगत वचनावली द्वारा किसी का अपमान करना अथवा अनुचित व्यवहार करना मद कहलाता है ।

यथा —

आसन सेइ सिंग्याये सर्खान के सुन्दरि मन्दिर में सुप साय ।

सापने म निडुर हरि हेरि हरे ई हरे हर्गिनी हग रेगि ।

रेग कहै उठि के बिरहानल आनंद के असुवानि समान ।

आहुटी भाजि गद सब लाज हसैं अर मोहन का सुख जाँव ।

—देव

पूज निशा में सुगारणी ल वनि बैठ दुहुँ मद के मतगले ।

त्यों पदमाकर भूम भुर्के गन धूमि रचें मसरग रगले ।

गीत की जाति अर्भानि भये सुगने न मदी कछु शान दुगले ।

आक दफा दनि ही का पिये मदनेन के किये प्रम के व्याले ।

—पद्माकर

धन मद योवन मद महा, प्रभुता को मद पाय ।
तापर मद को मद जिहै, को त्यगि सकै मिखाय ॥
जग योधा को मोहि समाना ।

परम स्वतंत्र न मिग प कोइ भावहि मनहि करहु तुम सोइ ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

हे सारथे ! हैं द्राणा क्या, आज स्वयं न्येद्व भी ।
तु भी न जीतेगे ममर म आज क्या सुझसे कर्मा ॥

—मेथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

पहिनकर अधिकारो के उत्तर, स्वतंत्र विचिन्ता है प्रत्येक ।

—स्वर्गचिंत

धृति-संचारी

साहस, ज्ञान और सत्सङ्ग इत्यादि से विपत्ति पडने पर भी
प्रोज्ञ न त्यागने को धृति संचारी कहते हैं । यथा —

‘ऊग्र मन न भये दम घात ।

गर हुता मो गयो श्याम सँग क। अनुराध ईस ॥

शुद्धी सिधिल भई बेसव विनु न्या नदी विनु सीम ।

आमा लगी रहत तन स्यामा जीजे कोटि बगीस ॥

तुम तो मजा श्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस ।

सूरनाम या राम की महिमा जा पूछै जगदीश ॥

—सूरदास

सुनु मातु मैं पायो सकल जगराज आज न मराय ।

अथवा—

सब प्रकार प्रभु पूरण कामा ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

रायरौ रूप रसो भरि नेननि बननि के रम सो श्रुति सानो ।
गात में खेलन गात तुम्हारई घात तुम्हारी ये बात पखानो ।
ऊमो हवा हनि सो कहियो तुम हो न यही यह हो नहि मानो ।
या तन ते निछुरे तो बहा मन तें अनत जु वसो तब जानो ।

—देव

या जग जीवन के हे, यह फल जा झल छाँडि भजे रघुराई ।
शोधि के सत महतन हू पद्माकर रात यह ठहराई ।
हूँ रह होनी प्रियाम अपना अनहोनी न हूँ सकै कौटि उपाई ।
जो निधि भाल में लाँक, लिखा मो उदाई बदै न घट न घटाई ।

—पद्माकर

होके विभिन्न रसि न कर तापत्याग ।

देवे मयक कर के तज माधुरी भी ।

तो भी नहीं मज-प्रग-जन के उरो मे ।

उत्कुल प्रीति मनमोहन की कहेगी ।

—अयोध्यानिह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

मैं यह नहीं कहती कि ग्नि में जीवितेश लडें नहीं ।
तेजस्वियों की आयु भी गयी भला जाती कहीं ।
मैं जानती हूँ नाथ । यह, मैं मानती भी हूँ तथा ।
वपकरण में क्या, शक्ति में ही सिद्धि रहती मरेधा ।

—मेथिलीशरण गुप्त (जयदृथ घघ)

आलस्य-संचारी

बहु भूषादिक भाग ते, कारज कला न जाय ।
सो आलस्य जहाँ रहै, तन अनमता दाय ॥

—देव

जागरणादिक तैं जहा, जो उपमत अलसानि ।
ताही सो आलस कहत जे कोनिय रसखानि ॥

—पद्माकर

अधिक जगने पर सामर्थ्य होने पर भी उत्साहहीन होने
से शरीर में अक्षमता व्याप्त हो अथवा भूषणादि का भाग
भी असह्य हो, उसे आलस्य-संचारी कहते हैं । यथा —

उधौ आये उधौ आये हरि को संदिमो लाये,
सुनि गोपी गोप धाय धीर न धरत है ।
गरी लगि दोरी उठी भोरी लौं भ्रमति मति,
गनति न जाना गुरू लोगनि दुरत है ।
हैं गइ निकल बाल बालम नियोग भरी,
जोग की सुनत रात गति ल्यो जगत है ।
भारे भये भूपन सँभारे ना परत अहं,
आगे का धरत पग पाछे को परत है ।

—देव

गाकुल में गोपिन गारिड सग खेली पाग,
राति भगी आलस म ठेमा दधि दलक ।
देव भगी आलस कपोल रस गरी भरे,
नींद भरे नयनन कटुक भूपे भुवनक ।

लाली भरे अघर बहाली भरे सुस्तर,
 कपि पदमाकर त्रिलोक कोन सलकै ।
 भाग भरे लाल ओ सुहाग भरे सब अङ्ग,
 पीक भरी पलक अगिर भरी अलकै ।

निशि जागी लागी हिये, प्रीति उमगत प्रात ।

उठि न सकत आलस वलित, सहज सलोने गात ॥

—पद्माकर

गुनर जाय गयन तब कीन्हा ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

रक्त कमल नयना रने रने जमावहु नाथ ।

कहौ कहु निकसै कहु रामे रानि किहि माथ ?

—स्वरचित

विपाद-संचारी

दृष्ट प्राप्त न होकर अनिष्ट-सिद्धि होने के कारण जो दुःख प्राप्त होता है उसे विपाद-संचारी कहते हैं । यथा:—

मोच न हमारे कहु त्याग मनमोहन के,

तनको न सोच जो प योही जरे जाइहे ।

कहे पदमाकर न मोच अथ एहु यह,

आइहे तो आइहे—न आइहे, न आइहे ।

योग को न मोच और भोग को न सोच कछु

यही बडो मोच सो तो सर्वनि सुआइहे ।

झूरी के कुतर में बेधो हे त्रिभंगता,

त्रिभंग को त्रिभंगी लामे कैसे सुरमाइहे ।

—पद्माकर

केलि करे जल में मिल बाल गुपाल तहाँ तट गैयन रेरे ।
 चेति सरे हरना हरनाइ दे दूरि तें नेरि बन्धानु को परे ।
 हार हर हिय में हृदै तिय धार धरै ॥ करे इकट्टे ।
 राखिना आदी हरेई हरे हरि के सुख और नसें अर हरे ॥

—देव

जिस राज्य के हित शत्रुओं में युद्ध हो रहा,
 उस राज्य को अतः इस भुवन में जान भोगेगा अहो !
 हे कामधेय अभिमन्यु ! यह तो था तुम्हारे ही लिये,
 पर हाय ! उसकी प्राप्ति के ही समय में तुम चल दिये ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

अनन्य धार धारत बनत, सुरति मिसारी कत ।
 पिक पापी कूकन लग्यो, बगनै अधिक बसत ॥

—पद्माकर (जगद्धिनोद)

धी धमन जन साकर जगी, पनि प्रेम पद्धति में पगी ।

आँखों तल उमके अधेरा होगया ।

रोकर लगी कहने जभी, व्याकुल हुआ मनचर सभी ।

हा ! क्या हुआ सर्वस्व मेरा खो गया ॥

—स्वचरित, (नल दमयन्ती सम्वादे)

मही कहा उसने कि “कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ ?—

मा धरणी ! नृक्षुभे ओर रे, तुझमें अभी समाऊँ ।”

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

राम राम रट पिकल भुआल ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मति-संचारी

नीति, निगम आगमन ते, उपज भलों विचार ।

साही सो मति कहत है, सन ग्रन्थन का साग ॥

—पद्माकर (जगद्धिनोद)

मिथ्या श्रम होने पर भी सुनीति ज्ञान का होना मति संचारी है । यथा —

बाट ही बाट उड़ी के चके मति बेर है वज विष विष ही को ।

मान लें या पदमाकर की कही जो हित चाहत आपने जी को ।

गम्भु के जीम के जीवननरि सदा सुख दायक है मर ही को ।

राम ही राम कहे रमना कसना ? नृ भजै रम नाम सही को ।

पाते पर न कुसंग के पदमाकर यह डांठि ।

परधन पात कुपट ज्यो, विदित विचार पीठि ॥

—पद्माकर (जगद्धिनोद)

इयाम के संग सदा मिलसी निमुता में सुता मैं कट नहीं जाना ।

भूल गुपाल मो गर्व कियो गुन जोवन रूप दूधा अरि मानो ।

ज्यो न निगोडो तब समझा कवि देव कहा अथ जो पद्धितानो ।

धन्य जिय जग में जन ते जिनको मनमोहन ते मन माना ।

—देव

राम त्रिमुख अस हाल तुम्हारा । रहा न कुल कोउ रोवन हारा ।

अथ तब सिर भुज जम्बुक खाहीं । राम त्रिमुख यह अनुचित नाही ॥

अहं नाथ ! गुरुनाथ सम कृपामितु को आ ।

मुनि दुर्लभ जो परम गति, तुम्है दीन भगवान ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

यह अनि ललित मनाहर आनन काने जतन बिसारी ।
जोग जुगुनि अरु मुहुति निविध निध या मुरली पर वारी ।
नहि तुम यज बसि नदलाल को बाल निनोद निहारी ।
नाहिन रास रसिक रस चार्यो ताते डेल मो मारी ।

—तुलसीदास (कृ० गी० व०)

हे भूख में मग्ना भला, या घाटकर अपना गला ।
ग्रच्छा नहीं पर, डम तरह तन पालना ।
रम गाविसुन की वह दगा, है या आती दुर्दशा ।
जो श्वपच भोजन में हुई मच मानना ॥
माना न गश्चो का कहा, सफट ईमी से मन महा ।
दखो रदन मेरा छना जलनी हुआ
इसका सु प्रायश्चित्त कहे, या दूद या रदला कहे ।
कृतकृत्य हूँ इसमें बड़ा धम मैं हुआ ॥

—स्वरचित, (कृष्ण-भीष्म-सचाद)

चिन्ता-सचारी

जहा कानहू घात की, चित्त में चिन्ता होइ ।
चिन्ता तामों कहत है, कवि-कोयि न मर कोइ ॥
—पद्माकर (जगद्धिनोद)
इष्ट वस्तु पाय गिना, एक आम चित्तु होय ।
स्थान, ताप, वैषम्य जहँ, चिन्ता कहियत सोय ॥

—भायविलास

जहाँ किसी बात की मन में चिन्ता होती है या अभिलाषित वस्तु के प्राप्त न होते हुए फेंकल आशा ही आधार होती

है, उसे चिन्ता कहते हैं। चिन्ता का अनुभव कराने के लिए स्त्रोत, ताप और वैचरण्य का प्रकाश होता है। यथा :—

जानति नाहि हर हरि कान के पसीधौ कान बधु मन भावें ।
मेही मो रुद्र के बेठि रहे बिधा केई कहूँ कटु साधन पाव ।
बैसिय भाति भट कनहुँ अरु क्याहुँ मिले कटु केई मिलावै ।
आसुनि मोचति मोचति यो सिगगै दिन कामिन काम उडाव ।

—देव

भिलत भकोर रहे प्रायन का जोर रहे मपट मोगर रहे शार रहे तन ना ।
कोई पदमाकर तकैयन के भेट रहे नेह रहे नेननन भेट रहे दय सो ।
बाजत सुबैन रहे उनमट भेन रहे चित में न चैन रहे छातकी के रय सो ।
गेह म न नाथ रहे द्वार प्रजनाथ रहे कपलो मन हाथ रहे माथ रह सय सो ।
केमल वंजमृणाल पे, कियौ कलानिधि वास
कन को ध्यान रह्यो जो, धरि मित्र मिमन की आस ॥

—पद्माकर

चिन्ता कनहेहु यात कर, तात करहि जनि मेर ।

चितवन चकित चहुँ निधि मोता ।

—तुलसीदास (गोमचरित-मानस)

एक दिन पुर-वश की भी सम्पदा-वृद्धिशीला जो रही अर तक सदा ।
सुख पिना योही पड़ी रह जायगी, कौन जाने नाम किसके आयगी ।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

नाना प्रसंग उठते जन-मग म ये । जो थे मयकिन मदा करते मगो पे ।
था मूलता अथवा श्री कपता कलेजा । चिन्ता अपार चित म चिनगी लगानी ॥

—अयोध्यामिह उपाध्याय (प्रिय-प्रवाम)

मोह-सचारी

आपुहि अपनी नहि पा, ज्ञान जने नहि हान ।

विरह दुख चित्त जनि, मोह कह्यो मत माय ॥

—पद्माकर

अदभुत रसन रेग भय, अति चित्त अति कोह ।

जहाँ मर्मा निम्नन अर, लभतादि कहु माह ॥

—देव

जहाँ चित्त में किसी प्रकार की चिन्तादिका ये कारण अपने शरीर का ज्ञान न रहे, उसे मोह कहने हैं । इसमें मूर्च्छा विस्मरण इत्यादि होने से मोह का प्रकाश होता है । यथा —

रोडन को सुनिहे न कह्यो बुधि गई बलाई में उठि बही है ।

यों पद्माकर दीन मिलाय क्यों चग चवायन को उमरी है ।

आपुहि की न दिवादिस्त म दशा दोउन की नहि जानि कही है ।

माहन मोहि रणो कर को कर की वह माहनी मोहि रही है ।

—पद्माकर (जगछिनोद)

ओरो कहा कोउ बालन है नयो तन जोवन तादि जनायो ।

तेरेद नेन वडे प्रज में जिनमो उस कीनो जमोमति जायो ।

डोलतु है मनो मोल लियो कत्रिये न बोलत बोल बुलायो ।

माहन को मन मानिक सागुन मो गुहि तै उमो उरकायो ।

—भावविलाम

मदपदात तम वीहँसी, दीह दगन मे नेह ।

सुखजगल मोनी परत, निमोही को नेह ।

—पद्माकर

माता और न बोल मकीं, गद्गद कठ न खोल मकीं ।
 इधर उर्मिला सुग्न निरी, कहकर “हाय !” धडाम गिरी ।
 लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये, सवने दो-दा बूँद दिये ।
 माँ न कहा कि—“हा बेटी । आज मही पर तू लेटी ।”
 “उहन ! उहन” कहकर भीता करने लगी व्यजन सीता ।
 “आज भाग्य जो है मेरा उह भी हुआ न हा ! तेरा ।
 व्यग्र हुए प्रभु धर्मधनी, रही सुमित्रा धृति यनी ।
 रख गाँदी में उसका सिर—बोली ये कोसल्या फिर—

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

दोडा गाला ब्रज-नरपति के सामने तक आया ।
 बोला गाँव मकल धन को आप की है न जाती ।
 दोतो से है न तुण गहती है न उखे पिलाती ।
 हा हा ! मेरी सुगमि मय को आज क्या हो गया है ।

—अयोध्यानिह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

शुनि अति निकल मोह मति नाथी ।

लौट लाय डग जनक जानकी ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

स्वप्न-संचारी

निद्रावस्था में किसी पदार्थ के ज्ञान को स्वप्न-संचारी कहते हैं । यथा —

मोक्ष तें मयी जान्यो नहीं उह मोक्ष ते उर आयो हमारे ।

पातपट्टी कर्मो लपटो अर मोयंग सुंदर रूप मयार ।

“देव” अबे लगि आखिन ते उह चौकी चितौनि टरे नहि टार ।
 मापने म चित चोर लियो उह चोगरी मेर पखावन नार ॥
 “सोअत आहु सती मपने “द्विजयेवजू” आनि मिले बनमाली ।
 जौलों बडी मिलिये कह धाय सुहाय भुजान भुजान पे घाली ।
 बालि डठ ये परीगन तो लगि पीन कहा कह कर कुचाली ।
 मगपनि सी सपन की भई मिलियो वज्रगज को आहु की आली ।
 कापि रहे दिन सोअत हूँ कहु भाषियो मा अनुसारी रही हे ।
 क्यों पदमाकर रचर मंचनि रज के बुदनि धारि रही हे ।
 नेप दिखा दिखी के सुख म मनकी तनका न सम्हार गी हे ।
 जानति हा मखि सापने म नंदलाल को नारि निहारि रही ह ।
 मपनेहु सोअन न दई निर्दई दर्द

त्रिलपत रहिहौँ जैम जल विनु भावियाँ ।

“कुन्दन” सनेसो आयो लाल मसूदन को,

सब मिलि दोरीं लन आंग रिनखियाँ ।

वही समाचार ना सुवांग मंदेसो कहु,

कागद लै कोरो हाथ दीनी लैके गर्विया ।

अतिर्यो सो पनिर्यो लगाव बडी बाचिये का,

जालो गोलो खाम तोला खुन गद अँधिर्यो ।

यन् पात नू ना जानती, नो चाव मम मन ले ग्या ।

दस्त सुय मे पा रही हूँ, स्वप्न ही सुख न रहा ।

मे हूँ पडो पिय प्रेम म, नू उरकिया क्यों ल रहा ?

उडजा अगी बुनबुन यहाँ मे, क्यों सुक दुख न रही ।

—स्वर्गचित

क्यों करि कुठो मानिये, सखि मपने की बात ।

जु हनि रग्यो मोनत हिया, मो न पाइयत प्रात ।

—पद्माकर

दिनप्राति दसहुँ राति कुमपने —

मपने बानर लका जारी ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

विवोध-संचारी

निद्रा से उठने की अवस्था का नाम विवोध-संचारी है । यथा —

सापने म गडं देखन हँ सुनि नाचन नद जसोमति का नद ।

या सुसिरयाइ के भाव बताय के मेरोई रये चि सरो पकरो पट ।

तो लगि गाय रम्हाइ उठी करि “देन” बधनि मय्यो इधि कौ घट ।

चौकि पडी तब कान्ह कहूँ न कइन न कुञ्जन कालिंदी का तट ।

अधखुली कबुकी उरोज अध आये खुले,

अधखुले बेप नर देखन के भलकै ।

कहे पदमाकर नवीन अधनीरी खुली,

अधखुले छहरि द्रगके शोर छलकै ।

भोर जगी प्यारी अध उरध इतै की ओर,

भायी किस्ति फिरकि उचारि अध पलकै ।

आरें अग्रखुनी अधखुली खिरकी हे खुली

अधखुन आनन पे अधखुली अलकै ।

अनुगामी लागी हिये, जागी नडे प्रभात ।

ललित नेन बेनी छुटी, प्राती पर छद्गत ।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

मिगत निशा खुनायक जागे ।

वटे लपल निधि मिगत सुनि, अरुणगिम्हा उनि कान ।

गुरु त पहिले जगतपति, जागे राम मुजान ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

गजे का गह ग सुन म उठकर जन सडा हुआ था ।

था केवल म ही पडा था घन निस्तर पडा हुआ था ।

—स्वर्चित

स्मृति-संचारी

भूले हुए किसी पदार्थ का स्मरण हो आने का नाम स्मृति संचारी है ।

(सुमिग्न वीता) गत के। इस्मृति भाव कहाय ।)

समकार सम्पति रिपति अधिक प्रीति अति ज्ञात ।

प्रिय अप्रिय सुमिग्न सुमृति, इक चित धोन उमास ।

—देव

उदाहरण

नीर भर मृग केमे बड दग न्यति नीचे निचाड निचोत्रनि ।

ले ल उमास निग्य वग्नी धरि ध्यान रहै कनि दीति अडोलनि ।

रति रहै कन्हू उप ह कनि देन कहै कर चापि कपोलनि ।

गानम के निनुरे य पाल सुने नहि बाल न जालनि बोलनि ।

×

×

×

आक्षेप अपमान से उत्पन्न होती है और उस समय स्वेद, कम्प तथा म्लान इत्यादि की प्रक्रियाएँ प्रदर्शित होती हैं । यथा—

देव मनायत मोहन अ कव के मनुहारि करै ललचोहे ।
वाते उनाय सुनावैं सखी मव ताती आ मीन रिसोहैं रसोहैं ।
नाह सो नेह तउ तरुनी तजि गनि पिताति विताति नसा है ।
मानति नाह तिरीछेहि ताननि यान मी आये कमान सी भोहैं ॥

—भाव विलास

जैसो तैं न मोसो कहू नेकहु डरात हुता,
ऐसो अय होहु तोमो नेकहु न डरिहो ।
कहै पदमाकर प्रचढ़ जो परेमो ताज,
मड करि तांमा भुजइ ड ठोकि लरिहो ।
चलो चलु चलो चलु, निचल न बीच ही त,
कीच नीच नीच तो कुटुम्ब कां कचरिहो ।
ऐरे दगादार मरे पातक अपाग तोनि,
गगा के कछार में पझारि आर करिहो ।

—पद्माकर (जगछिनोद)

गरु सुअजन ही जिना, कजन को हरि लेत ।
राजन मद भजन अरथ, अजन अतिथि न लेत ।

—पद्माकर

जो उन पौडश वर्ष के गजीय लोचन रामने,
सुनि मय किया था पूर्ण बधकर राजमो के सामने ।
पर धूह-भेदन आज लो ही चरियो को मार के,
निज तात का मैं हित करूँगा निमल यय विमार के ॥
—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथवध)

पोली रसिख सुजान फाग अब याकर खेलो ।
 सर्व ममर्पण रूप आँस इस अति की भेलो ।
 निकलो खोलि कपाट निरख लो नारि नवेली ।
 फिर न मिलेगी ओर जन्मभर मुक्तसी चेली ।

—नाथूराम शङ्कर शर्मा (गर्भरङ्गा-रहस्य)

जिनका काप विशेष घटा था तपोभग होजाने से,
 जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से ।
 इन हर के तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति निकराला,
 अकसाव अग्नि स्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला ।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी (कुमांगसभव सार)

हिन्दू पति के देन मुनत छत्री कोपें सय ।
 अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दोख्यो तन ।
 लै ले अति दह पन क्रियो, छवै छवै प्रभु के पाँय ।
 “जौलो तन, स्वाधीनता तौली रसों घचाय ।

सक करिये न कह्यु” ।

—राधाकृष्णदास (प्रताप विसर्जन)

मुनतहि लयण कुटिल भई भीहँ । रद पुट फरकत नयन रिसौहिं ॥
 जो गङ्गा अनुसासन पाऊँ । कह्यु इन ब्रह्माड बठाऊ ॥

X X X X

अति रिस घोरो घचन कठोरा । कह्यु जडजनक धनुष किहि तोरा ॥

X X X X

बेगि नताव रुद नतु आत । बलदों महि जहँ लगि तन रागू ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

गर्व-सचारी

बाहुबल, बुद्धि, विवेक, दृष्टि, कुटुम्ब अथवा सौन्दर्य आदि को

भुज बल भूमि भूप विनु कीन्ही । त्रिपुल गारुमहि देन दीन्ही ।
अथवा—

कुम्भकरन से बन्दु मम, सुत प्रसिद्धि सकारि ।

गार पराक्रम सुनेसि नहि, जितेँ चराचर भारि ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

उत्सुकता-संचारी

किसी प्रेमी के मिलने की उत्कट लालसा अथवा किसी कार्य के सिद्ध करने को निरवलोक्य उद्यम होना उत्सुकता-संचारी है । इसमें प्रेमी के स्मरण से गात में गौन्व-युक्त आलस्य का प्रादुर्भाव होता है, और प्रेम-पाश में फसकर देश तथा काल असह्य होते हैं । यथा—

केधो हमारिहि बार बडो भया के रनि को रथ ठोर ठयो हे ।

भोरते भानुकी ओर धितौति घरी पलते गनते ही गयो हे ।

याधतु ओर नहीं दिनको दिन कौन अभै लगि जाम गयो हे ।

पाइये केसिक सौंभ हुरन्तहि देखुरी घोस दुरन्त भयो हे ।

—देव

ताकिये तिते तिते सुसुम्भसो सुवोई परै प्यारी परनीन पावै धरनि जिते जिते ।

कहे पदमाकर सुपोन ते उताली बनमाली पै चली यो बाल घासर बिते बिते ।

गारही के भारन उतारि देति आभरन हीरन के हार देत हिलि न हितै हिते ।

चादनी के चौसर चहुँघा चौक चादनी में चोदनी सी आई चद चोदनी चितै-चितै

सजे निभूषण बसन सब, मुपिय मिलन की होस ।

सहो पगति नहि केसहु रहो अधघरी घोस ॥

—पद्माकर (जगद्धिनाद)

दार खरो भयो भावता नेहतै मेहतै आयो उनै अधियारा ।

म चातुर आतुर ह्ये सुखी सुर दे कियो नेकु इसारो ।

झा मन भावती मदही मट गइ करिव कहँ नद विचारो ।
अब में लाइ निमक हूँ जाइ प्रजक बठार लियो प्रिय प्यारा ।

X

X

X

लाभी भौरा तृपित अति ही मुग्धसा हो खडा ह ।
त्यागो लज्जा अधर-रस पी नृम हाने इसे नो ।
इच्छा होती रह रह यही पुष्प माला मिली सी ।
नदेही हा नित प्रति लगी आप भंग गले स ।

—स्वरचित (सीता रावण-प्रवाद)

जिन समस्त समाकुल स रहे, सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अप दिनात्त त्रिलोचनही बढी, नज त्रिभूषण शर्जन लालसा ।
सुन पडा मर ज्यो कल येणु का, सकल ग्राम समस्तसुक हो उठा ।
हृदय-यत्र निनाशित हो गया, तुरन् ही अनियन्तित भाव से ।
वय प्रती युक्ती नहु चानिका, सकल बालक बृद्ध ययन्क भी ।
विनम से निक्ले निज गेट में, मरहम का दुर मोचन के लिये ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

प्रिय शर्जन का इसे यन्पि उन्माद उडा था ।
पर मयजनों का त्रिहस्ताप भी बहुत कडा था ।

—मेथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

वेगि चलिय प्रभु आनिये, भुजबल त्रिपुबल जीति ।

रामचरित हित सब नर नारी । जनु कवि कविनि चने तकि दारो ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

अवहित्य-मचारी

लज्जा, गारव दृष्टता गोपे आकृति कम ।

आग वहे आगे फरे सुअवहित्य को धर्म ॥

—देव

जो जहँ नहि कष्टु चातुरी दगा दगाये आय ।

ताही सो अवहित्य गह, भाय कटत करिराय ॥

—पद्माकर

चातुर्यपूर्वक वास्तविक बात अथवा कार्य को गुप्त रखना, कुछ कहना कुछ करना अवहित्य सचारी कहलाता है। यह कार्य लज्जा, गौरव तथा धृष्टता से प्रेरित होकर किया जाता है। यथा —

देवन को वन को निकसी यनिता पट्ट चानि बनाइ के पागे ।

देव कहै दुगि दागि के मोहन आय गये उन ते अनुरागे ।

बाल की आती नुड झल सो वन कुजन मे नम पुजन पागे ।

पीछे निहारि निहारत नागिन दाम गिये क सुधानन लागे ।

—देव

भोर जगी जहनुानल भाग म धाय धैमी जल केनि की माती ।

सो परमाकर पेग चल उजले जब तुह तुरह निधाती ।

दूटे हरा छरा दूटे सत्र सखीर भई अँगिया गँगराती ।

को कहती यह मेरी दशा गहतो न गुनिन्द ता मे गहि जाती ।

—पद्माकर (जगडिनेोद)

निरसत ही हरि हरप क, रते सुखांस आय ।

इसत अनि केवल कणे जागो वमहि धाय ।

—पद्माकर

चढ़त घाट निचर्यो सुपग, भरी आइ इन अरु ।
ताहि कहा तुम तर्क रह्यो, यामें कान कलक ॥
काउ कछु अर काहुपै, भति लगाइयो दोष ।
हान लगे ब्रजगलिन में, होरिहारन का घोष ॥

—बिहारी

तन मकोच मन परम उद्धाह । गूढ प्रम लसि परे न काहु ॥
तेमी पीर, निहँमि उगोई । चार नारि जनु प्रगट न रोई ॥
रचि पचि कोटि कहुनि पन, कीन्हेसि कपट प्रबाध ।
कहेसि कथा मत मोतिवर, जाते उदै विषाध ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

त्रियग आया विछुडने का समय दानो आग ।
निछुड कर भी ने परस्पर न गये धितचोर ॥
मार्ग में मिम से ठिठकती ठहगती सा बार ।
गई व्यग्र शकुन्तला रूप को निहार निहार ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

दीनता-सचारी

चिरह अथवा किसी कठिन दुख के असहा होने पर जो
दीनता प्रदर्शित होती है उसे दीनता सचारी कहते हैं । दीन
वचन इत्यादि इस दशा का अनुभव कराते हैं । यथा —

नेन तिन नन दाउ माम अतु पायस के,

चरसत बडे-बडे बूडन मा भरिये ।

मेन मरजोर मोर पवन भुकोरन मो,

आई ह ठमैगि तिन डाता नोर भरिय ।

टटो नेह नाउ छुटो श्याम सों सनेह गुनु,

ताते कपि देव कहैं कैसें धीर करिये ।

गिरह-नदी अपार बडत ही मालधार,

ऊगै अब एक बार खेइ पार करिये ।

—देव (भाव-विलास)

के गिनती सी इती पिनती दिन तीनक लौ बहुवार सुनाई ।

त्यों पदमाकर मोह मया करि तोहि दया न दुखीन की आई ॥

मेरो हरा हर द्वार भयो अब ताहि वतारि वन्है न दिखाई ।

ल्याई न तू कबहुँ बनमाल गुपाल की सो पहिरी पहराई ॥

—पद्माकर (जगडिनोद)

सुख मलीन तन श्रीन छवि, परी सेज पर दीन ।

लेत क्यों न सुधि सोंबरे, नेही निपट नरीन ॥

—पद्माकर

यही कहा उसने कि—कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ ?

मैं धरणी ! त छुके ठीर दे, तुझमें अभी समाऊँ ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

छुट सी हमारी नाउ, चारों ओर है समुद्र,

पाय के ऊकारे उग्र रूढ़ रूप धारे हैं ।

शीघ्र निगल जाने की नोका के चारों ओर,

सिन्धुकी तरङ्गें सौ-सौ जिह्वायें पसारें हैं ।

हारे सभी भाति हम अब तो तुम्हारे बिना,

भूटे जात होते ओर सब के महाने हैं ।

योर क्या कहें अहो ! डुबादो या लगादो पार,

चाहे जो करो शरण । शरण तुम्हारा है ।

—सियारामशरण गुप्त

दूध रही पुण्य भूमि आज प्रजराज ! देखो,

कैसे हा बचेगी जो न आप ही बचाओगे ।

ध्वस्त हुआ जाता मोरभेयी बश कसरिपो ।

नष्ट हुआ गोकुल क्या दूसरा बसाओगे ?

जाते अहो ! मारे ये तुम्हारे मारे प्यारे जन,

माधन ! सुगरे ! बैटभार ! कब आओगे ?

हर जो लगाओगे, न पाओगे किसीकी यहाँ,

पीछे पछताओगे, कडार कहलाओगे ।

—मैथिलीशरण गुप्त (गोवर्द्धन धारण)

बहुत सह उकी हूँ योर कैसे सहूँगी ।

परि सद्ग कलेजा मैं कहाँ पा सकूँगी ।

इस दृष्टित हमारं गात को प्राण त्यागो ।

दुख निग नहीँ तो नित्य गे गे मरूँगी ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

चन्द्रहास हर मम पतितापा । ग्धुपति विरह अनल सतापा ॥

शीतल निशि तत्र यमि वरधारा । कह सीता हर मम दुख भारा ॥

आपन दारुण दीना कहें सब सखि समुझाय ।

—नुलसीदास (रामचरित मानस)

हर्ष सचारी

किसी कार्य के सिद्ध होने, किसी प्रेमी के दर्शन करने

अथवा उसका कुछ समाचार सुनने से चित्त आनन्दित होने को हर्ष-संचारी कहते हैं। पुलकावली तथा प्रस्वेदादि आनन्द सूचक चिह्न ही इसका अनुभव कराते हैं। यथा.—

बड़ी ही सुन्दरि मन्दिर में पति को पथ पखि पतिनत पांखें ।
तो लागि 'आयेरी' आइ कह्यो दुरि द्वाग ते देवर दीरि अगोखे ।
आनंद में गुरु की गुरुताउ गनी गुन गोवि न काहु के अगोखे ।
नूपुर पाँइ उठे मनकाइ सुजाइ लगी वन राय भरोखे ।

—देव

जग जीवन को फल जानि पर्यो धनि नननि का ठहरेयतु है ।
परमाकर ल्यो हुलसै पुलकै तनु सिउ सुधा क अहैयतु है ।
मन पैरत सो रस के नद में अनि आनंद में मिमिजैयतु है ।
अर जवै उरोज लखे तिय के सुररान के राज सो पैगतु है ।

तुमहि मिलोकि मिलोविये हुलसि गगो यो गात ।
आँगी में न समात उर उर में मुद न समात ॥

—पद्माकर

जानि गौरि अनुकूल, मिय दिय हृष न जाइ कहि ।

उदित उदय गिरि भव पर गधुवर बाल पतग ।
त्रिकसे सत मरोज उर, हरषे लोचन भृंग ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

मिलते गिरु थे यनि हर्ष मे, युगक थे रम की निधि लूटते ।
मन को फल लोचन का मिला, निगम के सुरमा सुखान की ।

बहु विनोदित थी नज गलिना, तरणियों मय थी तृण तोड़ती ।
 पल गइ नहु चार प्रयोपती, लस अनूपमता नजचद की ।

—अयोध्यानिह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

हंसते हुए फिर पार्थ गले अथ जिधि वचनापली,
 “गोविन्द ! हो तो तुम बड़े ही क्रूर, मायायी इली ।
 रवि को छिपाने के गधम मुझको मचेत किया नहीं,
 आजाय मरने की दशा, मेरी हँसी होती वहीं ?”
 हँसने लगे तब हरि अद्भुत ! पूगन्दु मा मुख जिल गया,
 हँसना उसी म भीम, अजून सात्यकी का मिल गया ।
 ये मोद आन विनोद के मय सत्तम भोके भेलते,
 भगवान् भक्तों से न जाने खेल क्या-क्या खेलते ?

—मेथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ बध)

घीड़ा-सचारी

किसी कारण लज्जा उत्पन्न होने को घीड़ा-सचारी कहते हैं ।
 इसमें मुख गोपनादि की क्रियाएँ होती हैं । यथा —

आलु मली मुख सोइ मुता सखी माँचेहु सोच सफोच के हाते ।
 हानी भयो बहु कैमे सखोच बढे निशि नाह सो नेह के नाते ।
 केमो कही रनि मानि रही रनिमन्दिर म भरिसा मरमाते ।
 मारि दपेरी हरे दिय देव मुदापि रही अगुनी इय दँते ॥

—देव

कामि परी फिर राजकी स्थान सुआलु ता नैन सो नैन मिला लै ।
 यो पदमाकर प्रीति प्रनीति में नीलि की रीति माता उर मालि ॥

ये दिन यौवन कैतो इतै सुन लाज इती तु करेंगी कहा लै ।
नेक तौ देखन दे मुखचन्दसो चन्द्रमुखी मति घूँघट धालै ॥

—पद्माकर (जगद्विनाद)

गुरु जन लाज समाज रडि, देखि सीय सकुचानि ।

लगी मिलोकनि मलिन तन, रघुवीरहि उर आनि ।

गिरा-अलिनि मुख पड़कज रोंकी । प्रगट न लाज निगा अरलोकी ।

सुनि सनेहमय मजुल बानी । सकुचि सीय मन महुँ खुसुकानी ॥

तिनहि मिलोकि मिलोकि धरणी । दुहुँ मकोच सकुचति वर वरणी ।

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी । बोली मधुर वचन पिकवयनी ॥

x

x

x

x

बहुरि घदन निरु अचल ढाँकी । पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी ।

मजनि मजु तिरीछे नयननि । निज पति कोउ तिनहि सिय सयननि ।

अ गद वचन सुनत सकुचाना । रहा बालि धानर मैं जाना ।

गहसि न रामचरण शठ जाई । सुनत किरा मन अति सकुचाई ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

उग्रता-सचारी

हृदय में दया का संचार न होना ही उग्रता-सचारी है । दोष, कीर्तन, चौरता, दुर्जनता और अपराधादि से इसका अनुभव होता है । यथा —

मोहन माइ भये मधुरापति देन महा मद सों मदमाती ।

गोकुल गाँव के गोप गरीब है यासुपरायट्टी कौ ईहाँ ती ।

बढ़ि रहो सपनेहु सुन्यो कहूँ राजनि सो परजानि को नातो ।
कोरे परे अग कूचरी के हरियाते कियो हम सों हित हाता ।

—देव

हूँ गद्दी कनोडी मति कौडी भई गोपी अति,
दोडी फिरी लौंडी काँ न लाज धारियतु है ।
चने महागज आज सुनै है समाज-वाद
ताते परियाद हमहुँ पुकारियतु है ।
दरद हरे है तन गरद निशाम श्याम,
अब क्यों कन्द लै करजा फारियतु है ।
चाहिये कठोरता न ऐसी बरजोर ऊधो,
काकरी के चोगन कटारी मानियतु है ॥
कहा कहीं सखि काम को, द्विज निरदपन आज ।
तन जारत पारत विपति, अपति उजारत लाज ॥

—पद्माकर

जितेहु सुरासुर तन श्रम नार्ही । नर बानर केहि लेखे मारही ॥

तुलसीदास (रामचरित मानस)

थे पक्ष के चक्षे लगे, निज स्वार्थ ही में जो पग ।
बड़े अनेको थे शिकारी धर्म के ।
अ गाय के सन काम थे, लेते सुमति का नाम थे ।
भय हीन थे साथी सभी दुःकर्म के ।
दुराज के आग्रे से, पकड़ी हुई आवेश मे ।

मैं घस्त्र केवल एक ही धारण किये ।
 लाई गई उस वान में, जकड़ी हुई अपमान में ।
 बड़े चहों सन न्याय का झडा लिये ।
 तैलादि से रहते सिचे, सां केश भी थ वम बिचे ।
 पर नृ न रेंगी थी किसी के वान म ।
 कुछ पूछने पर रोप था, ओ गालियो का कोप था ।
 घम हो रहे सब चूर थे अभिमान में ।

—स्वरचित (रुग्ण-भीष्म सवाद)

“सुनो, हे राम ! कटफ आप हूँ मैं,
 कहूँ क्या और, बस उपचाप हूँ म ।

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

“बाते कहता प्रह्लाद आज यो पेसी, यह विज्ञा है विपरीत तुम्हारी बेसी ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

निद्रा-सचारी

‘चिन्ता आलस्य तथा खेद के कारण जब चित्त में चाह
 निवास करती है तो वह दशा निद्रा-सचारी कही जाती है ।
 इसमें स्वप्न-दर्शन अवयव-प्रचलनादि की क्रियाएँ नहीं होती ।

व्याख्या :—

सोयत तँ स्खी जानी नहीं वह सोयत में घर आयो श्मात ।
 पीतपटी कटि सों लपटी अरु साँगे सुन्दर रूप मँवार ।

देव अपने लगे आँखिन ते वह गौकी चितोनि टरै नहि टारै ।

सापने में चित चोरि लियो यहि चोररी मोर-पखौजन बार ।

—देव

उक्त उदाहरण स्वप्न-संचारी के उदाहरण में भी अंकित किया जा चुका है। विचार करने पर इसमें स्वप्न तथा निद्रा-संचारी दोनों का ही सम्मेलन ज्ञात होता है। मनुष्य की इन दोन दशाओं का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है—(१) जाग्रति, (२) स्वप्न और (३) सुषुप्ति। वहाँ निद्रा तथा स्वप्न में नोटे-कार से कोई अन्तर नहीं पाया जाता। परन्तु मीमांसको ने जल की भी खाल छींचकर अनेक अन्य अवस्थाओं का अन्वे-षण कर डाला है। हम पद्माकरजी के मतानुसार इन दोनों अवस्थाओं में केवल यह भेद मानते हैं कि स्वप्न में तो प्रिय-दर्शनादि की क्रियाएँ या हित और अहित सम्यन्धी कार्यों का दिग्दर्शन हुआ करता है और निद्रा में नहीं होता। परन्तु भेद देवजी ने नहीं माने। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वह एक अच्छे वेदान्ती थे, जिसकी सत्यता उनके निमित्त आह्लाददर्शन-पच्चीसी, आत्मदर्शन पच्चीसी तथा जग-दर्शन पच्चीसी के अवलोकन करने पर प्रकट होती है। यथा —

किसी मनुष्य ने कहा कि आज रात को मैं ऐसा सोया कि मुझे कुछ भी होश नहीं रहा। वास्तव में क्या उसकी यह बात सत्य है ? नहीं, क्योंकि, यदि उसे कुछ भी होश नहीं रहा तो वह

होश न रहने की बात कैसे कहता है। अर्थात् होश ता दोनों अवस्थाओं (१) स्वप्न तथा (२) निद्रा में रहता है, परन्तु व्यवहार में प्रथम और द्वितीय दोनों में यह भेद माना है जो हमने उपर्युक्त उदाहरण में रेखाओं द्वारा प्रकट कर दिया है। पहला उदाहरण निद्रा का है और दूसरा स्वप्न का।

दूसरा उदाहरण :—

चहचही चुभके चुभी है चौंक चुबा की,
 लहलही लौनी लटै लपटी सुलक पर।
 फहै पदमाकर मजानि मरगजी मजु,
 मसकी सु आगी है उरोजन के अंग पर।
 सोई सरसार यो सुगंधनि समोई स्वेद,
 सीतल सलोने लोने वदन मयक पर।
 किसरी नरी है कै छरी है छनिदार परी
 इटि सी परी है के परी है परयक पर।
 नद नदन नव नागरी, लखि सोवत निरमूल।
 उर उधरे उरजन निरसि, रणो सुआनन फूल ॥

—जगद्धिनोद

शीतल पवन के योग से, छायादि शुभ संयोग से।
 रानी वसन कुछ देर को थीं सोगई ॥

—नल दमयन्ती-संवाद (स्वरचित)

ते सिय राम सागरी सांघे।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

व्याधि-सचारी

पीतम के वियोग, काम के प्रकोप अथवा किसी अन्य कारण से ज्वर—रोगादि—संचारको व्याधि सचारी कहते हैं। यथा—

ता दिन ते अति व्याकुल है तिय जा दिन ते पिय पथ सिचारे ।
भूख न प्यास विना प्रजभूपन भामिनि भूपन भेष बिसारे ।
पावत पीर नहीं करि देव करोरिक मूरि सबे करि हारे ।
नारी निहारि निहारि चले सजि वेद निचारि विचारि निचारे ।

—देव

दूरही ते देखत निधा में मैं या त्रियोगिन की,
आई भले भाजि टाँ इलाज मदि आवेगी ।
कहे पदमाकर सुनो हो घनश्याम जाहि,
चेतत कहू जो एक आहि कढ़ि आवेगी ।
सरि सरित्तान को न सूखत लगेगी देर,
एती कटु जुलमिन ज्वाल यदि आवेगी ।
ताके तन ताप की कहीं मैं कहा घात मेरे,
गातहि छुन तो तुम्हें ताप चढ़ि आवेगी ।
कय की अवन अजार मैं, परी चाम तन छाम ।
तित कोऊ मति लीजियो, चन्द्रोदय को नाम ॥

—पद्माकर

देखी व्याधि असाधि नृप, पर्यो घरणि धुनि माथ ।
कहत परम आरत वचन, राम राम, रघुनाथ ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

दुखदायी हो आज यह, शीतल सुखद समीर ।
 प्रिया निना करता व्यथित, मेरा तप्त शरीर ॥
 मेरा तप्त शरीर न इससे सुख पाता है,

उलटा आग-समान उसे यह झुलसाता है ॥
 बिभोने यह बात बहुत ही दीक बताई ।

वन जाती है कहीं सुधा भी निष दुःखदाई ॥
 होती ज्यों निशि में निकल कोकी कोक-विहीन ।
 थी त्योंही वह प्रिय चिना निरह निकल अति दीन ।
 निरह निकल अति दीन न कल पाती थी पलभर ।

दोनों सखियाँ यद्यपि यत्न में थीं अति तत्पर ।
 क्षण क्षण में विरहाग्नि धैर्य उसका थी खोती ।

श्रौपथियों से दूर मानसिक व्याधि न होती ।
 —मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

पुष्प सूकते अग्नि सम, पवन—सर्द है देह जलाता ।
 नाथ पधारो शीघ्र अथ समय खेल है अजब खिलाता ॥

—स्वरचित (विचित्र स्वप्न)

मन की कासों पीर सुनाऊ

वकनो वृथा और पत खोनी सत्रै चलाई गाऊ ।

फठिन दरद फोऊ नहि हरिहँ धरि हे बलशे नाऊ ।

यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों कर प्रगट जनाऊ ।

रोम-रोम प्रति नेन अवन मन केहि धुनि रूप लखाऊ ।

बिना सुजान शिरोमनि री केहि हियरी काढ़ि दिसाऊ ।

मरमिन सखिन मिथोग दुदिन क्यों कहि निज बया रोखाऊ ।

हरिचन्द पीय मिलै तो पग परि गहि पटुफा समुखाऊ ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द (चन्द्रावली नाटिका)

मरम की पीर न जानत कोय ।

कासों कहीं कोन पुनि माने पैठि रहों घर रोय ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रावली)

मेरे तन अति याद्री निरह पौर अन्न नहि सहि जाई हो ।

अन्न कोउ उपाय मोहि नहि लपाय,

दूर कासों कहीं कछु कहि न जाय ।

मनहीं निरह की अग्नि धई धुआ ॥ खिलाई हो ॥

वई मारी लाज रेखि सी आज,

कहो आवत मेरे कोन काज ।

पिय बिन मेरो जियरा तडपै कछु नाहि बसाई हो ।

चढ़ानत हे मो पे काम कमान ॥

—विद्यासुन्दर

कमल नाल त्रिव जाल सम, हार भार अहि भोग ।

मलय प्रणय जल अनल मोहि, वायु आयु हर रोग ॥

—क० भ०

मरण-संचारी

शरीर से प्राण वायु के निकल जाने को मरण संचारी कहते हैं । कवि लोग इस संचारी-भाव का शृंगार में वर्णन नहीं करते, क्योंकि इस प्रकार रस की हानि होती है । इसलिए मरण का वर्णन केवल इस प्रकार करना चाहिए, जिसमें रस की हानि न हो । यथा—
 और और सतियों काही मरण वर्णन किया जाय ।
 बहुधा मरण के वर्णन में मरणासन्न दशा तक पहुँचा के सचेत करा देते हैं । यथा—

राधिके बाढी नियोग की बाधा सुदेव अगोल अडोल ढरी रही ।
 लोगन की वृषभान के भौन में भोरते भारिये भीर भरी रही ।
 बाके निदान कै प्रान रहे कढि औपजि मुरि करोरि करी रही ।
 चेति मरु करि के चितई जय चारि घरी लौ मरी सी धरी रही ।

—देव

जानकी को सुनि आरत नाद सुजानि दशाग्न की छलहाँई ।
 त्यों पदमाकर नीच निशाचर धाइ अकाश में आयौ तहाँई ।
 राजण ऐसे महा रिपु सों अति युद्ध कियो अपने चलतोंई ।
 सोहत श्री रघुराज के काजपै जीय तजै तौ जटायु की नाँई ।

—जगछिनोद

हने राम दशसीस के, दसौ शीत भुज थीस ।
 लै जटायु की नजरि जनु, उड़े गीध तन तीस ॥

—पद्माकर

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम ।
 तन त्यागे दशरथ नृपति, गवने सुरपति धाम ।

प्राण तजत प्रगटेसि निज देही । सुमिरिसि राम सहित धैरेही ॥

अस कहि योग अग्नि तनु जारा । भयउ सफल भय हाहाकारा ॥

रामचरण दृढ प्रीति कनि, पानि फीन्द तनु त्याग ।

धन समान सो गर्जि अभागा । मरती बार फपट सन त्यागा ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

कहाँ हो राम हो प्रानों से प्यारे ।

यह कह दशरथजी मुरपुर को सिधारे ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द, (दशरथ विलाप)

हृग वन्द कर तब यह यथोधन सर्वदा को सो गया ।

हा । एक अनुपम रत्न मानों मेदिनी का लो गया ।

—मथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

दशरथ देखत शान्ति सदन परताप सिधाये ।

पराधीनता मेघ बहुरि भारत मिर छाये ।

—राधाकृष्णदास (प्रताप-विसर्जन)

अभी ऊपर कहा जा चुका है कि मरणावस्था के वर्णन में रसाभास समझकर बहुधा भूर्छा का ही वर्णन करते हैं, जैसा कि उदाहरण (१) में देवजी के छन्द से प्रकट होता है, किन्तु कविघर विहारीलालजी ने इस नियम का उल्लङ्घन करते हुए मरण का ही वर्णन किया है । यथा —

कहा कहाँ बाकी रसा, हरि प्रानन के ईस ।

निरद ज्वाल जरियो लखे, मरियो भयो असीस ।

अपस्मार—सचारी

अत्यन्त दुःख अथवा भय इत्यादि के कारण-पृथ्वी पर गिर पडने, मुँह से फेन निकलने, बारम्बार निस्वास लेने अर्थात् मृगरीोग ग्रसित मनुष्य की सी दशा हो जाने को अपस्मार-

नचारी कहते हैं । इसमें अपवित्र तथा एकान्त स्थल में निवास भी होता है । यथा —

जा छिन ते छिन सानरे सानरे लागे कटाच्छ कट्ट अनियारे ।
 ल्यो पदमाकर ताछिनते तियसो अँग अग न जात सम्हारे ।
 हँ हिय हायल बायल सी घन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे ।
 नेन गये फिर कैन चहे मुख चेन रगो नहि मेन के मारे ।

लखि निहास एकै कहत, भई कहूँ भय भीत ।
 इकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीत ॥

—जगद्विनोद

अस कहि सुरजि परे महिराज ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कहती हुई बहु भाति यो ही भारती करुणामयी ।
 फिर भी हुई मूर्छित अहो ! वह दुःखिनी निवना नयी ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

आवेग-सञ्चारी

अत्यन्त भय अथवा प्रिय व अप्रिय कार्य के देखने वा सुनने से आतुरता के साथ उठ खलना या अचानक भारी भ्रम में निमग्न हो जाने का नाम आवेग-सञ्चारी है । इसी को सम्भ्रम भी कहते हैं । यथा .—

“... देखन दौरी सने ब्रजवाल सुआये गुपाल सुने ब्रज भू पर ।

हार दिये न सम्हारती टूटत वारन किकिन नृपु ।

भार उरोज नितम्बन का न मह कटि औ लटिनो हग दूपर' ।
 देन सुदै पथ आई मनो चडि धाई मनोरथ के रथ उपर ।

—देव

आई सग आनिनि के ननद पठाई नीति,
 सोहत मोहाई मोत ईडुरी सुपट की ।
 कहै पदमाकर गँभीर यमुना के तीर,
 लागी घट भरन नैली नेह अटकी ।
 ताही समय मोहन सुनासुरी बजाई तामें,
 मजुर मलार गाई ओर बशीरट की ।
 तान लगे लटकी रही न सुत्रि घूण्ट की,
 घाट की न ओरट की घाट की न घट की ।
 सन ही के गोधन है सन ही के बालाबाल,
 सय ही के परी आय भानन की भीर है ।
 सय ही पर घरमत गोरा धार मेह यह,
 सन ही की छाती छेद पारत समीर है ।
 मेरो ही अनोखो यह वेदा है कि मागि आन्यो,
 योक्लिल पहार तरे कोमल शरीर है ।
 गिरि याके करते घरीक किन लेय बैज,
 सन ही अहीर पे न काहू हरी पीर है ।
 सुनि आहट पिय पगन की, भभरि भजी रौ नारि ।
 कहु कवन कहूँ किक्की, कहूँ सुनूपुर दारि ।

—जगद्विनोद

का देखाय चह काह दिखाना ।

भय-संचारी ।

आजु गुपाल जू बाल बधू सग नूतन नूतने कुज बसे निसि ।
जागर होत उजागर नेननि पाग पै पीरी पराग रही पिसि ।
चोज के चन्दन रोज खुले जहँ अँछे उरोज रहे उर में धँसि ।
बोलत बात लजात से जात सुआये इतात चितोत चहुँदिसि ।

—देव

ए ब्रजचन्द गोविन्द गोपाल सुनौ कि न केत कलाम किये मैं ।
त्यो पदमाकर आनेद के नँद हौ नँदनदन जानि लिये मैं ।
मासन चोरी के खोरिन हूँ चले भाजि कटु भय मानि जिये मैं ।
दूरिहुँ दोरि दुर्यो जो चहो तो दुरो किन मेरे अँधेरे हिये मैं ।

शिशिर शीत भय भीत कछु, परि प्रीतिम कै पाँय ।

आपुहि ते तज मान तिय, मिली प्रीति में जाय ॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

१६

भा निरास उपजी मन आसा ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लगे विग्न सितारे गद धरके ।
धीजापुर धीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मोरन के शडिम से दग्गे ।

ढाढी के रखैयन की ढाढी सी रहति छाती,

गाढी मरजाद जम हइ हिन्दुवाने की ।

—भूपण

उन्माद-सञ्चारी

प्रिय वियोगादि के कारण चित्त का इतना उद्विग्न होजाना कि विचार शक्ति अत्यन्त क्षीण होजावे, विना विचारे ही आचरण कर उठे, व्यर्थ हँसे, रोवे अथवा बकवाद करे तो ऐसी दशा को उन्माद सञ्चारी कहते हैं। यथा —

अरि के यह आज अपेली गई लरिकै हरि के गुनरूप लुही ।
 उनहुँ अपना पहिराय दृग मुसस्याइ कै गाइ कै गाय दुही ।
 कनि न करों किनि काँज कटु तय ते उनके अनुराग लुही ।
 सनही सों यह कंह बाल बधू यह दखौरी माल गुपाल गुही ।

—देव

आपुहि आप पे रुसि रही कयहुँ पुनि आपुहि आप मनावै ।
 त्यो पदमाकर ताकि तमालनि भेटिने को कयहुँ बठि धावै ।
 जो हरि रागरो चित्र लखै तो कहूँ कयहुँ हँसि हँसि धुलावै ।
 व्याकुल बाल मुग्रानिन 'सों करो चाहै कछु तो कटु कहि आवै ।
 दिन रोगति दिन हँसि उठनि, दिन बोलति दिन मोन ।
 दिन दिन पर छीनी परति, भई दशा धौ कान ?

—पद्माकर

लक्ष्मण समुझाये बहु भँती । पूँछत चले लता तर पौती ।
 हे समष्टग, हे मनुष्य श्रेणी । तुम देखी सीता मृगनेनी ।
 सनन, शुक्, कपोत, मृग, मीना । मधुपनिकर कोकिलाप्रयीना ।
 कुदकली हे दाड़िम दामिनि । हे हे कमल शरद शशिभामिनि ।

यदिनिविनिलपतलोजतत्पामी । मनहुँ महा निरही अतिकामी ।
 तुलसीदास (रामचरित)

एहो ! वन के रूख कहूँ देख्यौ प्रिय प्यारो ।

मेरो हाथ छुड़ा कहौ वह कितै सिधारो ।

अहो कदम्ब अहो अम्व निम्ब अहो बकुल तमाला ।

तुम देख्यौ कहूँ मनमोहन सुन्दर नैशाला ।

अहो कुज वन लता निरुज वृन पूछत तोसों ।

तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों ।

अहो जमुना, अहो खगमृग गण, अहो गोउरधनगिरि ।

तुम देखे कहु प्राण पियारे मनमोहन हरि ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रावली)

मेरे प्यारे नव जलद से कज से नेत्र वाले ।

जा के आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा ।

मैं रो रो के प्रिय निरह से पावलो हो रही हूँ ।

जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुनादे ।

जो ऐसा तू नहिँ कर सके तो किया चातुरी से ।

जाके रोने निकलपने आदिही को दिखादे ।

चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी ।

हा हा मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे ।

तू जाती है सकल थल ही बेगमाली बडी है ।

तू है सीरी तरल हृदया ताप बन्दलती है ।

मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु ! तेरा भरोसा ।

जैसे हो ऐ भगिनि निगडी वात मेरी घना दे ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

जडता—सञ्चारी

जब किसी हित अथवा अहित के कारण चित्त की वृत्ति

में कर्तव्याकर्तव्य के विचारने की क्षमता नहीं रहती तो उस दशा को जड़ता संचारी कहते हैं। यथा —

फालिन्दी तट काटि भट्ट कहुँ छै गई दोउन भेंटें भली सी ।
ठोरही ठाडेंचितोत इतौत न नेकऊ एक टकी टहली सी ।
देव को देखती देवता सी बृषभान लली न हली न खली सी ।
नन्द के छोहरा की छत्रि सां बिलु एक रही छत्रि छैल छली सी ।
आज घरसाने की नथेली अलथेली यधू,

मोहन विलोकिये को साज काज लेरही ।
छज्जा छज्जा भावती भरोपनि भरोखनि हे,

चित्रसारी चित्रसारी चन्द्र सम छै रही ।
कहे पदमाकर त्यों निक्स्यो गोविन्द ताहि,
जहाँ तहाँ इकटक ताकि घरी दूवै रही ।

छज्जा घारी छफी सी बभूकी सी भरोपावारी ,
चित्र पेसी लिखी चित्रसारी घारी छै रही ।

हलैं दुहुँ न चलैं दुहुँ, दुहुन बिसरिगे गेह ।
इकटक दुहुँ न दुहुँ लखैं, अटक अटपटे नेह ॥

—पद्माकर (जगद्धिनोद)

भो जड कम्पित स्वेदमय, परमन मन सुखदानि ।
द्विटकि परयो कित जड कॅपत, तासु पसीजत पानि ॥

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित-नाटक)

जाइ समीप राम छवि देखी । रहि जनु कुँवरि त्रिभ अंगरेखी ॥
चतुर सखी लखि कहा चुकाई । पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥
सुनत युगल घर माल उठाई । प्रेम निनय पहिराइ न जाई ॥

मुनि मग माफ़ अचल होइ वैसा ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

चपलता-संचारी

अधिक अनुराग क्रोध तथा विरोध-विवश स्मृति का न होना ही चपलता-संचारी है। जो मन में आवे, बिना आगा-पीछा सोच कर बैठना ही इसका मुख्य लक्षण है। यथा—

खेलत मे वृषभान सुता कहुँ जाय धँती उन कु जन में हूँ ।

हार सों हार तहाँ उरभूयो सुरभाइ रहीं कनि देव सखी दूँ ।
तौ लागि आय गयो उततैं सुनगीच मनो चित धीच परे चूँ ।

छोहरवा हरवा हरवाइ है छोरि दियो छल सा छतिया छूँ ।

कौतुक एक लखौ हरियाँ पदमाकर यो तुम्हें जाहिर की में ।

कोऊ बडे घर की ठपुराइन ठाडी निघात रहै दिनकी में ।

भाकति है कपहुँ भकरौन भरोखनि त्यो सिरकी सिरकी में ।

भाँकति ही खिरकी में फिरे थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी में ।

चफरी लौ सकरी गलिन, दिन आवत दिन जात ।

परी प्रेम के फद में, नधू प्रतावति रात ।

—पद्माकर

देखन नगर भूप सुत आवे । समाचार पुरनातिन पाये ।

धाये धाम काम सय त्यागे । मनहुँ रक्निधि लूटन लागे ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

गदि बडे बडे धीर, रणो करे, यह कहा अरु दोग भयानो ।

फलु न लाभ बूधा बकनाइ सों, सरन मारि हरौ तुम्हरी धुजा ।

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित-नाटक)

वितर्क-संचारी

किसी प्रकार का विचार करते ही चित्त में ऐसे भावों का उत्पन्न होना जिनसे कोई एक नियम स्थिर न हो सके, वितर्क-संचारी कहलाता है। चित्त में तर्क-वितर्क का होना ही इसका मुख्य लक्षण है। महाकवि देव के मतानुसार यह संचारी भाव चार प्रकार का होता है, जैसा कि निम्न लिखित उदाहरणों पर विचार करने से सिद्ध होगा।

विप्रतिपत्ति वितर्क

यथा —

यह तो बहुत भामिनी केसो लसै मुख देखत ही दुख जात रहे रै।
सफरी मद-भोचन सोचन ये परिहैं कहूँ मानो चितात ही खे।
कनि देव कहैं कहिये जुग जो जलजात रहे जल जात में खे।
न सुने तनो काहु कहूँ फनहूँ कि मर्यक के अक में पकज है।

—देव

निज मन महलावा रामने या किया है ?
सचमुच अथवा जानकी दाप पाया ?
तन, मन, बचनों से जो रही कथ दासी—
यह शुभ गुणगीला क्यों सदापा हुई हों।

—स्वरचित (सीता प्रयास)

विचार-वितर्क

वाम धमान ते वान उतारिहैं देव नहीं मधु माधन रहै।
काकिलऊ कल कोमल घोल विसारि के आप अनोप कहैं है।

मोहि महा दुख दै सजनी रजनीकर ओ रजनी घटि जैहै ।

प्राण पियारे तो ऐहैं घरै पर प्राण पयान कै फेरि न ऐहैं ।

जो पै कहौ रहिये तो प्रभुता प्रगट होत,

चलन कहौ तो हित दानि नहीं सहनै ।

भावै सु करहु तौ उदास भाव प्राणनाथ ।

सग ले चलौ तो केमे लोक लाज बहनै ।

केसो "किसोराइ" की सो सुनहु छनीले लाल ।

चले ही जनत जो पै नाहीं राज रहने ।

तुम ही सिखागै सीख सुनहु सुजान पिय ।

तुमहि चलत मोहि जैसी कहु कहने ।

—केशव

लफा निश्चर निकर निगासा । इहो कहा सज्जन कर बासा ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मुत्र बुधि मन सोई वात आती न यां थी,

निज-विधु-मुख नीचा वो किये सोचते थैं ।

असुरपति हना या कष्ट लायो उठा के,

रवुखलपति ने क्या आज ये ही दिगाने ।

सुदृढ धनुष सदा मान मारे नृपो के,

परशु-वर हराये मान पाया सभी से ।

अट्टह ! प्रभु हगों से क्या—इसी को गिज्ञाने,

जनक प्रण उगारा जानकी को धरा था ?

—स्वरचित (सीता प्रवास)

सशय-वितर्क

यह कैधौ कलाधर ही की कला अवला किधौ काम की कैधौ सचा ।
 किधौ कौन के भोन की दीप सिखा सखी कौन के भाल हूँ भाग सचा ।
 तिहुँलोक की सुदस्ताई की एक अनूपम रूप की रासि मची ।
 नर फिर सिद्ध सुरासुरहुन की पाँचि वधूनि विरचि रची ।

किधौ सो अधपक आम मँ, मानहु मिल्यो मनिन्द ।

किधो तनिफ हूँ तम रहै, कै ठोडी को निन्द ॥

तू पति रता कृष्णा यनी, पति भक्ति में रहती सनी ।

तेरा डिगा सकता भला सत कौन है ।

सीता कहूँ अथवा सती, कमला, शची या है रती ।

उपमा रही है खोज पाणी मीन हे ।

—स्वरचित (कृष्णा भीष्म-संवाद)

अव्यवसाय-वितर्क

यहु कौन की चम्पक चार लता यह देखि सँ जन भूलि रहे ।

कनि देव इती में कहा मिलसे निन सीफल से घरि धूनि रहे ।

तिहि ऊपर को यह सोम नयोतम तोम चहुँ दिसि भूलि रहे ।

चित्तियें चित धोरत को न तहाँ नवनीन सरोज से फूलि रहे ।

घोस गुण गारि के सुगिगिजा गुमाँइन को आवत यहाँ ही अति आनन्द इतै रहे ।

बँद पदमाकर प्रतापसिद्ध महाराज देखो दखिबे काँ दिव्य देवता नितै रँद ।

शैल तजि बेल तजि फौल तजि गैसन मँ हेरत उमा काँ यो उमापनि दितै रहे ।

गौरिन में कौन धाँ हमारीगुण गोरी अँहँ शशु परी चारिक लौ चरुत चितै ॥

मोहि महा दुख दै सजनी रजनीकर औ रजनी घटि जैहै ।
 प्रान पियारे तो ऐहै घरै पर प्रान पयान के फेरि न ऐहै ।
 जो पे कहौ रहिये तो प्रभुता प्रगट होत,
 चलन कहौ तो हित हानि नहीं सहनै ।
 भावै सु करहु तौ उदास भान प्राणनाथ ।
 सग लै चलौ तो कैसे लोक लाज बहने ।
 केसो "केसोराट" की सो सुनहु छबीले लाल ।
 चले ही बनत जो पे नाहीं राज रहने ।
 तुम ही सिखागौ सीख सुनहु सुजान पिय ।
 तुमहि चलत मोहि जैसी कहु कहने ।

—केशव

लका निश्चर निकर निगमा । इहाँ कहा सज्जन कर यासा ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

सुख दुखि सन सोई बात आती न या थी,
 निज मिथु-खुब नीचा वो किये सोचते थे ।
 असुरपति हुना था कट्ट लासो उठा के,
 रघुकुलपति ने क्या आज ये ही रिखाने ।
 सुदढ धनुष सदा मान मारे नृपां के,
 परशु-वर हगये मान पाया सभी से ।
 अहह ! प्रभु दगो से क्या—इसी को दिखाने,
 जनक प्रण उगारा जानकी को पग था ?

—स्वरचित (सीता प्रवास)

सशय-वितर्क

यह केधा कलाधर ही की कला अथवा किधौ काम की केधौ सचा ।
 किधौ कोन के मोन की दीप मिखा समी कौन के भाल हूँ भाग सचा ।
 तिहुँलोक की सु-दरताई की एक अनूपम रूप की रासि मची ।
 मर किमर सिद्ध सुरामुरहुन की बाँधि बधूनि निरधि रही ।

किधौ सो अधपक आम भं, मानहु मिल्यो मलिद ।

किधौ तनिफ हूँ सम रहौ, के ठोडी को निन्द ॥

तू पति रता कृष्णा धनी, पति भक्ति भ रहती सनी ।

तेरा डिगा सकता बना सत कौन है ।

सीता कहूँ अथवा सती, कमला, शची या दे रती ।

वपमा रही है रोज याणी मोन है ।

—स्वरचित (कृष्णा भीष्म-संवाद)

अध्यवसाय-वितर्क

फहु कोन की चम्पक चारु लता यह देखि सब जन भूलि रहे ।

कनि देव इती में कहा मिलसै निज सीफल से धरि भूलि रहे ।

तिहि उपर को यह सोम नयोतम तोम चहुँ दिशि भूलि रहे ।

चितपें चित चोरत का एतहाँ नवनील सरोज से धूलि रहे ।

घोस गुण गौगि के सुगिरिजा गुमाइन का आश्रित यहाँ ही अति आनन्द इते रहै ।

कहैं पद्माकर प्रतापसिंह महाराज देसा देखिने काँ दिग्य देवता तितै रहै ।

शैल तजि शैल तजि कैल सजि शैलन भँ हेरत समा काँ यो समापनि हिते रहे ।

गारिन में कौन धौ गोवि थहै शशु धरी चारिक लाँ चहत चितै रहे ।

सचारी भावों पर कुछ ध्यान देने योग्य बातें

सचारी-भावों के जो उपर्युक्त ३३ भेद भरनादिक आचार्यों ने कल्पित किये हैं, आवश्यकतानुसार उनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी भाषा के परम प्रसिद्ध, प्रेम की साक्षात् मूर्ति उपस्थित करनेवाले देवजी महाराज ने एक चौंतीसवाँ सचारी-भाव छल और भी कहा है। हम उनका कथित छल का लक्षण तथा उदाहरण भी पाठकों की भेंट करते हैं; क्योंकि विचार करने पर यह स्पष्ट विदित हुआ कि उपर्युक्त निर्वेदादि ३३ भावों में कहीं इसका सम्मेलन नहीं है और बहुधा छल का संचार होता ही है। हम नहीं समझ सकते कि उसे किस भेद के साथ मिलावें। यदि अवहित्य इत्यादि के साथ इसको मिलावें तो भी छल स्पष्ट नहीं होता। अतः देवजी का यह चौंतीसवाँ भेद करना समुचित ही है।

छल—सचारी

लक्षण :—

अपमानादिक करन को, कीजै किया छिपाय ।

धक शक्ति अन्तर बपट, सो धरने छल मान ॥

उदाहरण :—

ह्याम सयाने कहागत हैं कहाँ आजु के काहि सयानु हे दीहो ।

देव कहें दुरि डेरि कुटीर में आपनो वर बधु रहि लीन्हों ।

चूमि गई छल ओचक ही पद ले गई पे इन याहि न चीन्हों ।

धेल भले दिन ही में धले दिन ही में छवीली भलो छल पीन्हो ।

—देव

कविवर देवदत्तजी ने 'मति-सचारी' को स्पष्ट करने के लिये उसके अन्तर्गत (१) उपालम्भ । (२) अनुनय विनय और उपदेश का भी वर्णन किया है । उपालम्भ दो प्रकार का होता है—(१) कोप से और (२) प्रणय से । 'मति' के प्रबोध के लिये हम इनके उदाहरण भी अंकित करते हैं —

उपालम्भ कोप से—(१)

घोलत हो—कत तेन बडे गरु नेन बडे बडरान अडे हो ।
जानतिही छल छेल बडे जू बडे रान के इह गल गडे हो ।
देव कहँ हरि रूप बडे ब्रज भूप बडे हम पै उमडे हो ।
जाडजी जाड अनीठ बडे अर इँठ बडे पर दीठ बडे हो ।

प्रणय से—(२)

लाल भले हो कहा कहिये कहिये तौ कहा कहँ कोऊ कहँये ।
काहु कहू न कही न सुनी सुहर्म कहिये कहँ काहि सुनैयै ।
नेन परै न परै कर मेन न चेन परै सु पै तेन बरेये ।
देव कहँ नित को मिनि खेलि इते दित वै चित को न चुरेयै ।

अनुनय-विनय—

बे बड भाग बडे अनुराग इत अति भाग सुहाग भरी हो ।
बँदो निचारि समी मुख को तन जोवन जोतिन सो बजती हो ।
वालम सो उठि घोलो घलाय लें यो कहि देव सयानी रारी हो ।
हेरत बाट कपाट लगे हरि बाट खरे तुम खाट परी हो ।

उपदेश —

प्रेम से पीच परे पिय सो उपजावत रग में भग सुभारी ।
क्रोध विधान विनोद निधान सुमान महासुख में दुख कारी ।

ताते न मान समान अकारज जाकौ यपालु बडौ अधिकारी ।

देव कहैं कहिहैं हित की हरि जू सो हितु न कहूँ हितकारी ।

—देव

इन सम्पूर्ण व्यभिचारी-भावों का वर्णन कर चुकने पर देवजी शृङ्गार में उनका उपयोग एक छप्पय द्वारा प्रगट करते हैं। यह छप्पय काव्यानुरागी महानुभावों के लिये बड़े काम का है। अतः हम उसे नीचे उद्धृत कर सचारी-भावों का वर्णन यहीं समाप्त कर देंगे। यथा छप्पय—

संकाश्या भय गलानि धृति समृति नींद मति ।

चिन्ता निसमय व्याधि हर्ष उत्सुकता जडगति ।

मद निषाद उन्माद लाज अनहिता जानो ।

सहित अपलता ये निशेष सिङ्गार बचानौ ।

अरु समान मत सम्भोग में सकल भान धरनन करौ ।

आलस्य-उग्रता भाव द्वै सहित जुगुप्सा परिहरौ ।

बोहा—आरस ग्लानि निवेद ध्रम, उत्कठा जड जोग ।

सका शूया धृति समृति, बोधोन्माद नियोग ॥

स्थायी भाव ।

जो भाव रसों में स्थिर रहते हैं या जिन भावों के स्थिर होने से रस उत्पन्न होते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। हृदय में रस के अनुकूल जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को स्थायी भाव कहते हैं। येही सम्पूर्ण भावों में शिरोमणि हैं, बिना इनके स्थिर हुए रस परिपूर्ण नहीं होता। इसी कारण काव्य-मर्मज्ञ विद्वज्जन इनको से समता देते हैं।

हम जिन आनन्दों का अनुभव करते हैं उनकी गणना में मतभेद है। कोई मानव प्रकृति के अनुसार उनके भेद करता है, तो कोई गुणों के सम्बन्ध से उनके विभाग निश्चित करता है, और कोई तत्त्वों के हिसाब से उनकी गणना कराता है, परन्तु बहुमतानुसार यह नव हैं जिनको आगे विस्तार-पूर्वक वर्णन करेंगे, उन्हीं नव प्रकार के आनन्दों के अनुकूल नव स्थायी भाव भी हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं —

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) ग्लानि, (८) आश्चर्य, (९) निर्वेद।

रति

नैक तु प्रिय जन गेलि सुनि, आन भाव चित होय।

अति केनिद पति करिनि के, सुमति कहत रति सोय ॥

—देव

प्रेमी तथा प्रेयसी के मिलने की प्रबल इच्छा से उत्पन्न हुई अपूर्व प्रीति का नाम रति है। यह रति तीन प्रकार की होती है —

(१) उत्तम—सदैव एक ही भाव और एक ही रंग से स्थित रहनेवाली प्रीति को उत्तम रति कहते हैं। यथा —

अज्ञ पै पतङ्ग बह दीप के समीप जाय,

वारिज बँधाय भृग दरद न मानई।

सुनि के रिपची धुनि निशित कुरग सई—

सती पति सग गेह दुख को न आनई।

मनि हीन छीन फनी बारिसो निहीन मीन,
 होइ के मलीन मति दीनता नितानई ।
 चातक मयूर मन मेह के सनेह उधा ।
 जाहि लगै नेह सोई देह भले जानई ।

× × ×
 जो दो प्यारे हृदय मिलिके एक ही हो गये हैं,
 क्यों धाता ने मिलग उनके गात को यो किया है ।
 कैसे आके गुरु गिरि पड़े बीच में है उर्फी के,
 जो ने प्रेमी मिलित पय औ गीर लीं नित्यश ये ।

—श्रयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

भूषण यमन सन तज दिये, यस हाथ मे माला लिये ।
 जपती सदा पति नाम को नित नेम से ।
 तन जान कर यह सन दश अपनी सुता की पुर्दशा ।
 भेजे पिता ने गुप्तघर अति प्रेम से ।

—स्वरचित (नल-दमयन्ती सवाद)

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । प्रिय विनु तियहि तरणि ते ताते ।
 भोग रोग सभ भूषण भारू । यम यातना सरिस ससारू ।
 जिय विनु देह नदी विनु घारी । तैसेहि नाथ पुरुष विनु नारी ।
 मैं सुकुमारि नाथ बन योगू । तुमहि वचित तप मो कहँ भोगू ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मध्यम रति

बिना किसी कारण के ही परस्पर स्थिर होनेवाली प्रीति को मध्यम रति कहते हैं । इस प्रेम में हम मित्रों के पारस्परिक प्रेम को परिगणित कर सकते हैं । उदाहरण —

सागरी तीज सुहावनी कौं सजि सूहे दुकूल सरे सुख साधा ।
 त्यो पदमाकर देखे वनै न वनै कहते अनुराग अवाधा ।
 प्रेम के मेह द्विदोरनि में सरमे वरसै रस रग अगाधा ।
 राधिका के हिये झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलति राधा ।

अन्तरधान विरोध भयो हिय सान्त सुभाय ने रम जमायो ।
 पे ठन जाने गई फित के अरु नम्रता ने अति मोह दियायो ।
 दसन तो इनके भट ही यह जानि परै यस काज कै आयो ।
 सो ही तीरथ केसो प्रभाव अनूपम ऐसेनु में निरमायो ।

X

X

X

यह गूढ सुभाष को कारन बेइ सबे जग मं जिय मेल मिलावे ।
 नहि निर्भर सुन्दर रग ओ रूप पे प्रेम प्रथा निहचै मन आवै ।
 लपि मित्र पत्रि सरोरुह हीय प्रफुल्लित प्यारी छटा सरसावे ।
 अरु चन्द्र के होत उदोत द्वे नित चन्दरकान्त मनी चित भावै ।

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित नाटक)

हुई सुग्ध शकुन्तला भी नृपति घर को देख,
 मान देता था जिहें अमेरन्द्र भी स विशेष ।
 इस अनोखे अतिथि को, आतिथ्य मं, रुपचाप,
 दे दिया उसने हृदय भी शीघ्र अपने आप ।

—मेथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

अधम-रति

केवल स्वार्थ वश पारस्परिक प्रेम को अधम रति कहते हैं । सासारिक व्यवहारा में प्राय इसी अधम-रति का प्रचलन है ।

आशु मिले बहुतै दिन भाखते । भेदत भेट कछु खस भाखो ।
 ये भुज भूपन मो भुज बाँधि भुजा भरि के अघरा रस चाखो ।
 दीजिये मोहि ओढ़ाय जरी पट कीजिये नृजिय जो अभिलाखो ।
 देन हमें तुम्हे अतर पारत द्वार अतारि इतै धरि राखो ।
 भेदत ही माँगौ भेट पीछे ते गहति फेट,
 लेखि-लेखि जात अंग हाथन बगादे है ।
 बसन अमोल फटे सपन बना न चार,
 चूनरी रंगा दे धीर धरम भगादे हैं ।
 एरे मतिमद परे मति गनिका के फट,
 ऐसी व्यभिचारि ये प्रेम में दगा दे हैं ।
 काम पै जगा दे व्याधि सिगरी लगा दे दे—
 गादे दे मँगा दे फरै रति में तगा दे है ।

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि, गुण रासि नन्द नृपाल को ।
 अथ अद्र में अनुरक्त हो लपटी सुधा मनु ब्याल को ।
 ज्यो मत्त गज के भरत मद की धार ता साधेहि नसे ।
 त्यों नन्द के साधहि नसी किन निलज अजहू जग बसै ।

—मुद्राराक्षस

हास

वस्तु मात्र में देखी हुई विकृति अथवा विपरीतता, व्यंग,
 दर्शन और परचेष्टा के अनुकरणादि द्वारा जो आह्लादयुक्त
 मनोविकार स्थिर होता है, उसे हास कहते हैं । हास के तीन
 भेद हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम ।

उत्तम के दो भेद हैं :-

- (१) स्मित—मद मुग्धन्यास, जिसमें दाँत दिपल। ई न दें, केवल कपोलों पर किञ्चिन्मात्र सिकुडन पड़े, आँखें कमलवत् विकसित हों, होंठ कुछ हिलने लगे तथा मुख की चेष्टा में एक विशेष प्रकार का माधुर्य प्रगट हो, उसे स्मित-हास कहते हैं।
- (२) हसित—जिस हास में मुख, कपोल और आँखें फूली हुई दिखलाई दें और ख-पक्तियाँ कुछ-कुछ दृष्टिगत होती हों उसे हसित हास कहते हैं।

मध्यम हास के भी दो भेद हैं—

- (१) विहसित—जिस हास में हँसने की क्रिया शब्द-युक्त होती है, लोग स्पष्ट रीति से उसका अनुभव कर सकते हैं तथा नेत्र कुछ कुछ सिकुड जाते हैं, उसे विहसित-हास कहते हैं।
- (२) उपहसित—जिसमें नयने फूल जाते हैं, सिर तथा स्क्न्ध सिकुड जाते हैं और दृष्टि में कुछ उक्तता आ जाती है, उस हास को उपहसित कहते हैं।

अधम हास भी दो प्रकार का होता है—

- (१) अपहसित—जिस उद्धत हास में सिर तथा कंधे स्पष्ट रूप से हिलने लगे और चक्षुओं के कोये में जलविन्दु झलकने लगे उसे अपहसित-हास कहते हैं।

(२) अतिहसित—इसमें हास्य के सम्पूर्ण लक्षण तथा उनके प्रतिफल अत्यन्त स्पष्ट होते हैं। शरीर काँपने लगता है, अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है—यहाँ तक कि हँसते-हँसते पेट पकड़ना पड़ता है। इसी को अट्टहास भी कहते हैं—ठठाकर हँसने से भी यही अभिप्राय है।

इस प्रकार हास के ये छः भेद हुए। उनमें से प्रत्येक का उदाहरण यहाँ दिया जाता है जिससे उनके समझने में कठिनाई न हो।

स्मित-हास

सतर भौंह रूखे वचन । करति कठिन मन नीति ।
बहा करौं हूँ जाति हरि, हेरि हँसो ही डीठि ॥

—विहारी

रीझहि राजकुँवरि छनि देखी । इनहि घरहि हरि जानि निसेयी ॥
सोइ करहु जेहि नाव न जाई ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

मित्रगण राज बनितान के, सखि मोहन शृङ्गाय ।
धीर चोरि सुकदम्ब पे, बधुक रहे अतिव्याय ॥

—जगद्विनोद

अति मूँच होकर पार्थ ने तन मुद आँखों को निया,
पर खोलने पर फिर न वैसा दृश्य दिखलाई दिया ।

सुस्मित चदन, श्रीकृष्ण को ही सामने देखा खड़ा,

चित्रस्थ से वे रह गये करते हुए स्तिमय बड़ा ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

हासित-हास

जानै के पान रघारत क्योंहुँ गई लगी आँगुली आठननीने ।

तैं चित्तयो तयहीं तिहिँ भौति जु लाल के लोचन लीलि से लीने ।

यात कही हरये हँसि के सुनि में समुझी के महारस भीने ।

जानति हैं। पिय के जिय के अभिलाप सबे परिपूर्ण कीने ।

—केशव (रसिक प्रिया)

तब निदित पण्यं फनिष्ट भ्राता बाण बरसा कर बडे ।

“रे राल ! खड़ा रह” बचन वो कहने लगा वह अति कडे ।

अभिमन्यु ने उनके श्रवण कर प्रथम बुद्ध हँस भर दिया ।

फिर एक गर से शीघ्र उसका शीघ्र रक्षित कर दिया ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

रग डालते है हम तुम पर देखे तुम क्या करते ।

आज तुम्हारी पक्ष दृष्टि से जरा नहीं हम डरते ।

रेतो, रेके मत, होंगों पर हँसी तुम्हें यह आई ।

इसी हँसी क लिये आज का है यह शुभ दिन भाई ।

—मैथिलीशरण गुप्त (होली का हर्ष)

सुन कर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी बुद्ध आगई ।

गम्भीर श्यामल मेघ में तिस्रुत्थान मो छागई । *

कहते हुए यो-बह न उनका भूल सकता वेश है ।

“हे पार्थ ! प्रण पालन करो, देसो, अभी दिन शेष है ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

विहसित-हास

काँछे सितासित काँछनी केशव पातुर ज्यो पुतरीन पिचारा ।

कोटि कटाक्ष नचै गति भेद नचात नायक नेह निहारो ।

वाजत है मृदु हास मृदग सो दीपति दीपनि को उजियारो ।

देखत हौ हरि देखि तुम्हें यह होतु हे आँखिन बीच आँखारो ।

हँसने लगे तब हरि अहा ! पूछेंद्रु सा सुख बिल गया ।

हसना वसी में भीम अर्जुन, सात्यकी का मिल गया ।

ये मोद ओर निनोद के सन सरल झोके झेलते ।

भगवान भक्तो से न जाने खेल क्या-क्या खेलते ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

कृष्णा तभी हँसने लगी—त्रिति पुष्प युत करने लगी ।

बस शान्ति सारी भग सी थी होगई ।

आश्चर्य युत सब जन हुए, निचलित सभी के मन हुए ।

मानो सभी की बुद्धि सी थी रोगई ।

—स्वरचित (कृष्णा-भीष्म सवाद)

उपहसित-हास

प्रेम घने रस घैन सने गति ननन की रस मन भरें है ।

* माल धन-धन दीपति देह त्रिनिद्रम की गति लीलि लरें है ।

भौह चढ़ाय सरीन डुराय इतै मुसुकाय उतै चितई हे ।

केशव पाइहाँ आज भले चितचोर जुफालि गुवारि गई हे ।

—केशव

ज्यो ज्यों पट मटकनि हसति, हटति नचायति नेन ।

त्यो त्यो परम बदारहु, फगुवा देत बनै न ॥

—विहारी

अप-हसित

तैसी ये जगत ज्योति शीश शीशफूलन की,

चिलनत तिलक चार तरुणि तेरे भाल के ।

तैसी ये दशन पाँति दमकति है केशोदास,

तैसी ये लसत लाल कठ कठमाल की ।

तैसी ये चमकि चारु चिखुव कपोलनि की,

तैसी चमकत नाक मोती चल चाल की ।

हरे हरे हँसि नेक चतुर चपल नैनी,

चित्त चकचाँधै मेरे मदनगुपाल का ।

—केशव (रसिक प्रिया)

चन्द्रकला सुनि सुनरी चार दर्द पहिराय सुनाय सु होरी ।

घेंटी प्रियाया रची पदमाकर अजा आजि समाजि के रेरी ।

लागी जये लज्जिता पहिरायन काढ़ पाँ कडुकी केमरि बेरी ।

देरि हरे सुलियाइ रही अँचरा इस दै वृषभान क्रियोरी ।

—जगदिनोद

अति-हसित

गिरि-गिरि उठि-उठि रीक-रीक लागे कठ,
 बीच-बीच न्यारे होत छनि न्यारी-न्यारी सो ।
 आपुस में अकुलाइ आधे-आधे आखरनि,
 आधी आधी बाते कहै आधी एक द्वारी सो ।
 सुनत सुहाइ सय सखि परै न कहू,
 केशोराइ की सो दुरे देखे मैं हुत्थारी सो ।
 तरणि तनूजा तीर तर पर चढ़ि ठाढ़े,
 तारी दै-दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सो ।

आई है एक महावन ते तिय गान्त मानो गिरा पगुधारी ।
 सुन्दरता जनु काम की कामिनी बेलि कद्यो वृषभान दुलारी ।
 गोपिकों द्याई गुपालहि बेगि धुलाई मिलीं उठि सादर भारी ।
 केशव भे दत्त ही भरि अक हँसी सन कीक दै गोप कुमारी ।

सुन कर निज सुत के पचन तिलक्षण ऐसे ।

कर अट्ट-हास धन घर नाद हो जैसे ।

बोला यों उद्धत असुर राज उत्पाती,

उन्मत्त सुरापी सर्वलोक-सहाती

—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

कविचर केशवदासजी हास के चार भेद मानते हैं—

(१) मन्द-हास, (२) कल हास, (३) अतिहास और (४) परि-
 हास, उनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) मन्दहास —

निकसहि नयन कपोल बहुत, दशा'दशन के धाम ।

मन्द हास ताको कहै, कोसिद बेचनदास ॥

(२) कलहास —

जहँ सुनिये कल धनि कल, कोमल निमल रिलास ।
पेशन तन मन माहिये, वर्णहु करि कलहास ॥

(३) अतिहास —

जहाँ हँसे निरगक हँ, प्रपटे सुख सुख पास ।
आधे आधे वरण पद, वपजि परत अतिहास ॥

(४) परिहास —

जहाँ परिजन सय रंति उठे, तजि वपति फी फा ।
देशन कानहुँ छुद्धि पल, सो परिहास बखान ॥

केशवदासजी के कथन किये हुए लक्षणों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उन्होंने यहाँ हास्य को शृङ्गार की घेड़ियों में जकड़ दिया है, यदि उसे इन घेड़ियों से मुक्त करा सर्व-व्यापिनी दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि उनका हास भेद, उपरेक्त हास-भेद से विलग नहीं है। यदि हम कविवर विहारीलालजी, की इस उक्ति “मो मन मोहन रूप मिलि पानी में को लोत” के अनुसार नायक और नायिका को एक ही कटिपत करलें तो केशवदासजी के किये हुए भेद दो भागों में विभाजित हो जावेंगे, उन दोनों भेदों के नाम क्रमशः आत्मस्थ और परस्थ होंगे। प्रथम में केशवदासजी के मन्द, कल और अतिहसित की गणना होगी और दूसरे भाग में परिहास गिना जावेगा। उपर्युक्त आत्मस्थ के तीन विभागों में से प्रत्येक में हमारे वर्णन किये हुए दो दो भाग क्रमानुसार आ जावेंगे। इसी व्यक्तिगत-भा-

अति-हसित

गिरि-गिरि उठि-उठि रीक-रीक लागे कठ,

बीच-बीच न्यारे होत छनि न्यारी-न्यारी सो ।

आपुस में अकुलाइ आधे-आधे आखरनि,

आधी आधी चाते कहै आधी एक छारी सो ।

सुनत सुहाइ सन मसुकि परे न कट्ट,

केशोराइ की सो दुरे देखे में हुस्यारी सो ।

तरणि तनूजा तीर तरु पर चढ़ि ठाढ़े,

तारी दै-दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सो ।

आई हे एक महावन ते तिय गावत मानो गिरा पगुधारी ।

सुन्दरता जलु काम की कामिनीबोली कसो वृषभान बुलारी ।

गोपिकौ एआई गुपालहि बेगि बुलाइ मिलीं उठि सादर भारी ।

केशव भे दत ही भरि अक हँसी सब कीक दै गोप कुमारी ।

सुन कर निज सुत के घचन तिलनण पेसे ।

कर अट्-ट-हास घन घट नाद हो जैसे ।

बोला यों उद्धत असुर राज बत्पाती,

वन्मत सुरापी सर्वलोक-सह्याती

—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

कविवर केशवदासजी हास के चार भेद मानते हैं—

(१) मन्द-हास, (२) कल हास, (३) अतिहास और (४) परि-
हास, उनके लक्षण इस प्रकार हैं —

(१) मन्दहास —

त्रिकसहि नयन कपोल कह्यु, दशन'दशन के बास ।

मन्द हास ताको कहै, कोनिद केशवदास ॥

नाना वामा परम दुःखिता सग शोकाभि भूता,

पाँडे प्यारे तनय निकलीं गेह भ से यगोदा ।

—प्रिय-प्रवास

अर क्या करूँ दीन के बन्धु हरे !

किस का मुँहे वाकी भरोसा रहा ।

पथ हे चहुँ आर से मेरा गिरा,

गिरा चाहता हे काल का यम्र महा ।

यह पानक बेग से बग हुआ,

इसी ओर बढा चला आता है हा ।

जिस की तर ज्वाल से नहे अहो,

इन छोनो का है तनु जाता दहा ।

—लोचनप्रसाद पाँडेय (मृगी दुःख मोचन),

सखे चन्द्र ! तुम अधोमदन बेटे क्यों पेसे ?

वदासीन यह हुआ फूल सा मुखडा केसे ?

कहो मित्र ! किसने नियोग से शोकाकुल हो ?

जिसने इतने तेनोहत हो, ओ व्याकुल हो ।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी (वियोगीचन्द्र)

क्रोध-स्थायी

शत्रु के किये हुए अपमानादि से जो क्रोध नामक मनो-
स्कारचित्त में स्थित होता है, उसे क्रोध-स्थायी कहते हैं ।

केवल शृङ्गार रस से पृथक् कर यदि समष्टि रूप से विचार करते हैं तो दोनों विभाग-रसों में कोई भी अन्तर नहीं पाते ।

शोक-स्थायी

जब किसी अहित की उपलब्धि तथा हित के विनष्ट होने के कारण चित्त में विच्छेद उत्पन्न होता है, तो उसे शोक स्थायी कहते हैं । यथा :—

मेहि न शोक इतौ तन प्राण को जायु रह कि लहे लघुताई ।
 गहु न शोच घनो पदमाकर साहिनी जो पे सुकठ की पाई ।
 शोच रहे इक बाल नधू निन रेहिगो अगद को घुनराई ।
 मो नच बाल नधू के सुने करणाकर को करुणा कहु आई ।

—पद्माकर

मात को मेहि न द्रोह निमात को सोच न तात के मात रहे को ।
 प्राण को लोभ न बन्धु निद्रोभ न राज को लोभ न मोद रहे को ।
 श्रीपति एतेपै नेक न मान्त धीपनि-सीय नियोग सहे को ।
 तारन भूमि में राम कगो मेहि सोच निभीपण भूप कहे को ।

×

×

×

अपने जनो द्वाग उसे फिर समर से लाये हुए,

नख पृष्ठ निष्प्रभ ओर श्रोणित पक से छाये हुए ।

नाशग ! शन के निकट जाकर चरम दुःख सहती हुई,

वह नन गधू किन गिर पड़ी “हा नाथ !” हा ! कहती हुई ।

—मेघलीशरण गुप्त (जयद्रथ बध)

आते आसु अति कठिनता साथ रोके दगो के,

होती जिना हृदय-तल के सँकड़ों सशयो से ।

राजभवन निर्गमन करि तेरो चित मियह,
जो दुख पावे तोहि सो दैदा सने भुलाइ ।
सुखद यागोस रचि ।

—राधाकृष्णदास (प्रताप-विसर्जन)

यही वीर है जो कर्तव्य निरुद्ध न होवे,
कार्य काल को जो नहीं धन आकुल चित खोवे ।
क्या है यह जल-राशि कहे शर मार सुखाऊँ,
या कर इसे प्रमाय हीन घट-तुल्य बनाऊँ ।
—अयोध्यासिंह उपाध्याय (वीरधर सौमित्र)

उत्साह-स्थायी

रणवाद्यादि शब्दा के श्रवण करने, तथा शत्रुओं के वल को देखने से चित्त में जो उमंगें उदीयमान होकर स्थित होती हैं, उन्हीं का नाम उत्साह स्थायी भाव है । यथा —

मेघनाद को लखि लखन, हरसे धनुष चढाय ।
दुहित निर्भीषण दब रणो, कछु फूले रघुराय ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

इत कपि रीत उत राजसन्ही की चमू,
रक्षा देत वका गढ़ लकाते कढ़ै लगी ।
कहैं पदमाकर समेट जगदी के हित,
चित्त में कटूष चोप चात्र की चढ़ै लगी ।
धानन के याहिबे को कर में कमान कसि,
धार्ड धूर धान आसमान में मढ़ै लगी ।

रे रूप बालक बाल वय, बोलत तोहि न सँभार ।

धनुर्ही सम त्रिपुरारि-गुनु, प्रिदित सकल ससार ॥

बोले चित्तय परशु की-ओरा । रे शठ ! सुनेमि प्रभाव न मोरा ।

भुज बल भूमि भूप त्रिनु कीन्ही । त्रिगुल वार महि देवन दीन्ही ।

सहस्रबाहु भुज छेदन हारा । परशु त्रिलोकि महीष कुमारा ।

X

X

X

जय तेहि कीन्ह राम की निन्दा । जेवनत तन भयउ कपि-दा ।

कटकटाइ कपि-कुजर भारी । नेउ भुज दड तमकि महि मारी ।

ढोलत धरणि सभासठ रसेउ । चले भागि भय मारत प्रसेउ ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

अगऱ जीति इन्है गहि त्यागो । कै अपने बल मारि भगायो ।

बोग बुझावहु चित्त चिता के । आजु तिलोटक देहु पिता के ।

महाराज श्री राम हैं क्रुद्ध तोसो । तजो देगवै के सजो सुख मोसो ।

—केशवदास

सदा दत्ति के कुम्भ को जो निदारै । लनाई नए चढ़ सी जौन वारै ।

जभाई समै काल सो जौन पावे । भला सिद्ध को दँत सो कोन काढ़े ।

काल मर्षिणी नद कुल, क्रोड धूम सी जौन ।

अजहुँ बाँवन दंत नहि, अहो शिरा मम कौन ।

दहन नन्द-कुल-वन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप ।

को मम कोयानल पतंग, भयो चहत थय आप ।

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (मुद्राराक्षस)

रुद्र रु रे निरोध अमर-गति रोकन हारे,

हम न लेहिगे तौस बिना तोहि पाज उगारे ।

होती है और उसके द्वारा शरीर सशक्ति होता है, उर्मी दशा का नाम भय है। यथा —

चित्ते चित्ते चांगे और चाकि चाकि पर ल्योही,

नहँ तहँ जन तन खट्कत पात है ।

भाजा से चारत गँवार ग्यानिनी के कछ,

हरन हराने से उठाने रोम गात हैं ।

फँदे पन्माफन मुदेसि दगा मोहन की,

शेषहु महेशहु सुरेशहु सिद्धात है ।

एक पोंय भात एक पोंय मीत कोंधे घरे,

एक हाथ धँचो एक हाथ दधि खात है ।

—पद्माकर

प्रगल्भी पट्टु भीरा जित थी। कर रहा भय नृत्य कराल था।

त्रिकट उन्त भयकर प्रत भी। विचरते तर दल समीप थे।

यत्न प्याप्त पूर्वक प्रेसनी। भय प्रदर्शन थी करती महा।

निकलती जिससे अनिराम थी। अनल की अति रात करी शिष्या।

तिमिर लीन क्लेश को लिये। विकट-दानव पाठ्य थे ये।

भूममयी निनयी त्रिकरालता। चित प्रकम्पित थी करती महा।

अति सशक्ति आर सर्भात हा। मन कभी यह था अनुमानता।

नय समूल त्रिनाशन को खड़े। यह निशाचर है नृप कस के।

—प्रिय प्रवास

करते हुए गजन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,

हय गज रधादिष शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।

ठडने लगी मन ओग रज, होने लगी कम्पित घरा,

मानो न सहकर भार वह उपर चली करके त्वरा।

देखते बनी है इहँ दल की चढा चढी में,

राम दगहू पै नेक लाली जो चढ़ै लगी ।

—पद्माकर (जगद्धिनोद)

“हम सजीव हैं—हमें कौन घतलाता मृत है ?

हम में श्रोत-श्रोत भरा वेद गीर-व्रत है ।

गीरवरो ! है आज यहाँ पर यही दिखाना,

खेल नहीं है रण-क्षेत्र से हमें हटाना ।

है समय सामने कार्य का, पालन करो स्वधर्म का,

अथ भेदन करदो शीघ्र ही, शत्रुजनों के मर्म का” ।

—सिवाराम शरण गुप्त (मौर्य विजय)

“है बात ! तजिये सोच को, है काम ही क्या कुंश का ?

प्रकटित करूँगा व्यूह में मे द्वार शीघ्र प्रवेश का” ।

यो पाँदवों से कह, समर को घेर वह सज्जित हुआ ।

छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ ।

—मैथिली शरण-गुप्त

इसलिये तज निध निश्चिन्ता । उठ पड़ो सन लोग सयत्न हो ।

इस महा भय सकुल काल में । बहु सहायक जान अजेश को ।

इस सत्रोज सुभाषण श्याम से । नहु प्रबोधित हो जन मडली ।

गृह गई पठ मथ सयत्नता । लग गई गिरि ओर प्रयाण में ।

—प्रिय प्रवास

भय-स्थायी

किसी भयावह पदार्थ अथवा दृश्य के दृष्टिगोचर होने, किसी भयंकर व्याधि के आने की आशंका होने या किसी अत्यन्त अनिकर कार्य की सूचना पाने से, मन में जो व्याकुलता उत्पन्न

होती है और उसने द्वारा शरीर सशक्त होता है, उन्नी दशा का नाम भय है। यथा —

चित्तै चित्तै चांगे ओर चौकि चौकि परे त्योही,

जहाँ तहाँ जन तन खट्कत पात है ।

भाजन सो चाहत गँवार ग्वालिनी के कछु,

हरन टराने से उठाने रोम गात है ।

कहै परमात्म सुदेवि दया मोहन की,

शेषहु मोहणहु सुरेणहु सिहात हैं ।

एक पाँय भीत एक पाँय भीत कौंसे बरे,

एक हाथ छविो एक हाथ दनि छात है ।

—पद्माकर

गगन्ती बहु भीष्म शित वी । कर रहा भय नृत्य कराल वा ।

निकट दन्त भयकर प्रेत भी । निचरते तर मूल समीप थे ।

घन ध्यान पूर्वक प्रेतनी । भय प्रदर्शन थी करती महा ।

निफलनी जिससे अनिराम वी । अनल की अति रास करी शिखा ।

निमिर लीन फलेन को निने । निकट-दान पादप थे पने ।

भूममयी जिनकी निकरालता । चित प्रकम्पित थी करती महा ।

अति सशक्त आग मर्भात हो । मन कभी यह था अनुमानता ।

प्रज समल निनाशन को खड़े । यह निशाचर है नृप कस थे ।

—प्रिय प्रवास

करते हुए गहन गहन में दाँडते हैं घन यथा,

हय गज रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा ।

उठने लगी सत्र और रज होने लगी कम्पित धरा,

मानो न सहकर भार यह उपर चली करके त्वरा ।

पीछे शुनिठिड़ के किये आगे चले अजुन बली,
 लचने लगे फख शेष के मचने लगी अति सलनली ।
 अन्यत्र अनुगामी बडो के सुजन होते सर्वदा,
 पर आपदा म दीगते ने अग्रगामी ही सदा ।
 —जयदध-वध

ग्लानि-स्थायी

किसी पदार्थ के स्पर्श, दर्शन तथा स्मृति से चित्त में जो घृणा उत्पन्न होती है, उसे ग्लानि तथा जुगुप्सा कहते हैं ।
 यथा :—

आवत ग्लानि जो बसान करो ज्यादा यह,
 मादा मल-वृत्त थोर मज्जा की सनीती है ।
 कहे पदमाकर जरा तो जागि भीजी तन,
 छोड़ी दिन रैन जैसे रेनु' ही की भीती है ।
 सीतापति राम के सनेह बम धीती जो पे,
 तो तो गिब्य देह यम-यातना तें जीती है ।
 रीती राम नाम तें रही जो निना काम तो या,
 सारिज खराब हाल खाल की गलीती है ।

—पद्माकर

पालि लये दधि दूध मही जिन ऊधम ही तिनहुँ सो तिनाने ।
 साथी मदा हय हाथी भुजग बडा वृष मातुल मारि निनाने ।
 कूपरी दूधरी जाति ऊपरी दूधरी पात । सुसौची निनाने ।
 शान गहीरिन सो रवि मानी अहीरिन सो घनश्याम निनाने ।
 ललि विरूप शूरपनरौ, रविग चरवि जुहुआत ।

लिय हिय में गिनवी लना, भई सु दूँ दूँ पात ॥

मिर पे ज्यो काग आँख देउ खात निकाहत,

खींचत जीनहि स्यार अतिहि आनंद उर धारत ।

गिद्ध जौन क६ सोदि, सोदि के मास उचारत,

खान आँगुरिन कादि, कादि के खान निचारत ।

धहु चील नोचि ले जाति त्वच मोद मध्यो सर के हियो ।

मनु न६मभोज जिजमान केउ आज भित्तिारिन को दियो ।

जला ज्मिमीका पग पूँछ आदि था । पडा किसीका जलता यरीर था ।

जले अनेकों जलत असरय थे । दिगत था आर्तनिनाद से भरा ।

आश्चर्य स्थायी

स्पर्श, मनन, दर्शन अथवा श्रवण द्वारा किसी अद्भुत वस्तु, दृश्य या चरित्र से चित्त में जो विस्मय उत्पन्न होता है उसे-
आश्चर्य कहते हैं । यथा .—

देखत क्यों न अपूरय इन्दु म दूबे अगनिन्द रहे गहि लाली ।

त्यो पदमाकर कीरषध इष मोती जुगै मनो है मतयाली ।

ऊपर ते तम छाये रगो रति की दय तें न दरे खुल न्याली ।

यो सुनि बेन सखी के निचित्र भये चित्त चञ्चित से बनमाली ।

—जगद्विनेद

सजी के ये वचन नायक से हैं । नायक इन वचनों से आश्चर्यचकित हुआ । चकित होने का कारण यह है कि ऐसा अपूर्व चन्द्रमा आज पर्यन्त देखा नहीं गया, जिसमें दो कमल विकसित हों । इसी प्रकार ऐसी तोती भी नहीं सुनी गई जिसका आहार मोती हो, और न आज तक ऐसा प्रगाढ़ तम ही प्रदर्शित हुआ, जो सूर्य के प्रकाश के सन्मुख खिर रह सके । यहाँ कवि ने इन्दु,

अरविन्द, कीरवधू और तम को कमशः नायिका के मुख, नेत्र, नासिका और केशों का सादृश्य दिया है। यही रूपक पाठक तथा श्रोता दोनों ही को आश्चर्य में डालता है।

सेस, मेहेस, गणेश, त्रिनेस, सुरेशहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि थनादि अनन्त अलख अखेट अभेट सुनेद धतावैं ।
नारद से सुक व्यास रटै पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरिया छडिया भरि छाड पै नाच नचावैं ।

—सुजान रसावान

सुके सताने मीन भी देखो-दोड जिना जल आती ।
अर्थी भी है उठ दौडती यदि कहीं सुके लख पाती ।
निली के है गर्भ का। यन्त्रा भी अन्तर सिद्ध दिखाता ।
अज्ञहूँ भी आज है सुके निज साइस सिखाता ।

—विचित्र-स्वप्न (स्वरचित)

“पापी मनुज भी आज छुँह से राम-नाम निकालते ।
देखो भयकर भेड़िये भी आज आँसू डालते ॥
आज-म नीच अधर्मियों के जो रहें आशिराज है ।
देते अहो ! सद्धर्म की वे भी दुहाई आज है” ॥

—जयद्रथ-वध

निर्वेद-स्थायी ।

परिश्रमादि के कारण स्वरूप मनोवाञ्छित फल प्राप्त न होने पर हृदय में जो पश्चात्ताप होकर वैराग्य उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद कहते हैं। यथा —

हो धिर मन्दिर में न रघो गिरि पन्दर में न तप्यो तप जाइ ।
राज रिक्तये न के यजिता खुराज कषा न यथामति गाई ।

यो पञ्जितात कछु पन्माकर कासो कहौ निज धूरसताई ।
 स्थारथहु न कियो परमारथ यो हौं अकारथ बेस निताई ।
 पदमाकर हौं निज कथा, कासो कहौ धसान ।
 जाहि लखा ता हे परी, अपनी-अपनी आन ॥

—पद्माकर

‘प्रीति करि काहु सुख न लगो,
 प्रीति पतग करी दीपक सो आपै देह दियो ।
 अलि-सुत प्रीति करी जल सुत सो सम्पति दाय गयो ।
 सारँग प्रीति जो करी नाद सो सम्युख धान सयो ।
 हम जो प्रीति करी माधन सो चलत न कछु कयो ।
 सूरदास प्रभु निनु दुख दूनो नैनन नीर बयो ।

—सूरदास



अरविन्द, कीरवधू और तम को कमल नायिका के मुख, नेत्र, नासिका और केशों का सादृश्य दिया है। यही रूपक पाठक तथा श्रोता दोनों ही को आश्चर्य में डालता है।

सेस, महेस, गणेश, दिनेस, सुरेशहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अरु अखेट अभेद सुनेद बतावैं ।
नारद से सुक व्यास रटै 'पचि हारे तज पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छश्रिया भरि छात्र पै नाच नचावैं ।

—सुजान रसखान

सुभे सताने मीन भी देखो दौड निना जल आती ।
अर्थी भी हे उठ दौडती यदि कहीं सुभे लख पाती ।
बिहारी के है गर्भ का। बच्चा भी अरु सिंह दिखाता ।
अब्जदूरा भी आज है सुभके निज साइस मिखाता ।

—विचित्र-स्वप्न (स्वरचित)

“पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम निकालते ।
देखो भयकर भेडिये भी आज आँसू ढालते ॥
आज म नीच अधर्मियों के जो रहे अपिराज है ।
देते अहो ! सद्धर्म की वे भी दुहाई आज है” ॥

—जयप्रथ वध

निर्वेद-स्थायी ।

परिश्रमादि के कारण स्वरूप मनोवाञ्छित फल प्राप्त न होने पर हृदय में जो पश्चात्ताप होकर वैराग्य उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद कहते हैं। यथा —

हैं धिर मन्दिर में न रघो गिरि कदर में न तप्यो तप जाइ ।

रिभाये न वे करिता खुगन क्या न ययामनि गार्इ ।

भेदों के नाम

मिलि विभाज अनुभाज पुनि, संचारि के नृद ।
 परिपूर्ण थिर भाज यो, सुग-स्वरूप आनन्द ॥
 ज्यों पय पाय विकार कटु, हँ दधि होत अनूप ।
 तैसेई थिर भाज को, वरखत करि रस रूप ॥
 मो रस है नन भौति को, प्रथम कहत शृङ्गार ।
 हास्य करण पुनि रोदगनि, वीर सु चारि प्रकार ॥
 बहुरि भयानक जानिये, पुनि वीभत्स बलानि ।
 अद्भुत अष्टम नम पुनि, शांति सुरस वर आनि ॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से स्थायी-भाव परिपूर्ण होकर रस-सत्त्वा को प्राप्त होता है, जिस प्रकार दुग्ध, तक्रादि विकारों के सम्मेलन से जमकर दधि का रूप पाना है, उसी प्रकार विभावादि के योग द्वारा स्थायी भाव जो दुग्ध अथवा बीज के समान है—रस, (दधि अथवा पोधा) रूप हो जाता है । ये रस नव प्रकार के हैं —

- | | | |
|-------------|-----------|------------|
| (१) शृङ्गार | (४) रौद्र | (७) वीभत्स |
| (२) हास्य | (५) वीर | (८) अद्भुत |
| (३) करुणा | (६) भयानक | (९) शांति |

आनन्द-रस मर्मज्ञ, हमारे भूतकाल-पूर्वी कान्य शास्त्रियों तथा रीति ग्रन्थ प्रणेता आचार्यों ने 'रस' के केवल यही नन चड़े चड़े विभाग किये हैं, उन्हीं को "नव रस" कहा जाता है ।

५-रस-भेद



ह तो निरूपण हो ही चुका कि 'रस' क्या है? वह किस प्रकार उत्पन्न होता है? तथा उसके लिये किस सामग्री की आवश्यकता है। अब रस-भेद पर कुछ विचार करते हैं। "रस कितने प्रकार का होता है" इस विषय में एकमत स्थिर नहीं है, परन्तु संस्कृत तथा भाषा के अनेक प्रतिभाशाली कवि तथा रीति ग्रन्थ लेखक और गण्यमान सज्जन, काव्य में नव-रस ही मानते हैं। हमारे उक्त मत के समर्थन में निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है, प्रायः जनसाधारण, "जो काव्य के मर्म से सर्वथैव अनभिज्ञ है" के मुख से भी हमने अनेक बार उसका पाठ सुना है —

निधि तो कवि सब निधि बड़े, यामे सशय नाहि ।

पद रस निधि की सृष्टि में, नव-रस कविता माहि ॥

अतः हम भी प्राचीन परिपाटी को माननीय तथा अनुकरणीय समझ, प्रथम नव-रस के नाम अंकित करते हैं। इस विषय-सम्बन्धी मतभेद पर हम अन्यत्र प्रकाश डालेंगे।

पञ्चाकर भट्ट प्रणीत 'जगद्धिनोद' नामक नायिका-नायक भेद के ग्रन्थ में, "जो भाषा कविता का एक अमूल्य रत्न समझा जाता है, और जिसे उक्त विषय के पढ़नेवाले सर्व-प्रथम पढ़ते हैं" रस की परिभाषा तथा गणना इस प्रकार प्रदर्शित की गई है :—

जिस प्रकार अपनी योग्यता दिखाई है, वह हमारे नीचे लिखे विचारों से प्रकट हो जावेगी। मनुष्य की बुद्धि कल्पना सृष्टि की निर्माता है। वह प्रतिदिन सहस्रों कल्पनाओं का निर्माण करती है, और सहस्रों को ही विलीन कर देती है। कभी तो वह किसी वस्तु का प्रसार करते-करते उसका सीमान्त कर देती है, और कभी आकुञ्चन करने में अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय इस प्रकार देती है कि मनुष्य उसकी सूक्ष्मता का ज्ञान करने में भी असमर्थ रहता है। मनुस्मृति में जहाँ सृष्टि-निरूपण किया गया है, उसके आरम्भ में ही मनु जी महाराज अंकित करते हैं —

आसीदिदं तमा भूतमथशातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमनिशेयं प्रसुप्तमिव सर्वत ॥

—मनुस्मृति, प्रथम अध्याय, श्लोक ५

अर्थात्—यह निश्चय (सृष्टि की आदि में) अन्धकार-युक्त, लक्षणों से रहित, संकेत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य सब ओर से निद्रा की सी दशा में था—उसके अनन्तर ही परमात्मा ने यह विचार कर कि “एकोह-बहुस्यम्” अर्थात् मैं एक हूँ सो बहुत होऊँ, या “तदैक्षत् बहुस्या प्रजायेय” अर्थात्—“मैं एक से बहुत प्रजारूप होऊँ”—स्वयं प्रकट होकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण कर डाला। अन्त में मनुजी महाराज अंकित करते हैं.—

रस-भेद की गणना में मतभेद

प्रायः मनुष्य जाति का यह स्वभाव देखा जाता है कि वह अपने ज्ञान को किसी एक अथवा विशेष अवस्था में परिमित रखना नहीं चाहती। वह सर्वदा नूतन तथ्यों के संग्रह करने में अपना गौरव समझती है। यही जिज्ञासा है जो मनुष्य को आन्मोन्नति का सीधा मार्ग बताती है, इसी के द्वारा वह अपने ज्ञान की वृद्धि कर उन्नति की चरम सीमा को पहुँच जाता है। जिसमें यह जिज्ञासा नहीं, यह ज्ञान-लिप्सा नहीं, उसकी उन्नति होना कठिन ही नहीं, बरन असम्भव है। अनन्तकाल से ज्ञान का अविराम स्रोत प्रवाहित हो रहा है। “इसका अन्त कहाँ होगा” यह कौन कह सकना है ! पर इसमें सशय नहीं है कि मनुष्य के ज्ञान का विकास अचुराण होता ही जा रहा है। आज-कल जिस प्रकार विज्ञान, पुरातत्व, अर्थशास्त्र, और तर्कशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों में एक से एक विलक्षण आविष्कार हो रहे हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में भी विद्वानों ने अनेक नवीन तथा उत्तम विचारों की सृष्टि कर अपनी विशाल बुद्धि का परिचय दिया है।

जिन महानुभावों को हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर की अनुपम तरल-तरङ्गों के साथ प्रवाहित होने का थोड़ासा भी सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वह भली भाँति जानते होंगे कि काव्य में नवरस कल्पित किये गये हैं। पर इस विषय में आधुनिक तथा प्राचीन विद्वानों में मतभेद है। भेद करने में नवीन विद्वानों ने

परम देवता रूप दृष्टि आये। इन दस वाक्यों में प्रथम प्रथम दस ही रस कहे गये हैं। अर्थात्—(१) रौद्र, (२) अद्भुत, (३) शृङ्गार, (४) हास्य, (५) वीर, (६) करुण, (७) भयानक, (८) वीभत्स, (९) शान्त, (१०) प्रेम-भक्ति।

ठीक इसी भाव के अनुसार श्रद्धेय बाबा तुलसीदासजी जनकपुर में धनुष-यज्ञ के समय राज सभा में विराजे हुए, महाराज रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी का वर्णन करते हैं —

राज समान विराजत हूरे। शृङ्गण महीं जनु युग रिधु पूरे ॥
जिनके रही भावना जैसी। प्रभु स्मरति देखी तिन तैसी ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

ऊपर हमने जो तीन उदाहरण उद्धृत किये हैं, वह हमारे उपर्युक्त “रस रूप रसेश्वर.” वाले सिद्धान्त के अटल बनाने में प्रमाण स्वरूप माने जा सकते हैं। हमारे कवि महाशयो ने अपने काव्यों द्वारा सम्पूर्ण रसों में भगवान का निवास अथवा आभास दिखाया है, इसको दूसरी भाँति इस प्रकार भी कह सकते हैं कि परमात्मा को ही रस रूप कल्पित किया है। इसी मत के अनुसार यदि हम विचार करते हैं तो श्रात होता है कि वह जगन्नाटक सूत्रधार, परम उदार परब्रह्म परमात्मा एक है, विविध जीव केवल उसके नाटक के पात्र मात्र हैं, जो उसके एक मामूली से कौतुक से निर्मित हुए हैं, अतः रस भी एक ही होना चाहिये। विद्वान लोगों ने अपने इस मत के स्पष्टीकरण के लिये श्रुति के इस, “स एवैकोरस” वचन को उद्धृत किया

कैसी प्रति अति राद नीर मागे वत्सासुर ।

भय दाया-नल पान कियो नीभत्स बकी उर ॥

अति अद्भुत वचि पिरचि मनि शान्त मत ते शोच चित ।

कहि 'केशव' सेगहु रनिक जन नव रम में वजराज नित ॥

—रसिक-प्रिया

यहाँ कवि ने क्या ही उत्तम रीति से यह समझाया है कि सम्पूर्ण रसों में वजराज श्रीकृष्णचन्द्रजी विराजमान हैं, जिसको जिस रस में प्रीति हो, वह उसी रस में श्रीकृष्णचन्द्र को सेवन करे ।

इसी प्रकार जिस समय कृष्ण भगवान कस की मत्तलभूमि में पधारे थे, उस समय सन की भावना के अनुसार सब को उनका रूप दिखालाई दिया था । यथा .—

मत्तलानामगीनिवृणा नरवर स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्,

गोपाना स्वजनोऽनता त्रिनि भुजा गान्धार्य पित्रो गिरु ।

मृत्युभोज पतेर्विशद विदुषा तच्च पर योगिना,

वृष्णीना 'परदेवतेनि मिदितो रगं गत साम्रज ॥

—श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध अध्याय ४३—१७

यहाँ दस प्रकार के अधिकारी होने से भगवान का रूप दश रस-रूप से दिखाई दिया । मत्तलों को वजरूप, मनुष्यों को नरों में श्रेष्ठ, स्त्रियों को मूर्तिमान कामदेव, गोपा को स्वजन, दुष्ट राजाओं को शिखा देनेवाला, अपने माना-पिता को पालक रूप, कस को मृत्युरूप, अज्ञानियों को विकल अथवा विराटरूप, योगीजनों को परमतत्त्व रूप, और भक्तजनों को

परम देवता रूप दृष्टि आये। इन दस वाक्यों में प्रथम प्रथम दस ही रस कहे गये हैं। अर्थात्—(१) रौद्र, (२) अद्भुत, (३) शृङ्गार, (४) हास्य, (५) वीर, (६) करुण, (७) भयानक, (८) वीभत्स, (९) शान्त, (१०) प्रेम-भक्ति।

ठीक इसी भाव के अनुसार शब्देय बाबा तुलसीदासजी जनकपुर में धनुष-यज्ञ के समय राज सभा में विराजे हुए, महाराज रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी का वर्णन करते हैं —

राज सम्राज विराजत रुरे। बड्ढगण मई जनु पुग विधु पूरे ॥
जिनके रही भावना जैमी। प्रभु धरति देयी तिन तैमी ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

ऊपर हमने जो तीन उदाहरण उद्धृत किये हैं, वह हमारे उपर्युक्त “रस रूप रसेश्वर” वाले सिद्धान्त के अटल बनाने में प्रमाण स्वरूप माने जा सकते हैं। हमारे कवि महाशयो ने अपने काव्यों द्वारा सम्पूर्ण रसों में भगवान का निवास अथवा आभास दिखाया है, इसको दूसरी भाँति इस प्रकार भी कह सकते हैं कि परमात्मा को ही रस रूप कल्पित किया है। इसी मत के अनुसार यदि हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि वह जगन्नाटक सूत्रधार, परम उदार परब्रह्म परमात्मा एक है, विविध जीव केवल उसके नाटक के पात्र मात्र हैं, जो उसके एक मामूली से कौतुक से निर्मित हुए हैं, अतः रस भी एक ही होना चाहिये। विद्वान् लोगों ने अपने इस मत के स्पष्टीकरण के लिये श्रुति के इस, “एवैकोरस” वचन को उद्धृत किया

है, जिसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण रसों का समावेश एक ही रस में किया जाना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार आनन्द-रस स्वरूप अर्थात् आनन्द ही जिसके हस्त, पाद, मुख, उदर इत्यादि हैं, और जिसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद् २-६-१ में कहा गया है कि उस “रस ही को पाकर यह (आत्मा) आनन्द-मय होता है”। यदि आत्मा एक है, तो रस भी एक ही होना चाहिये। इस प्रकार कोई न कोई रस प्रधान तो अवश्य ही होगा? परन्तु प्रधानता किसे दी जावे?—यह कार्य तनिक कष्ट-साध्य है, क्योंकि इसमें बहुत मत-भेद हैं। किसी के मत में शृङ्गार-रस प्रधान है, कोई वात्सल्य-रस को मुख्य कहता है और कोई इन दोनों से यह आसन छीन कर हास्य-रस को उस पद से विभूषित करना चाहता है। अतः हमारा विचार है कि इस उल्लभन को सुलभाने का प्रयत्न अपनी अल्प बुद्धि द्वारा कहीं आगे चलकर करेंगे, यहाँ केवल इतना कहना अलम् होगा कि बहुमत शृङ्गार-रस के प्रधानत्व प्राप्त करने ही के पक्ष में है।

रस के दो भेद माननेवालों के विचार

इस प्रकार एक ही रसके माननेवालों की कुछ सम्मतियों का उल्लेख कर चुकने के अनन्तर अब हम रस के मुख्य दो भेद माननेवालों की सम्मतियाँ प्रकाशित करते हैं।

महाराज देवदत्तजी रस के मुख्य दो भेद मानते हैं।

(१) लौकिक (२) अलौकिक। फिर लौकिक के नव, और अलौकिक के तीन भेद बतलाते हैं। अर्थात् मुख्य भेद द

कल्पित कर अन्य नव रसादि को उसके अवान्तर भेदों में परिगणित किया है।

दोनों प्रकार के रसों के लक्षण देवजी यो कहते हैं :—

नयनादिक इन्द्रियसु के, जा गहि लोकिक् जानु।

आत्म मन संयोग तैं होय अनोकिक् शानु ॥

अर्थात्—जिस रस के ज्ञान के लिये नयन इत्यादि इन्द्रियाँ समर्थ हैं वह लोकिक् रस है, और जिस रस के बोध कराने में उक्त इन्द्रियाँ असमर्थ हैं, और केवल आत्मा और मन के संयोग द्वारा ही उसका ज्ञान होता है, उसे अलौकिक् रस कहते हैं।

वाल्मीकि में धर्म-शास्त्र में कृत कर्म-विभाग करते हुए ऋषि मुनियों ने उनके तीन विभाग किये हैं, वह कर्म चाहे पुण्य कर्म हों और चाहे पाप-कर्म। यथा :—

शुभाशुभ फल कममनो वाग्देह सभयम्।

कर्मजा गत यो न दृष्टानुत्तमाऽधम मध्यमा।

—मनुस्मृति अध्याय १२—३

अर्थात्—मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न शुभाशुभ फल-वाले कर्म से मनुष्यों की उत्तम, मध्यम तथा अधम गति होती है। ज्ञात होता है कि कविवर देवजी ने वाणी तथा शरीर से ज्ञात होनेवाले कर्मों का एकीकरण कर लिया है, क्योंकि यह दोनों विषय इन्द्रियों द्वारा बोध में आ सकते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार उनके लौकिक् भेद में ठीक-ठीक घट जाते हैं। रहा दूसरा भेद—‘अलौकिक्’ वह लक्षण के देखते ही कर्म के मान सिक् भेद से मिल जाता है। इस प्रकार ‘मनुष्य द्वारा सम्पादित

कर्म-भेद के अनुसार हो यह विभाग किया गया है' ऐसा प्रतीत होता है। लौकिक भेद में नवरस की गणना की गया है, क्योंकि यह सब नेत्रादि इन्द्रियों के विषय हैं, और अलौकिक के (१) स्वापनिक, (२) मानोरथिक और (३) औपनायको—तीन भेद हैं। नीचे हम इन तीनों में से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण अंकित करते हैं, जिससे अलौकिक रस भलो-भाँति समझ में आ जावे, लौकिक के उदाहरण यहाँ पर अंकित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आगे चलकर इन पर विस्तार-पूर्वक विचार किया ही जावेगा।

अलौकिक रस के उदाहरण

स्वापनिक

सोइ गई अभिलाष भरी तियने सपने में लखे नंदन-दन ।
 ये कछु हँसि बात कही पुलके सुहिये भलके जल के कन ।
 जागि पड़ी नन उठ बधू दिगि दूँदति गूढ़ सनेह सनी धन ।
 सोचि सकोच अगोचर तीय तसे धिलसै बिहँसै मन ही मन ।

मानोरथिक

कालिंदी फूल भयो अनुकूल कहूँ घर बार पिये नहि घेरो ।
 मञ्जुल वञ्जुल साल रसाल तमालनि के बन लेत वमेरो ।
 केलि करे री कदम्बन बीच जु कानन कुज कुटीन में भेरो ।
 मोहनलाल की मृगति के मँग दोलत भाई मनोरथ मेरो ।

औपनायको

भूमक रेन नमोमति के जुवतीन को आज समाज सिधायो ।
 श्याम को सुन्दर भेष बनाय के आइ पध इक बेनु बनायो ।
 हास मं गम रच्यो कविदेष गिलास के ही में हुलास बढ़ायो ।
 नाचन घाहि सरी मयहो के हिये सुख सिन्धु कौ पाव न पायो ।

रस के तीन भेद माननेवालों के विचार

रस के तीन भेद माननेवाले सज्जन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं । प्रथम श्रेणी में वह जिन्होंने मानवी प्रकृति के अनुसार रस-भेद किया जाना स्थिर किया है, और दूसरी श्रेणी में वह जिन्होंने गुणों के अनुसार रस के विभाग किये हैं । हम उक्त दोनों प्रकार के विचारों के विचार पृथक् पृथक् अंकित करने हैं ।

प्रकृति के अनुसार भेद माननेवालों की सम्मति

यदि हम किसी वस्तु के विभाग करने बैठें तो सबसे पहले इस बात की आवश्यकता होगी कि उस सम्बन्ध को सोचें जिसके अनुसार हमें विभाग करने ह । जैसे—यदि हमको मनुष्य के भेद करने ह तो प्रथम यह स्थिर कर लें कि वह विभाग हमें देश के अनुसार करने ह अथवा अवस्था तथा रंग रूपादि के सम्बन्ध से करने ह । यदि देश के हिसाब से मानवी विभाग करना निश्चित किया है तो भारतीय, चीनी, जापानी, ज़्यामी तथा अफ़ग़ानी इत्यादि भेद होंगे, यदि वय के अनुसार भेद किये जायें तो हम

वाल, कुमार, किशोर, युवा तथा वृद्ध इत्यादि नामों द्वारा उन्हें विभागों की गणना करावेंगे, इसी प्रकार रग, रूपादि के अनुसार एक ही वस्तु के अनेक भेद किये जा सकते हैं। प्रश्नकर्ता के प्रश्न के अनुसार उसका जिस भेद से सम्बन्ध होगा उसी के अनुसार उत्तर दे दिया जावेगा। वस, इसी प्रकार यदि हम रस भेद के विषय में जानना चाहें तो प्रथम हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि रस का सम्बन्ध मनुष्य से किस प्रकार है। यदि हम उक्त बात पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि कविता तथा रसों का सम्बन्ध मनुष्य की प्रकृति से है। वस अब इस बात का देखना आवश्यक है कि मानव-प्रकृति में किन-किन वस्तुओं की प्रधानता है। वैद्यक-शास्त्र के अनुसार मानवी-प्रकृति में तीन वस्तुओं (१) वात, (२) पित्त और (३) कफ की प्रधानता है। अतः तीन ही रसों से मनुष्य का कार्य चल सकता है, शेष छै रस इन्हीं में आजावेंगे। इस बात के जानने के लिए कि कौन सी प्रकृति के लिए कौन सा रस अनुकूल है प्रथम यह ज्ञान लेना उचित है कि उक्त तीनों प्रकृतिवाले मनुष्यों के लक्षण क्या हैं? अतः हम उन लक्षणों को ही पहले अंकित करते हैं —

वात प्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण,

अल्प वेग कृशो रून्धो प्राचालश्चलमानस ।

आकाश चारी स्वप्नेषु वात प्रकृति को न ।

—शार्ङ्गधर-सहिता

अर्थात्—सूक्ष्म केश, दुर्बल, रुग्ण, बकजादी, अस्थिर मन वाला आकाश चारी, स्वप्न देखे, ये वातप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण हैं।

प्रथम हम वातप्रकृति के लक्षणों से मिलान करके इसके अनुकूल रसों की खोज करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दोर्वल्य तथा मन की चंचलता, यह दोनों कार्य शृङ्गार-रस के अनुकूल हैं, बकवादोषन, हास्य-रस से मेल जाना है, आकाश चारी व स्वप्न अद्भुत रस से मिलता-जुलता है, अतः इस एक प्रकृति के अनुसार उक्त तीन रस हुए।

पित्तप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण

अकाले पलितैर्भ्यासा जीमा स्वेदा च रोषण ।

रग्नेषु ज्योतिषा द्रष्टा पित्त प्रकृति का नर ।

—शार्ङ्गधर-सहिता

लघु वयस म केश पर्क, बुद्धितीव्र, स्वेद बहुत निकले, क्रोधी और अग्नि नक्षत्रादि स्वप्न में देखे यह पित्तवाले मनुष्य के लक्षण हैं। बुद्धि का तीव्र होना, प्रस्नेद का अधिकता से निकलना, यह लक्षण वीर-रस के अनुकूल हैं, क्रोधी होना रोद्र-रस से सम्बन्ध रखता है, और स्वप्न में अग्नि नक्षत्रादि का दर्शन भयानक रस से मिलता है। अतः इस प्रकृति के अनुसार भी तीन ही रस हुए।

कफप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण

गम्भीर बुद्धि स्थूलाग स्निग्ध वेशो महापल ।

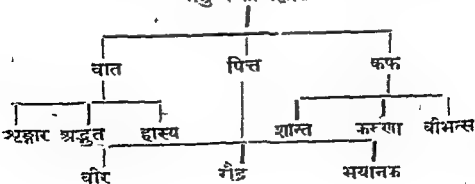
मग्नो जलाशयालोकी श्लेष्म प्रकृति को न ।

—शार्ङ्गधर-सहिता

गम्भीर बुद्धि, स्थूल शरीर, चिकने केश, अधिक बल और स्वप्न में जलाशय इत्यादि का अवलोकन करे यह कफ प्रकृति-वाले मनुष्य के लक्षण हैं। गम्भीर बुद्धि शान्त रस के अनुकूल है, बुद्धि गम्भीरत्व तथा शरीर का स्थूल होना करुणा रस के पोषक हैं, इसी प्रकार जलाशय इत्यादि वीभत्स रस से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार तीन प्रकार की प्रकृतियों के अनुसार तीन-तीन रस हो गये, जो निम्नलिखित कोष्ट से प्रकट होंगे। इस प्रकार इन तीनों प्रकृतियों के तीन-तीन रसों में से—शृङ्गार, वीर और शान्त—तीन ही रसों को प्रधान मान शेष दो दो को उनके अवान्तर भेद मान लेने ही से हमारा कार्य चल सकता है।

मानव प्रकृति के अनुसार रसों के विभाग

मनुष्य की प्रकृति



गुणों के अनुसार रस भेद माननेवालों के विचार

सत्त्व ज्ञान तमोऽज्ञान रागद्वेषो रजःसृष्टम् ।

एतद् व्याप्तिमदेतेषा सर्वं भूताश्रितं ययुः ॥

मनुस्मृति १२—२६

गुण तीन हैं (सत्, रज और तम) । यथार्थ वस्तु का जानना सत्त्व का लक्षण और उसके विपरीत न जानना अथवा अज्ञान तम का लक्षण और राग-द्वेष रज के लक्षण हैं । इन सब प्राणियों का आश्रित शरीर इन सत्त्वादि गुणों की व्याप्तिवाला होता है । उक्त तीनों लक्षणों का विस्तार मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है —

(१) सत्तोगुण—जो प्रीति से संयुक्त और शान्त प्रकाश रूपसा आत्मा में जाना जाये, उसको सत्त्व समझना चाहिए । वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्मा का चिंतन ये सत्त्व गुण के लक्षण हैं । अथवा जिस कर्म की सर्वथा जानने के लिए इच्छा करता है, जिस काम को करता हुआ लजित नहीं होता तथा जिस कर्म के करने से उसको आनन्द हो, वह सत्त्व गुण का लक्षण है ।

(२) रजोगुण—जो दुःख से मिला हुआ तथा आत्मा से अप्रीति करे और सर्वदा शरीरधारियों को विषयो की ओर आकर्षित करे, उसको रज जाना चाहिए । प्रारम्भ में रुचि

ब्राह्मण

पृथ्वी	५	पृथ्वी १	मास २	गार्गी ३	वसु ४	राम ५
		अग्नि २	जल २	वेत ३	वसु ४	राम ५
		पृथ्वी ३	जल ३	वेत ३	वसु ४	राम ५
		अग्नि ३	जल ३	वेत ३	वसु ४	राम ५
		पृथ्वी ४	जल ४	वेत ४	वसु ४	राम ५
जल	३	वायु १	जल १	कृमि २	सार ३	भू ४
		वायु २	जल २	कृमि २	सार ३	भू ४
		वायु ३	जल ३	कृमि २	सार ३	भू ४
		वायु ४	जल ४	कृमि २	सार ३	भू ४
		वायु ५	जल ५	कृमि २	सार ३	भू ४
अग्नि	४	क्रिया १	अग्नि १	वृषा २	आलम्ब्य ३	निर्वा ४
		क्रिया २	अग्नि २	वृषा २	आलम्ब्य ३	निर्वा ४
		क्रिया ३	अग्नि ३	वृषा २	आलम्ब्य ३	निर्वा ४
		क्रिया ४	अग्नि ४	वृषा २	आलम्ब्य ३	निर्वा ४
		क्रिया ५	अग्नि ५	वृषा २	आलम्ब्य ३	निर्वा ४
वायु	२	जल १	अग्नि १	वायु २	प्रसरण ३	अकिंचन ४
		जल २	अग्नि २	वायु २	प्रसरण ३	अकिंचन ४
		जल ३	अग्नि ३	वायु २	प्रसरण ३	अकिंचन ४
		जल ४	अग्नि ४	वायु २	प्रसरण ३	अकिंचन ४
		जल ५	अग्नि ५	वायु २	प्रसरण ३	अकिंचन ४
आकाश	३	पञ्चोक्तम् १	काम २	कोष ३	शोक ४	ग्राह ५
		पञ्चोक्तम् २	काम २	कोष ३	शोक ४	ग्राह ५
		पञ्चोक्तम् ३	काम २	कोष ३	शोक ४	ग्राह ५
		पञ्चोक्तम् ४	काम २	कोष ३	शोक ४	ग्राह ५
		पञ्चोक्तम् ५	काम २	कोष ३	शोक ४	ग्राह ५

इस प्रकार यदि हम पञ्चीकरण के प्रथम कोष्ट पर ध्यान देते हैं तो पञ्चतत्त्वों के अनुसार निम्नलिखित पाँच भेद ज्ञात होते हैं :—

(१) वायु के अनुसार शृङ्गार (हास्य) (२) जब बुद्धि में हास्य और शृङ्गार रसों का आविर्भाव हो तो वायु तन्मात्रा की प्रधानता होती है, क्योंकि यह रस चंचलता की वृत्ति में उत्पन्न होते हैं और वायु भी चंचल है।

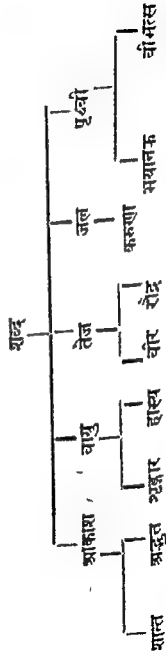
२) अग्नि " " रोड (वीर) (२) जब बुद्धि में रीर व रोड रसों का आविर्भाव हो तो तेज तन्मात्रा की प्रधानता होती है, क्योंकि यह रस बल और तेज बुद्धि की दशा में होते हैं। तेज का भी यही स्वभाव है।

(३) आकाश " " (शान्त) अद्भुत (३) जब बुद्धि में शान्त और अद्भुत रसों का आविर्भाव हो तो आकाश तन्मात्रा की प्रधानता जाननी चाहिए, क्योंकि ये रस शून्यता और उदासीनता की दशावाली वृत्ति में ही उत्पन्न होते हैं। आकाश भी शून्य व उदासीन है।

(४) जल के अनुसार करुणा (४) जय बुद्धि में करुणारस का आविर्भाव होता है, तो जल तन्मात्रा की प्रधानता समझनी चाहिए। क्योंकि यह रस द्रवीभूत वृत्ति में ही उत्पन्न होते हैं। जल भी इसी स्वभाव का है।

(५) पृथ्वी " भयानक (वीभत्स) (५) इसी प्रकार भयानक व वीभत्सरस में पृथ्वी तन्मात्रा की प्रधानता समझनी चाहिए, क्योंकि भय और ग्लानि की दशा में शरीर सखर और जड़ीभूत होजाता है, और पृथ्वी भी जड़ स्वभाववाली है।

नव रस में से पांच रस तो मुख्य हैं, शेष चार उनके साथी हैं।



नाटकों में प्राचीन कवि आठ रसों से काम चलाते थे, उनका नामकरण प्रचलित रस भेद के समान ही है, केवल नवा रस शान्ति गणना में से छोड़ दिया है। इसका कारण अनुमान में यह ज्ञात होता है कि शान्त-रस के पुष्ट करने के लिये बहुधा वेदान्त के शुष्क प्रमाणों की आवश्यकता हुआ करनी है, जिससे अधिकारी बहुत ही कम दर्शक होते हैं, अतः इसे गूढ़ समझ कर प्रधानता नहीं दी है, केवल गौरवरूप से आवश्यकतानुसार उसका वर्णन किया जाता है।

रस के नव से अधिक भेद माननेवालों की सम्प्रतिया

किन्हीं किन्हीं सज्जनो ने दस रस माने हैं (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुणा, (४) रोद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत, (९) शान्त, (१०) वात्सल्य।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने रसों के १३ भेद किये हैं, नव तो वही जो प्रचलित हैं, और चार (१) वात्सल्य, (२) सख्य, (३) भक्ति और आनन्द।

नाटकों के लिये प्राचीनकाल में रसों की गणना आठ मानी थी, सम्प्रति उन्हीं की गिन्ती बढ़ाकर १८ कर दी गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

नव प्रचलित भेद जो नव रस के नाम से प्रसिद्ध हैं। जेप पाँच इस प्रकार से हैं, (१०) भक्ति व वात्सल्य, (११) प्रेम, (१२) सख्य, (१३) वात्सल्य और (१४) प्रमोद व आनन्द।

इन सब के उदाहरण भारतेन्दुजी ने अपनी "नाटक" नामक पुस्तक में दिये हैं, यह उचित प्रतीत होता है कि हम उनके बताए हुए उदाहरणों को उद्धृत करें, किन्तु "नवरस" के उदाहरण तो हम प्रस्तुत लेख में देंगे ही क्योंकि हमारा मुख्य विषय है, इसलिये यहाँ उनका अंकित करना अनावश्यक है। हाँ, शेष पाँच रसों के उदाहरणों के जानने के लिये हम उन ग्रंथों के नाम अंकित करते हैं जिनमें उनके उदाहरण हैं और जिन्हें हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है —

भक्ति-रस सस्कृत चैतन्य-चन्द्रोदय में, प्रेम चन्द्रावली में, शेष लख्य, वात्सल्य और प्रमोद के कोई उदाहरण नहीं बतलाये।

*रस-भेद पर लेखक के विचार

(१) ऊपर के विषय को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि रस भेद में लोगो की दो प्रकार की सम्मतियाँ हैं। पहली श्रेणी में तो

*प्रत्येक वस्तु जो प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली है त्रिगुणमयी है। आकाश भी त्रिगुणमय है। उसके तम प्रधान अंग का कार्य शब्द है। राज-प्रधान अंग का कार्य वाक्-इन्द्रिय है, जो कर्म-इन्द्रिय है और शब्द को श्रवण करती है। और सत्य प्रधान अंग का कार्य आत्र इन्द्रिय है जो कि ज्ञान इन्द्रिय है और शब्द का बोधन करती है। इसी प्रकार अन्य भूतों से इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति है। समस्त इन्द्रिय-जन्य कार्यों का अनु-विधायक मन है, इसलिये श्रोत्र-इन्द्रिय जन्य वा भी हुआ। यह मन (अतक रण) समस्त पचीवृत्त भूतों के सार्विक अंग का माधायक कारण है। इसलिये

वह लोग हैं, जिनके विचार में रसों को सरया ६ से कम होनी चाहिये और दूसरी श्रेणी में वह लोग हैं जिनके विचार से उन की गणना ६ से कुछ आगे बढ़नी चाहिये, हम नीचे उक्त दोनों सम्मतियों पर अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विचार करते हैं।

सर्व प्रथम यह कहा गया है कि जिस प्रकार परमात्मा एक है, और उसके निर्मित किये हुए जीव अनेक हैं, उसी प्रकार रस भी एक हो होना चाहिये, क्योंकि रस को काव्यकारों ने परमात्मा ही कल्पित किया है। निसन्देह उनका विचार बहुत ही ग्राह्य है, हम उनसे सहमत हैं, वास्तव में परमात्मारूप रस एक हो होना चाहिये, किन्तु इसमें हमें कुछ थोड़ा सा कहना है, अथवा यो कहिये कि उन महानुभावों से कुछ प्रश्न करने हैं।

हमकी यात्रा गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। मन के गुणानुसार शब्द भी मुख्य तीन रसों में बँट जाता है, परन्तु पुनः तीन-तीन प्रकार का होकर नव प्रकार की गतियों में आजाता है, जिनको कवियों ने नव-रस कहकर पुकारा है। मन जिस समय जिस गुणगला होता है उसी के अनुसार शब्दिक सृष्टि उत्पन्न करता है। यह सृष्टि भी ध्वनियों के संयोग, वियोग करने से ठीक इसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार भूतों के पचीकरण से जगत की भिन्न भिन्न आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। जब बुद्धि में सत्य गुण वर्तता है उसकी गति ऐसे शब्दों के मनन करने में रहती है, जिनमें करुणा, और अद्भुत रसोंका प्रत्यय होता है। जब रज होती है शब्दों की ओर गति होती है, जिनमें तथा

प्रथम प्रश्न यह है कि जिस प्रकार सृष्टि के उत्पन्न करने, उसका भरण-पोषण करने अथवा उसका सहाय करने से एक ही परमात्मा के तीन नाम, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो गये, तो क्या ऐसे ही अवसर पर रस के कई नाम नहीं हो सकते ? मेरी समझ में उत्तर यही मिलेगा कि हाँ, हो सकते हैं । यदि किसी एक ही रस को प्रधान मानने के लिये ही इतना पचड़ा गया गया है, और रस के नव भेदों के घटाने-बढ़ाने पर उनका कुछ भगडा नहीं है तो हमें भी इस पर कुछ विशेष कथन नहीं करना है, तर्क द्वारा उनमें से जिसका महत्त्व अधिक हो उसी को प्रधान ठहरावें ।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या परमात्मा ने स्वयं नहीं कहा, कि—“एकोहम् बहुस्यामि” । इसका उत्तर इसके अतिरिक्त कि “हाँ कहा है” आप के पास कुछ और भी है ? यदि नहीं तो चतलाइये कि परमात्मारूप रस को क्या उसी बात के कहने का अधिकार नहीं है ? यदि है तो रस भी कई हो सकते हैं ।

रस के मुख्य दो भेद माननेवाला मैं हम कविवर देव-दत्तजी को मुख्य मानते हैं । उन्होंने मन अथवा आत्मा और इन्द्रियों के अनुसार यह विभाग किया है, और उन दोनों भेदों के नाम लौकिक तथा अलौकिक रस रखे हैं । प्रथम के वही नव भेद हैं, जो सवने माने हैं, और दूसरे के तीनभेद हैं, जिनके उदाहरण हमने यथा स्थान उद्धृत कर दिये हैं । यदि हम उक्त महानुभाव के रस-भेद पर विचार करते हैं, तो यह विभाजन कुछ विशेष

आवश्यक्रीय नहीं जान पड़ता। यदि तीनों उदाहरणों पर विचार करते हैं, तो उनका प्रथम उदाहरण शृङ्गार रस के 'स्वप्न दर्शन' (जो वियोगान्तर्गत पूर्वानुपग के चतुर्दशान नामक भेद में से एक है) से अच्छी तरह मिल जाता है। दूसरा उदाहरण वियोग को ग्यारह दशाओं में से 'अमिलापा' से मिलता है। इसी प्रकार तीसरा उदाहरण हास्य रस का परिपोषक है। आत्मा और मन का सम्बन्ध तो सभी रसों से है, फिर समझ में नहीं आता कि देवजी न यह पृथक्त्व किस गूढ़ अभिप्राय से किया है।

तीन प्रकृति, त्रिगुण तथा पंचभूतों के अनुसार कुछ महानुभावों ने रस के तीन या पाँच भेद मुख्य माने हैं। उन्होंने जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह नहीं बतलाया कि उन तीन या पाँच के अतिरिक्त शेष छ या चार का कार्य कैसे चल सकता है? उदाहरणतः शृङ्गार-रस से हम अद्भुत तथा हास्य-रस का कार्य कैसे चला सकते हैं? उन्हें यह बतलाना चाहिये था, शृङ्गार^१, वीर^२ और शान्ति^३ इत्यादि प्रधान हैं। बने रहें—क्या प्रधान, गोण के स्थान पर काम दें सकते हैं? यदि दे सकते हैं तो समझाना चाहिये था।

जिन महानुभावों ने वेदान्त में पंचतत्त्वों के पञ्चोक्त्यण पर ध्यान दिया होगा, वह भली भँति जानते होंगे कि प्रत्येक तत्त्व में अपने अर्द्ध भाग के साथ शेष चारों तत्त्वों के अर्द्ध-अर्द्ध भागों के चतुर्थांश विद्यमान हैं, अतः अपना भाग अधिक होने से अपना ही गुण अधिक रहेगा, और शेष का कम, इसी प्रकार

यदि किसी रस का सम्बन्ध किसी प्रकृति, गुण अथवा तत्त्व से अधिक है, तो किसी का कम, इससे कम सम्बन्धवालों का अस्तित्व नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि उन्हें नष्ट करें तो पहले उनके कार्य का प्रबन्ध करें, सो समझ में नहीं आता। अतः कोई उचित कारण प्रतीत नहीं होता, जिससे हम रसों की संख्या घटाकर तीन या पाँच करें। हाँ इस प्रकार अन्वेषण करके ऐसे महानुभावों ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया है कि हमारे रस-विभाजन में हमारे पूर्वजों ने वैदिक तथा आध्यात्मिक रहस्यों को किस अनुपमता के साथ ग्रथित किया है। इस प्रकार हमारा साहित्य अन्य देशीय विद्वानों द्वारा अधिक आदर पावेगा।

जिन महानुभावों ने रस के लिये केवल आठ रस उपयुक्त बतलाये हैं, शान्त को छोड़ दिया है, उसका उचित उत्तर हम अनुमान से पहले ही अंकित कर चुके हैं। भारतेन्दुजी शान्त रस के उदाहरण के लिये "प्रबोध-चन्द्रोदय" देखने का आदेश देते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शांत-रस प्रयोगात्मक रीति से नाटकों में काम दे रहा है, और दे सकता है। केवल इस रस के प्रयोग करने में इस बात का ध्यान रखना होगा कि उसकी मात्रा केवल थोड़ी रम्बी जावे, और वर्णन शैली अत्यंत मनोहर, अथवा दर्शकों तथा पाठकों को रचिकर होवे।

कुछ महानुभावों ने रस के नवो भेदों में एक दसवाँ भेद चात्सल्य और जोड़ा है। यदि इस पर विचार करते हैं तो यह शृङ्गार-रस के अन्तर्गत ही सिद्ध होता है। महाकवि देवजी ने प्रेम के पाँच भेद इस प्रकार माने हैं—

मानुराग सोहाद्रं अर, भक्ति ओर पात्सल्य ।

प्रम पँडु मित्रि कहत अर, वापगय वैल्य ।

—प्रेम चन्द्रिका

यदि इन पाँचों में से जो शृङ्गार के ही अन्तर्गत भेद हैं, किसी एक अथवा अधिक को पृथक् कर प्रधानता दें तो यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। अतः इस दसवें भेद को अधिक करने की हमें कोई विशेष आवश्यकता अथगत नहीं होती।

अब नाटको की रस-रख्या पर विचार करना शेष है। उनकी संख्या १३ या १४ कल्पित की गई है। पाँच या चार रस बढ़ाये गये हैं, हमारी समझ में यह सब प्रेम के ही विभाग हैं अतः उनकी गणना पृथक् करना व्यर्थ है। आवश्यकतानुसार इनमें से कोई प्रधान भले ही रखा जावे इसमें कोई हानि नहीं।

(१) चात्सल्य—वह प्रेम है, जो बड़े की ओर से छोटे के प्रति होता है।

(२) भक्ति—वह प्रेम है, जो भक्तजनों की ओर से ईश्वर में होता है। गुरु, पिता आदि पूजनीयों में भी यह प्रेम होता है।

(३) सख्य—यह नवधाभक्ति में से एक भक्ति-भाव ही है। अतः भक्ति के ही अन्तर्गत है।

(४) प्रमोद—यह सानुराग प्रेम के अन्तर्गत है।

(५) आनन्द—इस रस का हमें कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ है, न इसकी परिभाषा हा मिल सकी। अतः हम नहीं समझ सकते कि इससे क्या अभिप्राय है। यदि आनन्द से अभिप्राय उस सुख से है जो किसी कार्य के पूर्ण होने पर प्राप्त होता है, तो वह प्रत्येक प्रेम के अन्तर्गत आसकता है। इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसों में भी वह उपलब्ध होता है। केवल आकाश, घटाकाश और मठाकाश का सा अन्तर है। आकाश यदि घट के अन्दर है तो उसका नाम घटाकाश है, और यदि मठ के अन्दर है तो उसी का नाम मठाकाश है। इसी प्रकार आनन्द के विषय में भी समझना चाहिए। फिर इस भेद को पृथक् रखने का कोई कारण नहीं।

उपर्युक्त बातों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे अनुभवों पूर्ववर्ती-विद्वानों ने रस के जो नव-भेद रखे हैं वह समुचित हैं। उनके घटाने उठाने से कोई विशेष लाभ नहीं है।



६-सम्पूर्ण रसोंमें शृङ्गार-रस की प्रधानता

अ-प्रधानता के कारण



दि हम हिन्दी-काव्य पर दृष्टिपात करते हैं तो शत होता है कि उसमें शृङ्गार-रस का बहुत आधिक्य है, प्रायः सभी प्रतिभाशाली, प्राचीन कवियों ने उसे अपनी वज्रित्व-शक्ति द्वारा प्रधान सिद्ध किया है। यथा —

भूलि कहत नर रस सुकवि, सकल शूल सिंगार ।

जो सम्पति दम्पतिन की, जाकी जग रिस्तार ।

देव (कुशल विलास)

सकल नाग निहार है, सुरस माधुरी धाम ।

स्यामहि के वनन धरन, दुख हरन अभिराम ।

—देव (भाव विलास)

नरह रस के भाव बहु, तिनके भिन्न निचार ।

सर के कसगमन हरि, नायक है शृङ्गार ।

—केशव (रसिक-प्रिया)

नर रस म सु सिंहार रस, सिरे कहत सर कोइ ।

सुगम नायिका नायकहि आलम्बित है होइ ।

—पद्माकर (जगदिनोद)

रस-राज श्री शृङ्गार रस म केलि प्रम प्रकाश है ।

—सुधानिधि

इत्यादि अनेक उदाहरणों द्वारा यह फलित होता है कि हमारे भूतकालवर्ती कवियों ने उसे सर्वोच्च पद पर सुशोभित किया है। परन्तु, उनके ऐसा करने का कारण क्या है ? क्या वास्तव में यह रस उतने ही महत्त्व का है जितने का ठहराया गया है अथवा धूस-पच्चड द्वारा उसने अपना कार्य-साधन किया है ?—इत्यादि अनेक शकाएँ उपस्थित होती हैं। कोई तो प्राचीन कवियों के अनुगामी बन उनकी ही हॉ में हॉ मिलाते हैं और कोई उनके विपक्षी बन “शृङ्गार” को लावों कोरी कोरी सुनाते हैं। ऐसा होना कोई आश्चर्य-जनक घटना नहीं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि और विचार भिन्न-भिन्न हैं, फिर कैसे सम्भव हो सकता है कि सब एक ही बात को मान लें। इतना होने पर भी यह अवश्य कहा जावेगा कि प्रत्येक बात अपनी आत्मीयता में कोई न कोई दृष्ट्य और वैचित्र्यपूर्ण रहस्य अवश्य रखती है। आज से दस-बीस वर्ष पूर्व हम लोग अपनी आम्य चौपालों में कुछ बयोवृद्ध कहानी कहनेवालों के मुखोद्भूत “उडन-खटोले” काष्टाश्व अथवा महाराज विक्रमादित्य के बत्तीस पुतलियोंवाले तख्त की बातों की समालोचना किया करते थे, और इन किस्सों को विना सिर-पैरवाला समझ उन पर अट्टहास किया करते थे, इसी प्रकार रामायण तथा महाभारत के पात्रों के चल-वैभव इत्यादि पर भी सन्देह होता था। परन्तु आज वह दिन आगया है कि वैज्ञानिक तथा तत्त्व-दर्शी लोगों ने हमारे सम्मुख वही बातें जो श्रमोत्पादक थी साक्षात् रूप में उपस्थित कर दिखाई हैं—वही बातें आज हमें

आश्चर्य-चकित कर अपने पूर्वजा के उस कौशल के विषय में जो उन्होंने आज से बहुत ही पहले कर दिखाया था और हमें जिसके अस्तित्व तक में शका थीं, मुक्कठ से साधुवाद देने के लिये प्रोत्साहित करती हैं। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी सम्पूर्ण बातें जो अब प्रचलित हैं अथवा पूर्व में प्रचलित थीं, ठीक हैं, परन्तु इसके साथ में यह भी सम्भव नहीं कि वह सब निराधार ही हों। वास्तव में बात यह है कि हम अपनी विज्ञता के तुच्छाभिमान और अपने वृथा अनुमान के सन्मुख या तो दूसरे की बात सुनना ही नहीं चाहते या इतने भोलेभाले बन बैठते हैं कि यदि कोई हम से कहता है कि “तुम्हारे कान कौआ ले गया !” तो बिना अपने कानों के देखे भाले ही कौण के पीछे दौड़ने लग जाते हैं। “हिन्दी काव्य” विषय पर यूरोपियन महानुभावों यथा डा० ग्रियर्सन इत्यादि की की हुई समालोचनाओं पर हम लोगों का विश्वास इतना जम गया है, कि बिना समझे-बूझे ही हम उन्हें स्वीकार कर बैठे हैं। यही कारण है कि हम अपनी परम पूजनीया सर्वोत्कृष्ट गुरु सम्पन्ना, मातृ भाषा सुरसरि के काव्यामृत का पान किये बिना ही उसे दूषित तथा विषयुक्त समझ, केवल उसमें मज्जन करने के सौभाग्य से ही वंचित नहीं रहते, किन्तु उसके दर्शन लाभ से भी अपने नेत्र सुफल नहीं करते।

“जिन खोजा निन पाइया, गहरे पानी पैठ।

हैं बोरी दहन गई, रहा किनारे धैठ”।

उक्त शृङ्गार-काव्य ने युवकों का सत्यानाश कर डाला, परन्तु अभी तक किन्हीं महाशय द्वारा इस कथन के स्पष्टीकरण में कोई उचित प्रमाण प्राप्त नहीं हुए, जिनसे उक्त रस से सामाजिक जीवन पर पटने वाले कुप्रभावों का दिग्दर्शन होता।

यह बात प्रत्येक मनुष्य को माननी पड़ेगी कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, प्रचार तथा विनाश के लिये कार्य-कारण का न्याय निश्चित है। फिर कोई कारण नहीं कि हमारी मातृ-भाषा में शृङ्गार-रस की प्रधानता के लिये वह सिद्धान्त लागू न हो। कभी-कभी हम लोगो को यह कहते हुए देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की उन्नतावस्था में शृङ्गार-रस के आधिक्य का कारण तत्त्वार्थिक राजा महाराजाओं की विलास-प्रियता ही है, केवल उनके प्रसन्न करने के लिये ही उनके आश्रित भाट, चारण इत्यादि इस प्रकार की काव्य-रचना किया करते थे। इस पर अभी कुछ विचार न करके, प्रथम यह जानना उचित प्रतीत होता है कि हिन्दी-काव्य की सृष्टि कब हुई? उस समय देश की सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अवस्था क्या थी? तब यह भली-भाँति समझ में आजावेगा कि शृङ्गार-रस की धाक हिन्दी भाषा पर कैसे जम गई?

विद्वानों का मत है कि हिन्दी की उत्पत्ति प्रायः अर से १२ सौ वर्ष पूर्व हुई। यह वह समय था, जब संस्कृत-काव्य का हास तथा भारतवर्ष की राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं में कीतूहलोत्पादक परिवर्तन हो रहा था। हिन्दी भाषा के कवि

प्रायः भाट और चारण होते थे। वह अपनी काव्य शक्ति द्वारा अपने आश्रयदाताओं की गुणावली का गान करते थे, अथवा अपनी ओजस्वनी कविताद्वारा योद्धाओं को युद्ध कार्य में प्रवृत्त कराते थे। उस समय हिन्दी का सम्मान कौन करता ? किसी को क्या ज्ञात था कि उसका भविष्य क्या होगा ? इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्य में ओजस्व और बल आना अवश्य आरम्भ होगया था, परन्तु विशेष उल्लेखनीय कोई भी बात नहीं थी। हिन्दू राज्य की सत्ता के शैथिल्य के साथ ही हिन्दी-काव्य-कमलाकर भी अस्ताचल की ओर पदार्पण करने लगा था। यद्यपि कदाचित् ही ऐसा कोई द्वार होगा जिसमें भाट या चारण न हों, किन्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय कोई नहीं दृष्टिगत होता।

विक्रम की नवी शताब्दी से लेकर भारत में जो कुछ परिवर्तन हुआ उस पर विचार करना परमावश्यक है, क्योंकि उसका यथोचित ज्ञान हुए बिना हिन्दी-साहित्य की उन्नति तथा उसके रूप का ज्ञान होना असम्भव है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का सम्बन्ध उस देश या जाति के साहित्य से होता है, फिर भला यही नियम भारत के लिये चरितार्थ न हुआ हो, यह कैसे हो सकता है ? अतः हम नीचे कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करते हैं जिनसे हिन्दी का घना सम्बन्ध है।

अभी भारत में मुसलमानों ने पदार्पण नहीं किया था, पौराणिक धर्म उन्नति करता जाता था। उसके व्यापक होने के लिये प्रायः सभी आवश्यक लक्षण उसमें स्फुरित हो गये

बौद्धों द्वारा वैदिकधर्म के कर्म-कांड की जड़ हिलाई जा चुकी थी। उस जड़ को सुदृढ़ बनानेवाले गुप्त-वंशी राजाओं के प्रयत्न सर्वतोभावेन निष्फल हो चुके थे। परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म से भी लोगों को अथद्वा हुई, उस पर महाराज शक-चार्यजी के चलाये हुए वेदान्त मत ने विजय प्राप्त की, किन्तु तद्वर्ती सन्यस्य तथा वैराग्य के आदर्श कठिन तथा दुरूह होने के कारण लोगों से सध न सके। अतः कुछ समय के अनन्तर ही वैष्णव-धर्म चेतन और उसका इतना प्रभाव पड़ा कि तत्कालीन अन्य धर्म भी इस पृष्ठ सागर की उत्ताल-तरङ्गों के साथ प्रवाहित होने लगे।

नवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक स्थिति भी अन्यतः शोचनीय रही। प्रायः बड़े-बड़े हिन्दू-राज्यों का विध्वंस हो गया। छोटे-छोटे राजा रह गये। उन्हें पारस्परिक झगड़ों से ही अवकाश न मिलता था। तुर्कों ने देश पर अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था,—यहाँ तक कि तेरहवीं शताब्दी तक उनका प्रभुत्व समस्त उत्तरी भारत और दो-तिहाई दक्षिणी भारत पर स्थिर होगया। इस कारण हिन्दुओं की राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ ही साथ उनकी धार्मिक तथा सामाजिक स्वाधीनता भी मिट्टी में मिल गई। उनके रीति रिवाज, रहन-सहन इत्यादि अन्य व्यवहारों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ दिनों तक तो उनके नष्ट प्रायः हो जाने का ही भय रहा। गुण-ग्राहकता का

तो कहीं नाम भी न था। ऐसे दुर्गम समय में बड़े-बड़े सहृदय सज्जनो को भी साहस न होता था कि साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करें। बंगाल में अन्य प्रान्तों की बनिस्सृत मुसलमानों की नीति कुछ नर्म थी, राजस्थान तथा दक्षिण में हिन्दुओं का वास्तविक प्रभुत्व था, इस कारण केवल इन्हीं स्थानों पर हिन्दू-साहित्य की कुछ सेवा होती रही।

यहाँ पर हिन्दो-साहित्य के विषय में कुछ विचार प्रकट करने हैं। अतएव उससे सम्बन्धित कुछ ऐतिहासिक विचारों को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि आगे ऐतिहासिक विचारों द्वारा ही फल निकालना होगा।

रामायण, महाभारत तथा पुराणादि के पढ़नेवाले महाशय भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् के अवतार लेने का कारण "धर्म की ग्लानि" और "दुष्टुतों की प्रवृत्ति" का होना ही है। भगवान् स्वयं कहते हैं —

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्टनाम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

—भगवद्गीता अध्याय ८

राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी, विधाता को अपना दुख सुनाने गई। पृथ्वी तथा देवताओं की दुर्दशा देख विधाता को दया आई। उन्होंने अपनी तथा देवताओं की ओर से

ईश्वर से प्रार्थना की, प्रार्थना स्वीकार हुई और नवीन युग व सूत्रपात हुआ। सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दुओं पर अगणित विपत्तियाँ आईं। तब पहले की भाँति उन्हें अशरण-शरण परमात्मा की ही शरण लेनी पड़ी। रघुवश कुमार-सम्भव और माघ इत्यादि साहित्य-ग्रन्थों में यह भाव भरे पड़े हैं। मनुष्यों के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे। अतएव उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी महाराज तथा योगिराज श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र अत्यंत रुचिकर हुए, और उन्हीं वर्णनों में उन्हें साक्षात् आशादेवी के दर्शन होने लगे। यही कारण है कि मनुष्यों की प्रवृत्ति भागवत-धर्म की ओर सहज ही में झुक गई।

ऐसे कष्ट के समय में उत्तरी-भारत की दक्षिण से श्रीशङ्कराचार्यजी की सहायता प्राप्त हो चुकी थी—रामानुजादि वैष्णव-धर्माचार्यों ने भी उन्हें सहायता दी। इसी समय में उत्तर का पठान साम्राज्य नष्ट हुआ, मेवाड़ की उन्नति हुई। जनता में सिद्धान्त ग्रहण करने की योग्यता हुई। ऐसे समय में दक्षिण से महाराज रामानन्द जी बंगाल होते हुए मध्यप्रदेश में उपदेश करने लगे। धर्म के महत्त्व को सर्वसाधारण के लिए सरल बनाने को गोरखनाथजी ने हिन्दी में उपदेश देना आरम्भ किया। रामानन्दजी ने भी हिन्दी का सहारा लिया। उनके शिष्य फरीदासजी ने तो इस भाषा द्वारा ज्ञान का श्रोत प्रवाहित कर दिया। महात्मा तुलसीदासजी ने रामचरित

मानस की सृष्टि की। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र से आकर महाप्रभु वल्लभाचार्यजी मथुरा के पास ठहरे। अनुपम विद्वान होने के कारण आप की बड़ी भारी प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने कृष्णभक्ति का उपदेश दिया, ब्रजवासियों के मस्तिष्क-क्षेत्रों में प्रथम से ही यह बीज बपन हो चुका था, उक्त महात्मा जी के अनुपम उपदेश-सुधा को प्राप्त कर वही बीज अकुरित होकर उन्नति करने लगा। वल्लभाचार्यजी के उपदेशों से ब्रज-वासी प्रेम गद्-गद् होगये। उनके भाव काव्य के रूप में प्रकट होगये। ब्रज के स्त्री पुरुष भायुक तथा सहृदय थे, उनकी भाषा अत्यंत मधुर एवं रसीली थी, इसी प्रकार उनकी जीवन-चर्या भी अत्यंत ललित तथा अनुकरणीय थी। फिर भला कविता के लिये इससे भी अच्छा और स्थान कौन मिलता। भगवान कृष्ण की जन्म भूमि यही तो थी, यहीं तो भगवान बाल क्रीड़ा करते थे, यहीं तो उनके रस रास का क्रीड़ा-स्थल था। वास्तव में हिन्दी साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियों की भायुकता का ही फल है। इसके पहले हिन्दी में दो चार कवियों और काव्य पुस्तकों को छोड़कर और था ही क्या ?

हिन्दी कविता की वृद्धि का कारण मेवाड़-राज्य की उन्नति तथा सम्राट अकबर का ब्रज के समीप आगरे में अपनी राजधानी स्थापन करना है। सम्राट को काव्य का स्वयं शौक हुआ, उसके देखा देसी अन्य पदाधिकारी भी काव्य की ओर झुके। दूसरे देशों के निवासी भी यहाँ का आमोद उठाने

को आने लगे । कहाँ तक कहें, बड़ी चहल-पहल हुई । कवियों का मान इतना बढ़ा कि वे लोग राजसी सज-धज से रहने लगे जब लोगो ने देखा कि मनोविनोद के साथ ही साथ काव्य द्वारा आर्थिक लाभ तथा सम्मान भी होता है तो प्रायः सभी का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया ।

हिन्दी-काव्य और उसकी व्युत्पत्ति पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक है कि वह काव्य कैसा है ।

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार से की है, जिसके विषय में यथा स्थान लिखा भी जा चुका है । ध्यान पूर्वक विचार करने पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भाव-लहरी, पद-लालित्य तथा सुन्दर शब्दावली की गूढ़ और मृदुमैत्री से ही काव्य की उत्पत्ति हो जाती है । कवियों ने भाव-भेद तथा रस-भेदों की गणना कराई है, परन्तु वास्तव में उनको गिनना आकाश के तारों को गिनना है । सहृदय तथा तरङ्गित हृदयों में यह पात्र के अनुकूल उत्पन्न होते हैं । उनका वाञ्छ्यवद्ध करना केवल कवियों का ही काम है, किन्तु जातीय-साहित्य का उद्भव तभी होता है, जब एक ही काल में बहुत से व्यक्तियों के हृदयान्तर्गत समान भावों की जागृति होती है । यह दशा किसी विशेष समय की सामाजिक, आत्मिक, राजनैतिक तथा अन्यान्य सर्व व्यापक कारणों के मिलने से उत्पन्न हो जाती है । अतएव जातीय-साहित्य तथा काव्य काल क्रम के अनुसार

स्थिर किया जाता है। संसार की सम्पूर्ण जातियाँ उनका कार्यक्रम और ऐतिहासिक संचरण एक सा नहीं होता। सत्र पुष्पलतादि के रंग रूप व गुण एक से नहीं होते। इसी प्रकार उनकी गंध भी समान नहीं होती। ठीक यही हाल जातियों के साहित्यों का है। किसी देश के साहित्य का बुरा-भला होना उस देश के जन साधारण की अवस्था पर निर्भर है। यह पहले ही वर्णन कर दिया गया है। १५ वीं तथा १६-वीं शताब्दी में भागवत धर्म का प्राबल्य था, परन्तु भक्ति-मार्ग के वैष्णव-धर्म की प्रबलता थी। वही भाव मनुष्यों के हृदयों में गुजायमान हो रहे थे। उन्ही भावों का विकास कवियों की अमृतमयी वाणी द्वारा हुआ। परमात्मा की उपासना ही हमारे काव्य की जननी है, उसका प्रेम ही हिन्दी-काव्य का मूल है। प्रेम ही शृङ्गार का मूल कारण है। जो लोग इस रस के काव्य को भोग-विलासिता का प्रतिविम्ब समझते हैं वे भगवद्भक्तों की शृङ्गार-मय उपासना तथा उनके भावों की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। हम पहले ही कह चुके हैं, कि अरविन्द घोष ने व्यासजी के काव्य के भावों को समझकर उनकी कितनी प्रशंसा की है। यदि अन्य सज्जन भी उनका अनुकरण करें तो लोगों को आदिकवि के महाकाव्य भागवत में व्यभिचार की छाया न दिखायी दे। खेद है, ऐसे महर्षि के मनोहारी व रोमांचकारी काव्य को व्यभिचार और भोग-विलासिता का प्रतिपादक समझ लोग दृष्टि तथा ज्ञान दोष से दूषित होते हैं। समय की

उपयुक्त बातों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि "शृङ्गार-रस" को लोगों ने इतना हौश्रा बना रखा है जितना वह है नहीं। उससे भय उत्पन्न होने की भी आशका नहीं है। यदि हम प्रेम तथा शृङ्गार-रस का वहिष्कार कर दें तो क्या किसी भी भाषा की कविता में सरसता तथा माधुर्य रह सकता है? कदापि नहीं। मनुष्य के हृदय में प्रेम से बढ़कर कोई भाव नहीं, और सांदर्योपासना से बढ़कर कोई उपासना नहीं। कुत्सित विचार तथा स्वार्थपरता इस प्रेम को कलुषित बनाती है, कुपात्रों द्वारा वही प्रेम भयानक तथा आसुरी भेष धारण कर लेता है। परन्तु ऐसी दशा में वह प्रेम, प्रेम न रहकर विषय-वासना के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। इस भेद को हिन्दी-भाषा के कवोश्वरो ने भली भाँति समझा था। यद्यपि उन्होंने नायिका-भेद में परकीयदि नायिकाओं का वर्णन किया है, परन्तु वह विषय वैज्ञानिक तथा काव्य के अन्य अङ्गों की पूर्ति के लिये हो है, अनुकरण के लिये नहीं। हमारे कवियों ने बार-बार चिल्लाकर हमें सचेत किया है, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरणों से विदित होगा। यदि इस पर भी हम न चेतें तो उनका क्या दोष है।

विषयीजन ब्याकुल विषय, देखें विष न पियूप ।

सीरी सीरी सी बँह, जूरी यदपि मयूप ।

यह विचार प्रेमीन का, विषयीजन का नाहि ।

विषय निकाने जमन की, प्रेमी द्रियत न छाहि ।

जप तप व्रत ऋतु नेम सो, प्रेमी जन न रखात ।

पूरन प्रेम प्रसन्न मन, ब्रह्मानन्द समात ।

यदि कृष्णभक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो परकीयादि नायिकाएँ गोपों की मदमाती गोपियाँ हैं, भगवान् ने उनके साथ रास-क्रीड़ा की है । अतः कवियों ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अन्तर्गत इस विषय को स्थान दिया । इस पर राजा परीक्षित को शंका हुई, तब महात्मा शुकदेवजी ने उत्तर दिया .—

यत्पादर्पकजपरागनिषेव वृत्ता,

योगप्रभाव विधुतासिल कर्मबन्धा ।

स्वैर चरन्ति धुनियोऽपि न नष्ट माना,

स्तस्येच्छपाऽऽत्तत्र पुष कुतश्च बन्ध ?

यह विषय बहुत ही उत्तम है, इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है । हिन्दी-कवियों ने अपने काव्य के नायिका-नायिकाओं को स्पष्ट रीति से घतला दिया है । इस पर भी यदि किसी की समझ में न आवे तो उनका क्या दोष है ? देखिये न—

सत्य रसायन कपिन को श्रीराधा हरि सेव ।

× × × ×

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप ।

सबे दम्पतिन में प्रगट, देव करै तिहि जाप ।

—देव कवि

× × × ×

बन्धि नायिका-नायकन, रच्यो ग्रन्थ मतिराम ।

लीला राधारमण की, सुन्दर यय अभिराम ।

—मतिराम

या अनुरागी चित्त की, गति जानत नहि कोय ।
ज्यो-ज्यो बढै स्याम रंग, स्यो-स्यो वज्जल होय ।
तजि तीरथ हरि राधिका, तनु दुति कर अनुराग ।
जेहि मन पेनि निकु ज मग, पग-पग होत प्रयाग ।

—विहारी

एक परकीया नायिका का प्रेम विषयक सवैया और छन्द लीजिये । शुद्ध प्रेम का कितना बढ़िया उदाहरण है —

ज्यो इन आखिन सो निरसक हूँ, मोहन को तन पानिय कीजै ।
नेकु निहारे कलक लगै इहि, गौन बसै कहु बैसक जीजै ।
होत रहे मन यो मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ।
हूँ बन माल दिये लगिये, अरु हूँ छरली अधरारस पीजै ।

—मतिराम

उपर्युक्त विचारों द्वारा शृङ्गार-रस का महत्त्व भलीभाँति ज्ञात हो गया । अब इस बात पर विचार करना शेष रहा कि शेष नव-रसों पर इसका प्रभुत्व किस प्रकार जमा हुआ है, और शेष रसों का समावेश इसमें किस प्रकार हो सकता है । प्रथम यह और देख ले कि पाश्चात्य विद्वान् हम से भिन्न मत क्यों रखते हैं ?

पाश्चात्यो ने मनुष्य और प्रकृति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानी हैं, किन्तु हमारे यहाँ दोनों एक हैं । मनुष्य श्रेष्ठता पर हमारे धर्मशास्त्रों ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति को दबना पड़ा है । अतः जब कभी हमारे कविगण

नैसर्गिक और प्राकृतिक वर्णन करने बैठते हैं, तब उनका अभिप्राय नायिका और नायक अथवा स्त्री-पुरुष के गुणों को और भी उत्कर्षित कराने और प्रकृतिवत् मानसिक भावों का तारतम्य दिखाने का होता है, उसे मनुष्य की दूसरी प्रियतमा अथवा नायिका की सौत बनाने का कदापि नहीं। इसके लिए हिन्दी-कविता तथा उसके कवि दोनों ही निर्दोष हैं, क्योंकि यह हमारे मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का स्वाभाविक फल है।

अब हम भारत के जल-वायु के सम्बन्ध से शृङ्गार-रस पर विचार करते हैं, क्योंकि मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा करता है। जो देश शीत प्रधान है, वहाँ के लोगों को अपनी शरीर-रक्षा की निरन्तर चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं। वहाँ के निवासियों को अपनी जीवनोपयोगी सामग्री को एकत्रित करने ही में सारा समय व्यतीत करना पड़ता है। यही कारण है कि सांसारिक बातों में वे फस जाते हैं—उन्हीं ससारी पदार्थों से इतना मोह हो जाता है कि वह जीवन का मुख्य उद्देश्य सांसारिक पेश्वर्य प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जिन देशों की दशा इसके प्रतिकूल है, वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, ओढ़ने, पहनने का सम्पूर्ण सामान प्रस्तुत कर दिया तो फिर हाथ-पाँव चलाने की आवश्यकता ही क्या है। हमारी पूजनीया मातृ-भूमि प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड कोड़ा-स्थल है। यहाँ

सम्पूर्ण ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की प्रचुरता है, भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब प्रकार के पाद्य पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इन पदार्थों की चिन्ता तो यहाँ के निवासियों को रहे ही क्यों? यस सम्पूर्ण बातों से चित्त हट कर ईश्वरोपासना और तत्सम्बन्धी अन्य विचारों की ओर उन की प्रवृत्ति हुई। जीव, जीवात्मा और परमात्मा के भेद समझने में उन्होंने अपना समय व्यतीत किया, और परमात्मा की भक्ति के नये-नये मार्ग ढो ज निकाले, अथवा यों कहिये कि नव्याभक्ति की सृष्टि की, ईश्वरीय प्रेम प्रसून चिकसित हुआ, और उसके सौरभ से समस्त भारत सुगन्धित होगया। यही प्रेम शृङ्गार-रस का मूल हुआ। परन्तु यहाँ उसकी दो शाखाएँ हो गईं। प्रथम तो ईश्वर सम्बन्धी प्रेम में उन्मत्त पुरुष-स्त्रियों के तत्सम्बन्धी गुणगान, और दूसरी शाखा में विलास प्रिय लोगों (जो इन्द्रिय लोलुप थे) के विचार। इस दूसरी शाखा ने ही लोगों को हिन्दी के साहित्य को हानिकर कहने का अवसर दिया। कुछ भी हो, यह कहना पड़ेगा कि भारत-भूमि शृङ्गार-रस के अनुकूल है। यहाँ का जल वायु हर प्रकार उसका परिपोषक है। फिर यदि यहाँ इस रस का प्राधान्य हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अब तक जो विचार प्रकट किये गये वह भाषा तथा देश के सम्बन्ध से हुए। अब सर्व देशीय सिद्धान्त के अनुसार विचार करना उचित है। जब हम ससार की ओर द्रष्टि उठाकर देखते

हैं तो उसमें स्त्री जाति की ही प्रधानता पाते हैं। सुकुमारता, सरसता, माधुर्य और मनोहरतादि गुण स्त्री-प्रकृति में ही सन्निवेशित हैं। ससार की सभी भाषाओं में स्त्री जाति का आदर है। अरबी भाषा के “सवः मुअल्लिका” नामक सात कविताओं का समूह जो मक्का के मन्दिर में सुवर्णक्षरों में लिखकर लटकाया गया था, उनमें “अमर इलकैस” की कविता सर्व प्रथम थी। उसमें इसने अपनी तथा अपनी प्रेयसी की ही राम-कहानी सुनाई है, उसकी स्त्री का नाम उनैजा है। हम नीचे उस की कविता का एक नमूना उद्धृत करते हैं—

अला रुग्ना योमिन काना मिन हुजा सालेहिन,

यला सय्या मा योमिन ने दोरत जुल-जुली।

भावार्थ—देख ! तुझे बहुत से ऐसे दिन प्राप्त हुए हैं, जिनमें तूने मनोहारिणी स्त्रियों के साथ विहार किया है। विशेषतः दारत जुल-जुल (तालाब का नाम) सम्बन्धी दिन तो बहुत ही अच्छा था।

उपर्युक्त उदाहरण आपने देखा, किसका कहा हुआ है ? यह है अरबी भाषा के कालिदास, महाशय इलकैस का, और उसमें आपने उस समय के व्यतीत होने का पञ्चात्ताप किया है। जिनमें अनेक भोग-विलास किये थे।

विशेष कहों तक कहें, प्रेम वस्तु ही ऐसी है कि यदि इसे ससार से पृथक् कर दें तो लोगों को यहाँ रहना ही दुर्लभ हो जाय। स्वयं परमात्मा तक इसके फदे से नहीं बचे हैं। फारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि हाफिजजी कहते हैं—

इश्क अम्बल दरदिले माशूक पैदा भी शयद ।

गर न सोजद शमा के परवाना पैदा भी शयद ।

भावार्थ — प्रेम प्रथम माशूक (ईश्वर) के हृदय में पैदा हुआ, यदि मोमयत्ती प्रथम स्वयं न जली होती तो परवाना उस पर मोहित न होता ।

पाठक ! कवि का आशय कितना गवेषणापूर्ण है ? उसने प्रेम की जड़ को खोद निकाला है । वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि के प्रेमाधार एकमात्र ईश्वर में प्रेम का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो आज यह सृष्टि ही न होती ।

प्रेम कोई सरलता से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है । प्रेम करना लोहे के चने चवाना है, प्रेम का मार्ग अत्यन्त दुरूह है । प्रेमी प्रेम में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपने ही को भूल जाता है । शुद्ध प्रेम चाहे मानुषी हो, चाहे ईश्वरीय सराहनीय है । कवि यदि ऐसे प्रेम का आधार लें तो उसमें हानि ही क्या है । यदि कहीं प्रेम में स्वार्थपरता ने अपना अधिकार जमा लिया हो तो कवि का कर्त्तव्य है कि काव्य द्वारा पाठको पर ऐसा प्रत्यक्ष प्रभाव डाले कि उनको ऐसे प्रेम से घृणा हो ।

शुद्ध प्रेम के विषय में फारसी भाषा के अद्वितीय कवि "शेन सादी" साहब कहते हैं —

ऐ मुर्ग सहर इश्क जे परव गया मोज ।

सम्यन्ध नहीं है। इसी (इन्द्रियलोलुपता) ने तो लोगों को हिन्दी में छिद्रान्वेषण करने का अवसर दिया है। यथा :—

“जानि परै न कछु मन की मिलिहा कवहुँ कि हमें ठगती हो”।

X

X

X

“कहो प्राण प्यारी क्या यहाँ हाथ मला करे”।

X

X

X

फूलन सो घालकी घेनाय गुही बेनीलाल,

भाल दीहाँ घेदी मृगमदकी अस्ति है।

अंग-अंग भूषण घनाये मज भूषणजू,

घोरी निजकर सा रगई करि हित है।

हूँ कै रस-रस जन देवी को महावर को,

सेनापति श्याम गहो चरख ललित है।

चूमि हाथ लाल के लगाय रही अँसिन सो,

अहो प्राणपति यह अति अनुचित है।

X

X

X

“मेरे कर मँहँदी लगी है नन्दलाल प्यारे,

लट बलभी है नेक बेसर सुधारि दे”।

यद्यपि उपर्युक्त उदाहरणों में से, दो तो श्रीकृष्णजी सबधी ही हैं, परन्तु फिर भी ऐसे काव्य के चाटुल्य से विशेष लाभ न समझकर हमारे कविगणों ने यह समझा कि ऐसे पद्यों की रचना विषय प्रवण लोगों की प्रसन्नता के ही लिये है, तब उन्होंने ऐसे विषयी तथा कुलग-प्रिय लोगों को सचेत करने के लिये उनकी खबर निम्नलिखित पद्य जैसे कोड़े लगाकर ली।

भौंडन को भोज औ कलायत को कन जैसे,

विश्रम को घेणु से बरोज रस लेने को ।

चेडिन ये विक्रम राम जनी को जयचन्द,

बुगलों को चतुर्भुज भारी मौज करिये को ।

कहै अयसेरी मसरारन को मग जैसे,

चलत विपरीत धिक्कार ऐसे जीये को ।

विपयिन के रहत दुई बातन की तगी,

एक ईश्वर निमित्त औ कजीश्वर के दीये को ॥

परवर्तीकाल के कवियों ने ही इस प्रकार की कविताएं अधिक की, जो हिन्दी पर दोषारोपण करा सकती हैं । हम यह नहीं कहते कि पूर्वकाल के कवियों ने शृङ्गार का वर्णन नहीं किया, और न शृङ्गार-रस की बुराई करते हैं, किन्तु यह अवश्य कहेंगे कि हमारे पूर्व कवि शृङ्गार-रस के पीछे नहीं पड़ गये, और न उसमें उलझ ही गये । उनकी कविताएं अत्यंत स्वाभाविक, सरल तथा भावपूर्ण होती थीं । नन्ददासजी की एक कविता सुनिये —

“विरियन के चौंचिहात दुसही उठि प्रात जागो,

धीरे धीरे आय के जसुदा के पाय लागी ।

जसुदा असीस दई अचल अहिवात तेरो,

सुंदर जोरी निहारि हिय सिरात मेरो ।

मुख की करनि, दुप की हरनि कीरति की जाई,

बड़े भाग यह ऐसी पाई ॥”

इन्हीं महाशय का एक दूसरा पद्य और लीजिये, जिसमें गोपियाँ ऊद्धव को सम्योधित कर कहती हैं .—

“जो सुप्त नाहिन हतो कहो किन माखन खायो ?

पौइन बिन गो सग कहो वन-जन को धायो ?

आँखिन में अजन दियो, गोरधन लियो हाथ,

नन्द-जसोरा-भूत है, कुनर कान्हू प्रजनाथ ॥

कितने स्वाभाविक, मनोहर अथवा सुवाध वर्णन हैं ! बनावट तो पास होकर नहीं फटकी । यदि कविगण विशेषकर चमत्कार की ओर ध्यान न देकर उपयोगिता की ओर भी ध्यान दें, और समयानुसार दाम्पत्य प्रेम के भाव भी प्रकट करें तो इसमें कोई बुराई नहीं । यह भाव इतना महत्वपूर्ण है कि कठिन से कठिन समय में भी लुप्त नहीं हो सकता । फिर इसके परित्याग करने की सम्मति कौन दे सकता है ? आवश्यकता केवल इस बात की है कि वर्णन सुरुचि-सम्पन्न और मनोहर हों, साथ ही उनकी एक सीमा भी रहे ।

यदि कालिदास के ग्रन्थों में दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरुरवा, शकुन्तला, प्रियव्रदा आदि प्रेम-चरित्र अंकित न होते तो क्या वे ससार में इतना नाम पा सकते थे ? इसी प्रकार यदि शेक्सपियर के ग्रन्थ मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो-जूलियट, मिरंडा और देसदेमोना इत्यादि के चित्रों से चित्रित न होते तो आज क्या संसार में इतने आदरणीय हो सकते थे ?—कदापि नहीं । वास्तव में बात यह है कि सम्पूर्ण भाषाओं में इस दाम्पत्य प्रेम

की आवश्यकता है, और इसी कारण सभी भाषाओं में शृङ्गार-रस की कविताएँ प्रस्तुत हैं, केवल भेद इतना ही है किसी में कम हैं और किसी में अधिक है। चाहे चीनी, जापानी, ईरानी, फारसी इत्यादि पूर्वीय भाषाओं पर दृष्टिपात कीजिये और चाहे फ्रान्सिसी, जर्मनी, लैटिन आदि पश्चात्य भाषाओं की ओर देखिये, शृङ्गार-रस का प्राधान्य सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होगा।

हमारे यहाँ के कुछ लोग जिन्हें अंग्रेजी साहित्य का कुछ भी ज्ञान है, और जिन्होंने उस भाषा के विद्वानों द्वारा हिन्दी-भाषा पर की हुई समालोचनाओं को पढ़ा है, वह हिन्दी-भाषा में शृङ्गार-रस होने के कारण उससे बेतरह रुष्ट होते हैं। स्यात् उस समय वह इस बात पर विचार नहीं करते कि अंग्रेजी-साहित्य में भी ऐसे वर्णन की कमी नहीं है। हम उदाहरण के लिए यहाँ अंग्रेजी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के “रोमियो-जूलियट” में से दो-एक उदाहरण उद्धृत करते हैं।

(1) Romeo—

See ! how she leans her cheek upon her hand,
O ! that I were a glove upon that hand
That I might touch that cheek

(2) Romeo—

With love's light wings did I overperch these
walls,
For Stony limits cannot hold love out,

इन्दी महाशय का एक दूसरा पद्य और लीजिये, जिसमें गोपियों ऊद्धव को सम्बोधित कर कहती हैं :—

“जो सुख नाहिन हतो कही किन माखन धायो ?

पाँदन विन गो-सग कही वन-मन को धायो ?

आँखिन में अजन दियो, गोपरधन लियो दाय,

नन्द-जसोदा पूत है, कुवर कान्हू मजनाय ॥

कितने स्वाभाविक, मनोहर अथवा सुवाध वर्णन है ! बनावट तो पास होकर नहीं फटकी । यदि कविगण विशेषकर चमत्कार की ओर ध्यान न देकर उपयोगिता की ओर भी ध्यान दें, और समयानुसार दाम्पत्य-प्रेम के भाव भी प्रकट करें तो इसमें कोई बुराई नहीं । यह भाव इतना महत्त्वपूर्ण है कि कठिन से कठिन समय में भी लुप्त नहीं हो सकता । फिर इसके परित्याग करने की सम्मति कौन दे सकता है ? आवश्यकता केवल इस बात की है कि वर्णन सुरुचि-सम्पन्न और मनोहर हो, साथ ही उनकी एक सीमा भी रहे ।

यदि कालिदास के ग्रन्थों में दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरुरवा, शकुन्तला, प्रियंवदा आदि प्रेम-चरित्र अफिन्न न होते तो क्या वे सत्सार में इतना नाम पा सकते थे ? इसी प्रकार यदि रोमस पियर के ग्रन्थ मैकबेथ, ओथेल्लो, रोमियो-जूलियट, मिरंडा और देसदेमोना इत्यादि के चित्रों से चित्रित न होते तो आज फश सत्सार में इतने आदरणीय हो सकते थे ?—कदापि नहीं । वास्तव में बात यह है कि सम्पूर्ण भाषाओं में इस दाम्पत्य-प्रेम

(३) जूलियट अपने प्रेमी रोमियो से कहती है कि मेरे माता-पिता आप के लिये बहुत भयानक हैं। इस पर रोमियो कहता है —“नहीं, नहीं—मुझे उनका कुछ भय नहीं। मेरे लिये तो तुम्हारे नयनयाण उनके वीस बाणों से भी अधिक आघात पहुचानेवाले प्रतीत होते हैं”।

पाठक ! विचारिये, कविवर शेक्सपियर ने प्रेम का महत्त्व किस अनुपमता के साथ प्रदर्शित किया है। प्रेमी तथा प्रेमिका के वार्तालाप में एक-दूसरे के प्रेम की पराकाष्ठा कर दी है। रोमियो अपने अस्तित्व को मिटाकर अपनी प्रेयसी जूलियट का दस्ताना बनना चाहता है, या यों कहिये कि दस्ताने द्वारा अपनी प्रेयसी के कपोल-स्पर्श से उसको ईर्ष्या होती है। रोमियो द्वारा नेत्रों का क्या ही उत्तम वर्णन कराया गया है, जिसको देखकर हमें अपनी हिन्दी-भाषा का अत्युत्तम दोहा स्मरण होता है —

तनक ककरी के परे, नैन होत बेचैन ।

वे धुरे कैसे जियें, जिन नयन में नैन ॥

फिर ऐसी अवस्था में विचारे रोमियो के लिये जूलियट के नेत्रों द्वारा अनुभव किये हुए कटाक्ष वीस बल्लियों से भी अधिक घातक प्रतीत हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हमने नमूने के लिए अंग्रेजी-भाषा के एक प्रसिद्ध कवि के नाटक में से एक श्लोक से कुछ शब्द उद्धृत कर दिये हैं।

में भी अपने को रक्षित न रख सका, क्योंकि उसकी छाती फाड़ी गई। सुवर्ण अपने शरीर को अग्नि में भस्म करने चला गया। चन्द्रमा कभी तो तेरे भय से थोड़ा थोड़ा क्षीण होता है और कभी तेरे कटाक्षों से काय कम हुआ समझ बढ़ता जाता है। 'वेचारे की बुरी स्थिति है'। केशवदास कहते हैं कि अब रुग्ण रहे, सो तो तुझ में अनुरक्त ही है, फिर बताओ अब यह क्रोध किस पर है—(जो भृङ्गुरी चढ़ी हुई है, ओठ फड़क रहे हैं, इत्यादि)। यहाँ कवि ने शृङ्गार-रस से रौद्र-रस की सिद्ध की है।

प्रियाजू को वीर रस

गति गजराज साजि देह की दिवसि पाजि,
 हाव रथ भाव पति राजि चल चाल सों।
 लाज साज कुलकानि शोच पोच भवभानि,
 भोंह धनु तानि वान लोचन प्रियाल से।
 केगोदास मदहास अस्ति कुच भट भिरें,
 भेंट भये प्रति भट भाले नख जाल से।
 प्रेम को कवच वसि साहस सहायक ले,
 जीति रति-रख आजु मदन-गुपाल से।

कवि ने यहाँ सेना का रूपक बाँधा है। राधिका जी से सखी का कथन है कि हे सखी, रति रणक्षेत्र में चलकर आज रुग्ण महाराज पर विजय लाभ प्राप्त करो, इस युद्ध के लिये सेना की आवश्यकता होगी सो गतिरूपी हस्ती, सौंदर्य रूपी अश्व, हाव रूपी रथ, तथा भावरूपी पदातियों द्वारा चतुरगिणी

अनेकस्थलों से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो शृङ्गार-रस के महत्त्व को पूर्णतया प्रकट कर सकेंगे।

अब हम नीचे कुछ उदाहरण 'केशव' की 'रसिक-प्रिया' नामक पुस्तक में से उद्धृत कर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वह इनके इस सम्पूर्ण वर्णन को पढ़कर चित्त प्रसन्न करें। इस में इस कवि-पुङ्गवने शृङ्गार रस को मूल ठहराकर अन्य रसों की उससे उसी प्रकार सिद्धि की है, जिस प्रकार मूल पदार्थ ईश्वर से किसी भी मिष्टान्न की सिद्धि हो सकती है।

प्रियाजू को रौद्र-रस

केहरी की हरी कटि करी मृग मीन फणि,

शुक पिक कज सजरीट बन लीनो है।

मृदुल मृणाल विम्व चम्पक मराल बेल,

कुकुम थरु दाडिम को दूनो दुख दीनो है।

जारत कनक तन तनक-तनक शशि,

घटत घटत बहुजीय गध हीनो है।

केशोदास दास भयो कोमल कुँवर कान्ह,

राधिका कुँवरि कोप फौन पर कीनो है।

यहाँ सखी की उक्ति नायिका से है, वह कहती है कि तूने केहरी की कटि की शोभा अपहरण करली। हाथी, मृग तथा मीन इत्यादि तेरे भय से बन में जा छिपे। कोमल कमल तथा चिम्या-फल इत्यादि तेरे शरीर की अन्य उपमाओं ने भी बन की ही शरण ली। बेचारे अनार को तो तूने दूना दुख दिया ; क्योंकि वह बन

को दुखदाई हुए हो। आप तो बड़े ही सीधे हैं, इसीलिए तो शिक्षा देकर मुझे सुधारने की ठानी है। किन्तु यह तो बतलाइए कि कभी सीधे (प्रसन्नता) में भी उन्होंने मुझसे सीधी तरह बातचीत की है, जो ऐसे में करेंगी। यदि आपको विश्वास नहीं होता तो जरा छिपकर देखो, उसने कामदेव के धनुष की तरह अपनी भोहें चढा रखी है।

यहाँ कवि ने शृङ्गार-रस में भयानक-रस का समावेश किया है।

कृष्ण को अद्भुत-रस

मापन के चोर मधुचोर दधि दूध चोर,

देखति हो देखत ही हियो हरि लेत है।

पुरुष पुराण अरु पूरण पुराण इहै,

पुरुष पुराण सुकहत किहि हेत हैं।

केशवदास देखि-देखि सुरन की सुदरि ये,

करतीं निचार सप सुमति समेत हैं।

देखि गति गोपिका की भूलि-जाति निज गति,

अगतिन कैसे धौ परम गति देत हैं।

पुरुष-पुराण (लोमशादिक ऋषि) और पूरण पुराण (भारतादिक) इनको परब्रह्म कह कर वर्णन करते हैं, सो इसका कारण समझ में नहीं आता, क्योंकि मैं तो इन्हें दधि दूध तथा मापन और मिष्टान्न को चुराते हुए देखती हूँ। केशवदास कहते हैं कि देवताओं की खियाँ बड़ी बुद्धि लडा लडाकर विचार फर रही हैं कि जो कृष्ण राज यनिताओं की सुन्दर, मस्त चाल को

सेना बनाकर ठाठ-वाट से चलो । लाज की वातचीत, कुल की मर्यादा तथा मिथ्या शोच के भय का नाश करके भृकुटीरूपी धनुष पर नेत्ररूपी तीर चढ़ा लो । हास रूपी खड्ग तुम्हारे पास है, और भेट होने पर कुचरूपी भट, नखरूपी प्रतिभट के भालों के आघात सहन करेंगे । यस प्रेम का कवच तथा साहस रूपी सहायक समेत चलो ।

यहाँ शृंगार-रस में वीर-रस का समावेश किया गया है ।

कृष्ण की भयानक रस

रिस में निरस धोल निपटे सरस होत,

जाने सो प्रवल पित्त दाखें जिन चाखी है ।

केशवराइ दुख दीने लाइक भयेऽन तुम,

आशु लहु जी में जाकी आखें अभिलाखी है ।

सूये हो सुधारिये को आये सिख्यन मोहि,

सूयेहु में सूधी बातें मोसो जन भाखी है ।

ऐसे में हौं कैसे जाव दुरिहु धो देखो जाइ,

काम की कमान सी चढ़ाइ भाइ राखी है ।

यहाँ नायक ने प्रथम स्वयं ही अपराध किया पुन. सखी से कहा कि तू जाकर नायिका का मान छुड़ा, इस पर सखी कहती है कि "रिस में रस की बातें विष के समान होती है ।" इस बात को वह समझ सकते हैं जिन्होंने पित्त की प्रबलता में द्राक्षा (मुनका) को चखा है । केशवराइ कहते हैं, आज तक जिसकी आँखें जी में (तुम्हारे दर्शनों की) अभिलाषिनी हैं, तुम अब उसी

परीक्षित को ज्ञान सिखाया—यहाँ तक कि उसी के द्वारा परीक्षित ने मोक्ष पाई ।

कविवर देवदत्तजी का मत है कि नवरसों में से शृङ्गार, धीर तथा शान्त तीन ही प्रमुख हैं, शेष छ रसों में हास्य, भयानक, रौद्र, करुणा और अद्भुत तथा वीभत्स क्रमशः दो-दो करके उन्हीं तीन के अनुगामी हैं । इसके पश्चात् धीर तथा शान्त अपने-अपने साथियो सहित शृङ्गार के साथी होते हैं, अतः शृङ्गार-रस ही रसरज है ।

ऊपर के विस्तृत वर्णन में से यदि हम सूक्ष्म रीति से शृङ्गार-रस की प्रधानता के कारण जानना चाहें तो मुख्य-मुख्य कारण इस प्रकार होंगे .—

१—समष्टि सम्बन्ध से अथवा व्यापक या सर्वदेशीय भाव से

(अ)—सम्पूर्ण सृष्टि में खी जाति की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि जो लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं उन्होंने भी माया के सम्बन्ध से उसे अलंकृत किया है । अतः उससे सम्यक् खी-जाति से विभूषित शृङ्गार-रस मुख्य माना गया ।

(ब)—प्रेम सृष्टि का आधार स्तम्भ है । प्रेम ही के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई है । वही प्रेम (रति) शृङ्गार-रस का स्थायी है । इसी कारण शृङ्गार रस प्रधान हुआ ।

(स)—सम्पूर्ण मापाश्रयों में से यदि प्रेम तथा शृङ्गार रस सवधी कार्यों को पृथक् कर लें तो उनमें कुछ शेष ही न रहे ।

देखकर स्वयं अपनी स्थिति को भूल जाते हैं, सो कहो पापियों को कैसे तारते हैं !

यहाँ कवि ने कृष्ण का अद्भुत रस दिखाया है—गोपियों के प्रेम (शृङ्गार) से इस रस की सिद्धि की है।

उक्त कवि ने एक शृङ्गार-रस से ही सम्पूर्ण रसों की सिद्धि की है, नायिका तथा नायक के सम्बन्ध से प्रत्येक के दो-दो तीन-तीन उदाहरण भी अंकित किये हैं, जिनको पढ़कर चित्त अत्यन्त प्रसन्न होता है। स्थानाभाव के कारण केवल नमूने के लिए, नायिका और नायक के दो-दो उदाहरण ही अंकित किये हैं। पाठक उन्हीं से समझ सकते हैं कि इस एक ही (शृङ्गार) रस से अन्य की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस कवि-वर ने तो शृङ्गार का महत्त्व इतना बढ़ाया है कि किसी वर्ण तथा आश्रम में इसका साथ नहीं छोड़ा है। शृङ्गार-रस के वर्णन के अन्त में कवि स्वयं कहता है—

इहि निधि श्याम शृङ्गार-रस, बहु निधि वरणो लेइ ।

चारि वर्ण चहुँ आश्रमन, कहत सुनत सुख होइ ।

यहाँ पर शका उपस्थित हो सकती है कि सन्यास और शृङ्गार का क्या साथ है?—इस पर एक विद्वान ने अपनी सम्मति इस प्रकार दी है, कि जिनको मोक्ष की आकांक्षा है वही तो रसानन्द के मुख्य महत्त्व को समझेंगे—विषयी पुरुष क्या जानेंगे। यह वही रस है, जिसके द्वारा शुकदेव ने राजा

भाषा के विचार से

जित हमारी हिन्दी काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतवर्ष पर विदेशी लोगों की दृष्टि पड़ रही थी। उसकी सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति बहुत भयानक दशा में थी। उस समय लोगों ने ईश्वर से प्रार्थना करना आरम्भ किया—ईश्वरोपासना की ओर देश निवासियों का ध्यान गया। परन्तु यह कार्य सरल न था। इसलिये भागवत-धर्म द्वारा यह दुर्गम मार्ग सुगम किया गया। ईश्वर की उपासना, उसको साकार मानकर, अथवा यो कहो कि ईश्वर (विष्णु) को स्त्री-पुरुष करिष्य करके, नवधा भक्ति द्वारा करने लगे। वैष्णव-धर्म प्रचल हुआ। भक्तों के हृदय-स्रोतों में से राधिकाकृष्ण तथा सीताराम रूपी अमृत प्रवाहित होने लगा। अपने इष्ट देवों को नायिका नायिक मान कर कवियों ने उनकी लीलाओं का वर्णन करना प्रारम्भ किया। और यही कारण शृङ्गार-रस के प्रधान होने का हुआ।

यहाँ तक शृङ्गार-रस के विषय में जो सम्मतियाँ उल्लिखित हुई हैं, उनमें अधिकतर उसके पक्ष की ही हैं। अतः आगे हम कुछ सम्मतियाँ इस रस के विपक्षी सज्जनों की भी अंकित करते हैं। प्रसन्न वश उन सम्मतियों पर कुछ आलोचना करना भी आवश्यक होगा। अपनी नुच्छ बुद्धि के अनुसार हम यह कार्य भी करेंगे। शृङ्गार-रस के विरुद्ध मत वाले सज्जनों के विपक्ष में

सम्पूर्ण भाषाओं पर इसका समान अधिकार है, अतः वह प्रधान है।

(द)—एक शृंगार-रस ही ऐसा रस है जिससे सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति हो सकती है, तथा उसी में उनका लय हो सकता है। यह गुण इस रस में परमात्मा का है, और परमात्मा एक है। उससे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार यह रस प्रधान हुआ और शेष रस उसी से उत्पन्न हुए।

२-एक देशीय भाव से

(अ)—देश के सम्यन्ध से (१) हमारा देश उष्ण है। यहाँ के जलवायु तथा मानवी प्रकृति के लिए शृंगार-रस अनुकूल है। जो देश शीत प्रधान होते हैं, वहाँ के निवासियों को अपनी प्राण-रक्षा की सामग्री ही की चिन्ता अधिक रहती है, इसके विरुद्ध जलवायु के लिए इतनी आवश्यकता ऐसी सामग्री की नहीं होती। इस पर भी यहाँ छ अतुल्य, सब प्रकार के खाद्य पदार्थों का बाहुल्य उनकी उस निर्द्वन्द्वता में सहायक है। फिर भी ऐसे देश में इस रस का प्राधान्य न हो, तो कहाँ हो ?

इस देश में विदेशी लोगों का पदार्पण नहीं हुआ था, सब प्रकार से ऐश्वर्य्य तथा सुख-सामग्री से यह मातृभूमि समृद्धशालिनी थी। ऐसी अवस्था में शृंगार-रस का साम्राज्य उपस्थित होना अवश्यम्भावी था।

रचयिता है श्रीयुत नरसिंह-चिन्तामणि केलकर वी० ए०, एल्-एल्० वी०” ।

“नागरी-प्रचारिणी पत्रिका” अगस्त सन् १९१५ ई० भाग २० सख्या २ पृष्ठ स० ३६-३७ में अंकित है —

“संस्कृत-साहित्य में (और हिन्दी-साहित्य में भी) सारी शक्ति केवल शृङ्गार-रस के लिये ही खर्च कर दी गई है । यदि यह कहा जाय कि संस्कृत का काव्य और शृङ्गार दोनों मिलकर एक हो गये ह तो अत्युक्ति न होगी । नव रसों के अनुक्रम में शृङ्गार-रस ही सब से पहले स्थान पर विराजमान दिखाई पड़ता है । यद्यपि इस बात का कोई सबल आधार व प्रमाण नहीं है कि सब रसों का क्रम केवल उनके महत्व की दृष्टि से ही लगाया गया है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि शृङ्गार-रस को केवल संयोग से ही पहला स्थान मिल गया है । सुभाषित रत्न-भाण्डागार में संस्कृत साहित्य के सब प्रकार के पद्यों का जिस प्रकार समावेश किया गया है, उसे देखते हुए शृङ्गार के महत्व की ही कल्पना होती है । भाण्डागार में शृङ्गार-रस के अङ्गों और उपांगों के १८८ पृष्ठों में हजारों पद्य दिये गये हैं । पर उसी में हास्य रस को केवल ५६ श्लोकों में ही छुट्टी मिल गई है, और वीर-रस के केवल ५१, और करुण रस के केवल ४१ श्लोक दिये गये हैं । इससे प्रकट होता है कि शृङ्गार-रस को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है । शृङ्गार-रस को प्रधान रस मानने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि कुछ लोगों ने श्रुति के “स एवै-

कुछ अकित करने से हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि हम उनके विचारों की किसी प्रकार से अवहेलना करते हैं हम तो केवल अपने विचार प्रकट करते हैं। यह अधिकार सभी को है। किसी बात को मानना न मानना सहृदय पाठकों के ऊपर ही निर्भर है। दूसरी चिन्तय यह है कि शृङ्गार-रस की प्रधानता से लेखक का अभिप्राय यह नहीं है कि शृङ्गार-रस से ही पुस्तकें रंग डाली जावें, और अन्य-रसों की कविताएँ ही नहीं। न किसी के कहने से किसी मुख्य रस की कविताओं का बाहुल्य हो ही सकता है। क्योंकि यह कार्य समय के हाथ में है, जैसा समय होगा उसी के अनुकूल काव्य-रचना होगी। शृङ्गार-रस की कविताओं से केवल यह अभिप्राय लिया है कि स्त्री-पुरुष का ऐसा प्रेम जो जन साधारण के लिये आदर्श-स्वरूप अनुकरणीय तथा लाभकारी हो, अवश्य वर्णन किया जाय—इससे केवल मनोरंजन ही न होना चाहिए, आवश्यकतानुसार सभी प्रकार की कविताएँ बाध्यनीय हैं।

शृङ्गार-रस पर सामयिक विद्वानों के विचार

पहले नागरी प्रचारिणी-पत्रिका सन् १९१५ ई० व १९१६ ई० के सम्मिलित अङ्कों में निकली हुई "हास्य-रस" नामक लेख-माला की कुछ सम्मतियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। इस लेख-माला का विचार शृङ्गार-रस के स्थान पर हास्य-रस को प्रधान बनाना है। उक्त लेख-माला "सुभाषित-आशि-विनोद" नामक एक मराठी ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है, जिसके

दशवें स्थान पर किया है, वहाँ उसे बढ़ाकर और इधर कुछ ऊँचे स्थान पर लाना चाहिए। कुछ लोग शृङ्गार-रस को प्रथम स्थान देने का यह कारण बतलाते हैं कि साधारणतः उसकी व्याप्ति समस्त सजीव जगत में पाई जाती है। हास्य रस की तरह वह केवल मनुष्य के बाटे ही नहीं पडा है। पर बात यह है कि रस का महत्त्व सारी सजीव सृष्टि के सम्बन्ध से न देखना चाहिए, बल्कि सारी सजीव सृष्टि में अग्रगण्य माने जानेवाले मनुष्य के सम्बन्ध से निश्चित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, हास्य-रस प्रायः मनुष्य जाति में ही पाया जाता है, अन्य प्राणियों में नहीं। और जिस प्रकार अन्य सृष्टि से अलग मनुष्य को मिली हुई बुद्धि श्रेष्ठ है उसी प्रकार और उसी कारण से हास्य रस को भी श्रेष्ठ मानना पड़ता है, और सारी सृष्टि में पाया जानेवाला शृङ्गार-रस उससे कम महत्त्व का ठहरता है। रस विचार अथवा साहित्य शास्त्र का कर्त्ता यदि केवल मनुष्य ही है और केवल वही उसका आनन्द ले सकता है तो केवल उसी में पाये जाने वाले हास्य को यदि कोई रस-विचार अथवा साहित्य-शास्त्रों में सब से पहला स्थान दे तो उसका यह कृत्य कुछ अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त एक दूसरी युक्ति और है। लोग कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में शृङ्गार-रस सम्बन्धी जैसी स्पष्ट इन्द्रिय है वैसी और किसी रस के सम्बन्ध की नहीं है, और इसीलिये शृङ्गार-रस ही सब से श्रेष्ठ है। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है और इसका कोई अर्थ ही है, मन भी एक ही

को रस." वचन का अर्थ साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से यह लगाया है कि, सब रसों का समावेश केवल एक रस में होना चाहिए, और वह एक रस शृंगार-रस है। पर जहाँ तक पता लगता है, कहीं सयुक्तिक रीति से यह नहीं दिखलाया गया है कि एक-मात्र शृंगार-रस में शेष रसों का समावेश या लय किस प्रकार हो सकता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मानव-सृष्टि की परम्परा चलाने के लिये रति-भाव आवश्यक है, और रति-भाव ही शृंगार-रस का स्थायी-भाव है, इसलिये शृंगार-रस को पहला स्थान मिलना चाहिए। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि मानव सृष्टि की परम्परा चलाने के लिए अर्थात् प्रजोत्पत्ति करने के लिए जिस प्रकार रति-भाव आवश्यक है, उसी प्रकार प्रजा-संरक्षण के लिए "वात्सल्य" भाव भी आवश्यक होना चाहिए। प्रजोत्पत्ति होने के उपरान्त भी यदि प्रजा-संरक्षण न होगा तो सृष्टि परम्परा नहीं चल सकती। और प्रजा-पालन जैसे—महान् कार्य की सिद्धि के लिए रति-भाव की जरासी सयता की भी आवश्यकता नहीं होती। केवल यही नहीं स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति के कारण सन्तति की कामना कुछ अशों में विरोध या नाश होता है। इससे सिद्ध केवल अपत्य-प्रेम या वात्सल्य-भाव ही अधिक होकर सृष्टि का काम चलाने में मुख्य सहायक दृष्टि से देखा जाय तो शृंगार की अपेक्षा व महत्त्व का ठहरता है, और बहुतों ने

मात्र सदा सुख या आनन्द प्राप्त करने, हास्य के अनेक प्रकारों में से किसी एक प्रकार का हास्य उत्पन्न करने और दुख या करुणा-रस का अनुभव करानेवाली बात दूर करने के प्रयत्न में ही लगा रहता है। और इन सब बातों की सिद्धि के लिए उसे पहले वीर-रस का अनुभव करना पड़ता है, अर्थात् अपने शरीर में उत्साह उत्पन्न करना पड़ता है। वीर-रस का उपयोग केवल योद्धाओं और समर-भूमि में लड़नेवालों के लिए ही नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार में भी वीर-रस का आविर्भाव दिखलाई पड़ता है। शृङ्गार-रस का आनन्द जीवन की कुछ विशेषस्थिति में ही लिया जा सकता है, पर करुणा और हास्य के सम्यन्ध में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ—शृङ्गार-रस की कविता का आनन्द मनुष्य को लड़कपन या बुढ़ापे में नहीं मिल सकता, शृङ्गारिक मनोभावों की जागृति केवल युवावस्था में ही हो सकती है, और जब तक मनुष्य में भावों की जागृति हो सकती है तभी तक वह उन भावों के सबंधी रसों के अनुभव करने का पात्र रहता है। पर करुणा और हास्य रस का अनुभव मनुष्य को बाल्य, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। हम लोग नित्यप्रति देखते हैं कि हास्य-रस की बातें पढ़ या सुनकर छोटे-छोटे घबरे भी हँसते हैं और करुणा रस की बातें सुन या पढ़कर वहीं बालक रोने लग जाते हैं। वृद्ध मनुष्यों पर करुणा-रस का प्रभाव तो शीघ्र पड़ता ही है, पर उनमें से बहुत से आनन्दी और दिल्लगीयाज़ भो देखने में आते हैं। भयानक, रौद्र, अद्भुत आदि रसों का अनुभव

केवल इन्द्रिय ही नहीं बल्कि वह सब से श्रेष्ठ इन्द्रिय है और उसी को हास्य-रस की इन्द्रिय कह सकते हैं। “आहारनिद्रा भय, मैथुनानि सामान्य मेतत्पशुभिर्नराणां” आदि सर्वमान्य वचन से यह बात स्पष्ट है कि अन्य सब इन्द्रियों की क्रियाओं की अपेक्षा मन-इन्द्रिय और उसकी क्रिया का अधिक महत्त्व है। एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर यह बात मालूम हो जायगी कि मनुष्य मात्र को शृंगार का अनुभव केवल कुछ नियमित काल तक ही होता है। परन्तु हास्य आदि अनेक रसों का अनुभव जन्म भर होता रहता है। नव अथवा दस रसों का यदि महत्त्व की दृष्टि से ठीक-ठीक अनुक्रम लगाना हो तो हास्य और करुणा-रस ही सब से पहले आवेंगे, उनके उपरान्त वीर-रस रहेगा, और उसके उपरान्त क्रम से वात्सल्य, शृंगार, अद्भुत, रात्र, वीभत्स आदि को स्थान मिलेगा। चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होनेवाली भाव-जागृति के विचार से देखिए अथवा उससे होनेवाले आनन्द और रस के उपयोग की दृष्टि से देखिए, हास्य, करुणा और वीर ये तीनों रस, शृंगार-रस की अपेक्षा, अधिक महत्त्व के प्रमाणित होंगे। क्योंकि प्रायः हास्य और शोक में ही मनुष्य मात्र का अनुभव बँटा हुआ है। आनन्द उत्पन्न करने वाला पदार्थ प्राप्त करने और दुःख उत्पन्न करनेवाली बात टालने में ही मनुष्य मात्र की सारी प्रवृत्ति रहती है। और इस प्रवृत्ति के विजयी होने में सदा उस वीर-रस की सहायता की आवश्यकता हुआ करती है, जिसका स्थायी-भाव “उत्साह” है। मनुष्य

मात्र सदा सुख या आनन्द प्राप्त करने, हास्य के अनेक प्रकारों में से किसी एक प्रकार का हास्य उत्पन्न करने और दुख या करुणा-रस का अनुभव करानेवाली बात दूर करने के प्रयत्न में ही लगा रहता है। और इन सब बातों की सिद्धि के लिए उसे पहले वीर-रस का अनुभव करना पड़ता है, अर्थात् अपने शरीर में उत्साह उत्पन्न करना पड़ता है। वीर-रस का उपयोग केवल योद्धाओं और समर-भूमि में लड़नेवालों के लिए ही नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार में भी वीर-रस का आविर्भाव दिखलाई पड़ता है। शृङ्गार-रस का आनन्द जीवन की कुछ विशेषस्थिति में ही लिया जा सकता है, पर करुणा और हास्य के सम्यन्ध में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ—शृङ्गार-रस की कविता का आनन्द मनुष्य को लड़कपन या बुढ़ापे में नहीं मिल सकता, शृङ्गारिक मनोभावों की जागृति केवल युवावस्था में ही हो सकती है, और जब तक मनुष्य में भावों की जागृति हो सकती है तभी तक वह उन भावों के सबंधी रसों के अनुभव करने का पात्र रहता है। पर करुणा और हास्य रस का अनुभव मनुष्य को बाल्य, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। हम लोग नित्यप्रति वेगते हैं कि हास्य-रस की बातें पढ़ या सुनकर छोटे-छोटे घबरे भी हँसते हैं और करुणा रस की बातें सुन या पढ़कर वही धालक रोने लग जाते हैं। वृद्ध मनुष्यों पर करुणा-रस का प्रभाव तो शीघ्र पड़ता ही है, पर उनमें से आनन्दी और दिल्लगीपाज भी

करने के लिए ऊपर लिखी हुई किसी प्रकार की मर्यादा या सीमा की आवश्यकता नहीं ; पर इन सब रसों का अनुभव बहुत ही थोड़े प्रसङ्गों पर होता है। पर यदि यह कहा जाय कि हास्य और करुणा-रस का अनुभव मनुष्य को पग-पग पर हुआ करता है तो कुछ अनुचित न होगा। इन रसों का अधिकार छोटे, बड़े, अमीर, गरीब सब पर और सब स्थितियों में बना रहता है। यदि करुणा और हास्य रस पर कुछ विचार-पूर्वक ध्यान दिया जाय तो जान पड़ेगा कि मनुष्य को करुणा-रस की अपेक्षा हास्य-रस का अनुभव हो अधिक होता है। करुणा रस से हृदय के आर्द्र होने के लिए किसी सीमा तक अपनी हानि होने की आवश्यकता होती है और वह हानि अपनी किसी प्रिय वस्तु की होनी चाहिए। दूसरों की हानि देखकर भी दुःखी होनेवाले लोग ससार में हैं, पर यह बात सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसी प्रकृति के लोग ससार में बहुत ही कम हुआ करते हैं। परन्तु हास्य-रस के सम्बन्ध में वह बात नहीं है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक प्रकार की असम्बद्धता दिखलाई पड़ने के कारण हास्य-रस की उत्पत्ति होती है। ससार में यह असम्बद्धता प्रायः पग-पग पर दिखलाई पड़ती है, और वह असम्बद्धता चाहे अपने से सम्बन्ध रखती हो और चाहे पराए से, पर उसे देखकर मनुष्य का मनोविनोद अवश्य होता है। इस प्रकार विचार करने के उपरान्त यह बात लोग स्वीकार कर लेंगे कि हास्य-रस को इस समय जितना

महत्त्व दिया जाता है, वह उससे कहीं अधिक महत्त्व का पात्र है।

उपयुक्त विचारों पर ध्यान देने से सब से प्रथम यह शका उठती होती है कि "सम्पूर्ण रसों का समावेश अथवा लय एक ही शृङ्गार-रस में कैसे हो सकता है?"

इस शका के निवारण करने के लिए अपने धार्मिक ग्रन्थों की सहायता लेना युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य अनुकरण का दास है, और उसके लिए प्रकृति से उत्तम कोई अनुकरण नहीं। अतः ऐसा ही उदाहरण क्यों न लिया जाय। यह तो प्रथम ही अस्ति किया जा चुका है कि इसका सब से उत्तम उदाहरण ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश होना ही है, जिसका स्पष्टीकरण मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में किया गया है, और हमने यथावसर उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन करा भी दिया है। अब यह और देखना चाहिए कि किसी वस्तु की उत्पत्ति मूल पदार्थ से किस प्रकार होती है, तथा फिर वही वस्तु अपने वास्तविक रूप में कैसे आ जाती है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समुद्र का जल, सूर्य की उष्णता से आतप्त होकर वाष्प रूप में परिवर्तित होता है, पुनः मेघमाला के रूप में दर्शन देते हुए वही जल बरसता है, और वही जल, नदी, नाले इत्यादि के द्वारा सागर में पहुँच अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेता है। ठीक यही दशा और भी बहुत से पदार्थों की है। बराबर ऐसे ही परिवर्तन उनमें होते रहते हैं। इस परिवर्तन थोड़ा सा विचार करने पर

पता चल सकता है, किन्तु कुछ उदाहरण उत्पत्ति और विनाश के ऐसे भी हैं कि जिनका परिचय हमें सहज में नहीं होता। यथा हमने एक घड़े का निर्माण किया तो इस कार्य के करने में आकाश की उत्पत्ति होगई, (आकाश-पोल)। अब यदि हम उसी घड़े को फोड़ दें तो वही आकाश पुन उसी आकाश में मिल जावेगा जिससे उसकी उत्पत्ति हुई थी। यहाँ पर आकाश, आकाश से उत्पन्न भी होगया और उसमें विलीन भी, होगया। किन्तु हमको इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ। एक तीसरा नियम इसी परिवर्तन का और भी है जिसका उदाहरण ईश से नाना प्रकार के मिष्टान्न की सिद्धि होना कहा जा सकता है।

शृंगार-रस से श्लेष रसों के विकाश तथा लय के लिए उक्त तीनों ही सिद्धान्त लागू हैं, हम उन तीनों के द्वारा अपने विचार प्रकट करते हैं :—

(१)—ईश्वर ने ज्योंही सृष्टि उत्पन्न कर मनुष्य की उत्पत्ति की, त्यों ही उसने दाम्पत्य प्रेम का प्रादुर्भाव कर दिया, क्योंकि बिना इस कृत्य के वह अपने मनोरथ की सिद्धि नहीं कर सकता था। इस प्रेम की सहायता के लिये उसने मनुष्य तथा स्त्री में हाव, भावादि की उत्पत्ति की, और हास, या आमोद-प्रमोद का विकाश उस रति-भाव के प्रकाशन के सहायक स्वरूप प्रदर्शित कर दिया। साथ में आवश्यकतानुसार दूसरे रस भी विकसित हुए। प्रथम स्त्री-पुरुष को शृंगार-रस का

अनुभव होना तो ऐसा प्रत्यक्ष है कि प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उक्त प्रेम द्वारा सन्तानोत्पन्न होना भी प्रत्यक्ष है। फिर क्रमशः आगामी सन्तति का उत्पन्न होना, पोषित होना तथा उसका अन्त्येष्टि का क्रम बराबर लग ही जाता है। और यह कार्य इसी प्रकार अनन्तकाल तक होता रहेगा। इसको हम दूसरी प्रकार से यों भी कह सकते हैं कि प्रथम उत्पन्न हुए शृङ्गार-रस द्वारा पुनः शृङ्गारादि रसों की सामग्री उत्पन्न होगई और यह क्रमशः यों ही हाती जावेगी। इस प्रकार रसोत्पत्ति अन्य रसों से नहीं हो सकती। रसोत्पत्ति का यह नियम “जल” वाले उदाहरण से सब प्रकार मिलता-जुलता है।

(२)—आकाश के सदृश प्रेम भी सम्पूर्ण सृष्टि में व्यापक है, वही “प्रेम” अथवा “रति” सम्पूर्ण मानवों के हृदयों में स्थित है। उसी के द्वारा हास्यादि अनेक रसों का विकास तथा लय होता है। प्रश्न होता है “कैसे ?”—सुनिये। प्रेम उसी वस्तु से होता है जो चित्त को रुचिकर होती है, और हँसी उसी वस्तु को देखकर आती है जो रुचि के अनुकूल हो—चाहे वह कोई दृश्य हो, चाहे घटना अथवा बात। इसी प्रकार करुणा भी अपने प्रेमी के वियोगादि में ही होना सम्भव है। वैर भी प्रेम से ही उत्पन्न होता

है—यहाँ यह शक्त उपस्थित की जा सकती है कि चूहा-बिल्ली, अथवा कुत्ता-बिल्ली यह तो जन्म से ही एक दूसरे के शत्रु हैं। इसका उत्तर यह है कि वह दोनों चौपाये अवश्य हैं किन्तु आकृति, रंग, रूपादि में विशेष अन्तर है। मनुष्यों में वह अन्तर इस प्रकार नहीं है; इसलिये इनमें जब तक किसी प्रकार का सम्यन्ध न होगा, 'या यों कहे-कि परिचय-या प्रेम न होगा वैर-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहे कि अपने परम मित्र की सहायता की आवश्यकता हुए बिना कोई किसी की सहायता नहीं करता, मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु है, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रेम के कारण वैर करना पड़ा। वैर के साथ ही रौद्र, भय, ग्लानि इत्यादि का सम्यन्ध है, अतः इस एक ही प्रेम से सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति होती जाती है, पुनः वही सब पानी के बुलबुले के समान उस रस में मिलते जाते हैं। लय के लिये उदाहरण लीजिए। किसी प्रेमी को अपनी प्रेयसी के वियोग के कारण अत्यन्त आकुलता हो रही है, यदि वह उस समय उसे मिल जाय तो वही करुणा शृंगार में लय हो जायगी अथवा नहीं?—अवश्य हो जावेगी। इसी प्रकार एक उदाहरण और लीजिये। प्रेमी तथा प्रेमिका बाटिका में उपस्थित है, पुष्प, सखा, सखी इत्यादि अनेक उद्दीपक सामान भी

उपस्थित हैं। परस्पर हास्य तथा आमोद व प्रमोद में वह समय व्यतीत हो रहा है, तो कहिये कुछ समय पश्चात् वह हास्य शृंगार-रस में विलीन हो जावेगा, अथवा नहीं? अवश्य हो जावेगा। इसी प्रकार दूसरे रसों के विषय में भी समझियेगा।

(३)—जिस प्रकार मूल वस्तु ईश्वर से अनेक मिष्टान्तों की सिद्धी होती है, उसी प्रकार शृंगार-रस से भी अन्य रसों की उत्पत्ति होती है। इसके लिए यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि महा-कवि “केशवदासजी” के “रसिक प्रिया” नामक ग्रन्थ के कुछ उदाहरण हमने यथा स्थान अंकित कर दिये हैं, जिन महानुभावों को इस विषय में कुछ विशेष देखना हो, वह उक्त ग्रन्थ से देख सकते हैं। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए हम यह बात समझते हैं कि जो एक उदाहरण और वे तसे शृंगार से अन्य रसों की उत्पत्ति तथा और समझ में आजाय।

—प्रथम उदाहरण रामचन्द्रजी का

रामचन्द्रजी

कारण उक्त

भाव महाराज

हैं। इनको

है—यहाँ यह शक्त उपस्थित की जा सकती है कि चूहा-बिल्ली, अथवा कुत्ता-बिल्ली यह तो जन्म से ही एक दूसरे के शत्रु हैं। इसका उत्तर यह है कि वह दोनों चौपाये अवश्य हैं किन्तु आकृति, रंग, रूपादि में विशेष अन्तर है। मनुष्यों में वह अन्तर इस प्रकार नहीं है, इसलिये इनमें जब तक किसी प्रकार का सम्बन्ध न होगा, 'या यों कहो—कि परिचय या प्रेम न होगा वैर-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि अपने परम मित्र की सहायता की आवश्यकता हुए बिना कोई किसी की सहायता नहीं करता, मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु है, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रेम के कारण वैर करना पडा। वैर के साथ ही रौद्र, भय, ग्लानि इत्यादि का सम्बन्ध है, अतः इस एक ही प्रेम से सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति होती जाती है, पुनः वही सब पानी के बुलबुले के समान उस रस में मिलते जाते हैं। लय के लिये उदाहरण लीजिए। किसी प्रेमी को अपनी प्रेयसी के वियोग के कारण अत्यन्त आकुलता हो रही है, यदि वह उस समय उसे मिल जाय तो वही करुणा शृंगार में लय हो जायगी अथवा नहीं?—अवश्य हो जावेगी। इसी प्रकार एक उदाहरण और लीजिये। प्रेमी तथा प्रेमिका वाटिका में उपस्थित हैं, पुष्प, सजा, सखी इत्यादि अनेक उद्दीपक सामान भी

उपस्थित हैं। परस्पर हास्य तथा आमोद व प्रमोद में वह समय व्यतीत हो रहा है, तो कहिये कुछ समय पश्चात् . वह हास्य शृङ्गार-रस में विलीन हो जावेगा, अथवा नहीं ? अवश्य हो जावेगा। इसी प्रकार दूसरे रसों के विषय में भी समझियेगा।

(३)—जिस प्रकार मूल वस्तु ईश से अनेक मिष्टान्तों की सिद्धी होती है; उसी प्रकार शृङ्गार-रस से भी अन्य रसों की उत्पत्ति होती है। इसके लिए यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि महाकवि “केशवदासजी” के “रसिक प्रिया” नामक ग्रन्थ के कुछ उदाहरण हमने यथा स्थान अंकित कर दिये हैं, जिन महानुभावों को इस विषय में कुछ विशेष देखना हो, वह उक्त ग्रन्थ से देख सकते हैं।

इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए हम यह उचित समझते हैं कि दो एक उदाहरण और दे दिये जाय जिससे शृङ्गार से अन्य रसों की उत्पत्ति तथा तय का प्रश्न कुछ और समझ में आजाय।

(१)—प्रथम उदाहरण रामायण का लीजिये —

रामचन्द्रजी तथा जनकनन्दिनी के पारस्परिक दर्शन के कारण उक्त दोनों नायक तथा नायिकाओं में शृङ्गार-रस के भाव महाराज जनक की घाटिका में ही प्रस्फुटित हो चुके हैं। इनको देखकर जनरूप निरासी श्री-पुरुष सभी हार्दिक

कामना रखते हैं कि उक्त सम्बन्ध जो सर्वथैव योग्य है, ईश्वर अवश्य करे, किन्तु धनुष-संधान का कार्य्य दुस्तर समझ और सीताजी को इस प्रकार योग्यवर पाने में असफलता होती हुई जानकर वे करुणा से द्रवीभूत होते हैं, राजा जनक भी किसी राजासे धनुष न टूटा जानकर करुणोत्पादक शब्द कहते हैं। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार से करुणा उत्पन्न हुई। राजा जनक की बातों में अनौचित्य समझ लक्ष्मण को क्रोध हुआ, रामचन्द्र ने उन्हें शान्त किया, फिर धनुष तोड़कर जयमाल पहनी। राजा लोग धनुष टूटने का शब्द सुनकर भयभीत हुए, साथ ही रामचन्द्रजी द्वारा इस असम्भव कार्य्य की सिद्धि देखकर वह लोग चकित भी हुए, उन्हें अपनी निर्वलता पर ग्लानि भी हुई। परशुराम संवाद में लक्ष्मणजी को कहीं कहीं हास्य का अवलम्बन भी लेना पड़ा। और इस प्रकार अकेले शृङ्गार-रस से ही अन्य कई रसों की उत्पत्ति होगई, और इन सम्पूर्ण कार्य्यों के पश्चात् उक्त सम्पूर्ण रस, शृङ्गार-रस में विलीन होगये। फिर शृङ्गार-रस से अन्य रसों की उत्पत्ति तथा उसमें उनके लय होने के उदाहरण महाराज रामचन्द्रजी के सम्पूर्ण जीवनकाल में उद्धृत होते रहे।

- (२)—देवजी का कथन है कि वियोग, शृङ्गारान्तर्गत पूर्वा-नुराग की व्युत्पत्ति, श्रवण, दर्शन तथा स्मरण तीन प्रकार से होती है। नीचे प्रेम-सागर में अकिन रुष्णलोला के एक घर्षण उद्घृत किया जाता है, जिससे रुक्मिणीजी को

श्रवण द्वारा कृष्ण पर प्रेम हुआ था और पुन उस शृङ्गार-रस से अनेक रस उत्पन्न होकर उसी में लय हो गये थे ।

"इसी बीच एक दिन नारदजी कुंडनपुर में आये और रुक्मिणी को देव श्रीकृष्णचन्द्र के पास द्वारिका में जाय उन्होंने कहा कि महाराज ! कुंडनपुर में राजा भीष्मक के घर एक कन्या रूप, गुण, शील की पान, लक्ष्मीजी के समान, जन्मी है, सो तुम्हारे योग्य है । यह भेद जब नारद मुनि से सुन पाया, तभी से रात-दिन हरि ने अथना मन उस पर लगाया । महाराज इस रीति करके तो श्रीकृष्णचन्द्रजी ने रुक्मिणी का नाम सुना । और जैसे रुक्मिणी ने प्रभु का नाम और यश सुना सो कहता हूँ, कि एक समय देश देश के याचको ने जाय कुंडनपुर में श्रीकृष्णचन्द्र का यश गाया, जैसे प्रभु ने मथुरा में जन्म लिया ; गोकुल, धन्वावन में जाय, ग्वालवालों के सङ्ग मिल, बालचरित्र किया, और असुरों को मार, भूमि का भार उतार, यदुवशियो को सुख दिया था, तैसे ही गाव सुनाया । उनमें से एक याचक किसी ढव से राजा भीष्मक की समा में जाय प्रभु का चरित्र और गुण गाने लगा । उस काल —

घड़ी अट्ट रुक्मिणि सुन्दरी । हरि चरित्र ध्वनि श्रवणन परी ॥
मुनि के कुमरि रही मनलाय । प्रेम-लता उर उपजी आय ॥
अचरज करै भूलि मन रहै । फेर उमकि कर देखन चाहै ॥
भई मग्न निदल सुन्दरी । याकी सुधि-शुधि हरि गुण हरी ॥

यों कह श्रीकृष्णदेवजी बोले कि पृथ्वीनाथ ! इस भाति श्रीरुक्मिणीजी ने प्रभु का यश और नाम सुना तो उसी दिन से रात-दिन आठ पहर चौंसठ घड़ी सोते-जागते, बैठते, खड़े, चलते-फिरते, खाते-पोते, खेलते उन्हीं का ध्यान किये रहै और गुण गाया करै । नित भोरही उठि, स्नान करि, मट्टी की गौरि बनाय, रोरी, अक्षत, पुष्प, चढाय, धूप-दीप कर मनाय, हाथ जोड, शिर नाय, उसके आगे कहा करै—

भोपर गौरि कृपा तुम करौ । यदुपति पति है मम दुख हरौ ॥”

—ललूलाल (प्रेम-सागर)

यहाँ पर श्रीकृष्णजी तथा रुक्मिणीजी परस्पर एक दूसरे के रँग-रूप और गुण-शीलादि को श्रवणकर एक दूसरे के प्रेम-पाश में बद्ध होगये हैं, और इस प्रकार शृङ्गार-रस का प्रादुर्भाव हो चुका है । अग्रे आगे ध्यान दीजिये । कृष्ण का विवाह जब रुक्मिणी के साथ निश्चित न होकर शिशुपाल के साथ होना निश्चय हुआ, तो रुक्मिणीजी ने बड़े करुणोत्पादक शब्दों में श्रीकृष्ण को पत्र लिखा, जिससे कृष्ण का चित्त द्रवित हुआ । अर्थात् नायिका-नायक ने जब एक-दूसरे का सदैव को वियोग होना समझा तो शृङ्गार-रस से करुणा का उद्गमन हो गया । इस चरित्र के पाठकों का चित्त जो कुछ समय पूर्व शृङ्गार-रस का अनुभव कर रहा था, वही अब उसके स्थान पर करुणा सागर में प्रवाहित होने लगा । फिर कृष्ण का देवी के मन्दिर में पहुँचना तथा रुक्मिणी को उनके दर्शनों से प्रसन्न होना, सयोग शृङ्गार के प्रकाशक हैं । उस समय रत्नवालों के हाथ से अपने आप ही

चित्र पटादिक के छूट पडने में अद्भुत रस का ज्ञान होता है। फिर यादव और अशुरों का युद्ध हुआ। रुक्म ने कृष्ण को अहीर, माखन-चोर इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया। कृष्ण ने रुक्म को पकड़कर रथ के पीछे बाँध दिया। युद्ध में भीषण मार-काट हुई, श्लोखित की सरिता प्रवाहित हुई। कृष्ण की विजय पर रुक्म को लज्जा आई और उसमें एक साथ ही विरक्त भाव उत्पन्न होगया। गृहस्थाश्रम को त्याग वैराग्य लेने पर उत्तारु हुआ। इस प्रकार अकेले शृंगार-रस से शेष रसों की उत्पत्ति होगई। फिर कृष्णने रुक्मिणी से विवाह किया। पिछले कार्य सय भूल गये और इस प्रकार अकेले शृंगार-रस में ही सम्पूर्ण रसों का लय होगया।

इसी प्रकार शकुन्तला इत्यादि नाटकों के बहुत से स्थलों से ऐसे उदाहरण दिये जासकते हैं जो हमारे कथन को सत्य सिद्ध करने के लिये प्रमाण स्वरूप हो सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण ऐसा करने में हम असमर्थ हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह तो रामायणादि ग्रन्थों का गुण है कि उनमें यत्र-तत्र नव रस संचारित हैं, इसमें शृंगार रस से ही नव रस संचारित होने की कोई बात नहीं। एक प्रकार से यह अशुद्ध है, क्योंकि मुख्य नायिका तथा नायक के अनुभव किये हुए एक मुख्य समय के वर्णन ही से तो कवियों ने अपने ग्रन्थ रत्नों को सुशोभित किया है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि यह गुण उक्त ग्रन्थों का है, घटना क्रम का

चौथी शका यह है—

“लोग कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में शृ गार-रस सम्बन्धा जैसी स्पष्ट इन्द्रिय है, वैसी और किसी रस के सम्बन्ध की नहीं है, और इसीलिए शृ गार रस सब से श्रेष्ठ है। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है और न इसका कुछ अर्थ ही है। मन भी एक मानवी इन्द्रिय है। केवल इन्द्रिय ही नहीं बल्कि सर्व-श्रेष्ठ इन्द्रिय है और उसी को हास्य-रस की इन्द्रिय कह सकते हैं। मन इन्द्रिय व उसकी क्रिया का महत्त्व अधिक है।”—इससे लेखक महोदय की यह धारणा है कि हास्य-रस ही प्रधान है। शृ गार-रस की इन्द्रिय स्पष्ट होने के विषय में हमारा भी वही विचार है जो लेखक महोदय का। वास्तव में यह बात कुछ अर्थ नहीं रखती। मन अवश्य हो एक मानुषी इन्द्रिय है, और सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ भी है, परन्तु उस पर जितना अधिकार हास्य-रस रखता है उतना ही शृ गारादि अन्य रस भी तो रखते हैं। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि उस पर हास्य का ही जन्म-सिद्ध अधिकार है। फिर भला हम उसको अकेले हास्य-रस के लिए ही किस प्रकार प्रयोग में ला सकते हैं, और जब यह अकेले हास्य-रस की इन्द्रिय ही नहीं, तब इससे सम्बन्ध मिलाकर सर्व प्रधान बनने का इच्छुक हास्य-रस किस प्रकार प्रधानता पा सकता है?

शृङ्गार-रस पर लेखक के विचार

उपरोक्त कथन से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम अन्य रसों के द्वेषी हैं। और इसके साथ ही वह भी नहीं कहा

जा सकता कि जिन आचार्यों ने शृंगार रस को प्रधानता दी है, उनकी दृष्टि में शृंगार-रस का आदर ही न था। यदि कोई ऐसा विचार करे तो यह उसकी भूल समझी जावेगी। शृंगार-रस की प्रधानता के जो जो कारण हैं वह प्रथम ही अंकित किये जा चुके हैं, और यह दिखलाया जा चुका है कि लोगों का शृंगार-रस पर दोषारोपण करना बृथा है। इसका कारण केवल यही है कि उन्होंने शृंगार रस को व्यभिचार का दर्वाजा समझ रक्खा है, पर वात वास्तव में ऐसी नहीं है। सुवर्ण निर्मित पात्र में चाहे सुधा भरो और चाहे विष, इससे सुवर्ण का महत्त्व कम नहीं होता, इसी प्रकार शृंगार द्वारा चाहो तो ऐसे शुद्ध प्रेम की गंगा बहा दो जिसके द्वारा सम्पूर्ण पाप धुल जाय, और चाहो तो इसी के द्वारा ससार को पापों का भंडार बना दो। यह तो आप को अधिकार है, इसमें शृंगार रस का क्या दोष है? शृंगार तो प्रेम का मूल है, और प्रेम ही ससार में एक सार वस्तु है। प्रेम के लक्षण कविवर देवजी ने निम्नलिखित छन्दों में इस प्रकार वर्णन किये हैं —

जाके मदमात्यो सो उमात्यो ना कहूँ ह कोई,

पडयो उद्धर्यौ ना तर्यो सोभा सिन्धु सागुदे ।

पीत ही जाहि कोई माय्यो सो अमर भयो,

चोरान्यो जगत सोई माय्यो सुप्रधासु हे ॥

चप के चलक भरि चालत ही जाहि किरि,

चाय्यो ना विदूष कहु पेसो अमितसु हे ।

रूपति सरूप वृज ओतार्यो अनूप सोई,

देव कियो देखि प्रेम-रस प्रेम नाछु हे ॥

—प्रेम-चट्टिका

सुख दुर में है एक सम, तन मन वचननि प्रीति ।

सहज बड़े हित चित नयौ, जहाँ सुप्रेम प्रतीति ॥

—भाव विलास

उपर्युक्त छन्दों से प्रकट होता है कि हिन्दी-भाषा के कवियों का अभिप्राय किस शुद्ध प्रेम से था ? उन्होंने शृंगार-रस को ही प्रेम देव की उपासना का मूल मंत्र माना है। वह कहते हैं कि इसमें प्रीति, वृद्धि तथा चातुर्य का विकास होता है। सौंदर्य के दर्शन यही रस कराता है। कोमलता तथा कान्तता की मिठाई इसी रस द्वारा चखने को मिलती है। कलुषित आत्मा इसी के द्वारा पवित्र होती है। हमारे कवियों का अभिप्राय इसी सत्य, सरल एवं सुख, शान्ति के सच्चे मार्ग चलानेवाले शृंगार-रस से है—लोगों को विलासी बनाने से नहीं। वह तो मनुष्य को 'विकास-चाद' के सिद्धान्तानुसार निम्न-श्रेणी के शुद्ध मानवी प्रेम से उच्च-श्रेणी के ईश्वरीय प्रेम की ओर ले जाना चाहते थे। लोग यह शंका कर सकते हैं कि जब आप के कवियों के भाव इतने शुद्ध थे, तब उन्होंने परकीया, सामान्यादि नायिकाओं से प्रथो को क्यों भर डाला है। इसका उत्तर यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि के मनुष्य न तो शुद्ध विचारों के हो ही सकते हैं, और न हैं ही। विश्व में बड़े-बड़े पापी, बड़े-बड़े चतुर और बड़े-पटे मूर्ख पड़े हैं। जब तक काव्य के किसी रीति ग्रन्थ में

सभी की प्रकृति के उदाहरण विद्यमान न होंगे, तब तक वह प्रथम सर्वांग-पूर्ण कैसे कहा जा सकता है?—यही कारण है कि उन्होंने स्वकीया के साथ साथ अन्य नायिकाओं का भी वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ ही उन लोगों ने परकीया तथा सामान्या के सम्पर्क को बहुत ही निन्द्य बतलाया है। मानना न मानना आप का काम है। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप महाकवि देव त, दो छंद पाठको की भेंट किये जाते हैं —

प्रगट भये परकीय अर, सामान्या को सङ्ग ।

धरम हानि धन हानि सुख, धेरो दुख इफ़्फ ।

उत्तम रस शृङ्गार को, स्वकीया मुख्य आधार ।

ताको पति नायक वरो, सुख सम्पत्ति को सार ॥

—प्रेम-तरंग

लोग हास्य और करुणा के लिए कहते हैं कि उनका आविर्भाव बाल्यावस्था में हो जाता है, और सदैव रहता है। इस कारण वह प्रधान है। परन्तु यह कहते समय स्थात् वह यह नहीं सोचते कि शृङ्गार-रस की मुख्य जड़ “प्रेम” भी तो बाल्यावस्था से ही अकुरित होता है। प्रथम बालक का प्रेम, माता पिता, भाई-बन्धु इत्यादि से होता है, फिर वही प्रेम यथावसर, स्त्री में होता है। प्रेम वस्तुतः एक ही है। जिस प्रकार आकाश एक है, घट के सम्वन्ध से उसका नाम घटाकाश और मट के सम्वन्ध से मटाकाश होता है। अथवा यो कहिये कि जल एक है। घट, नदी और सागर के सम्वन्ध से उसके नाम पृथक् पृथक् हो गये हैं। उसी प्रकार प्रेम भी एक ही है। समय, दशा, पात्र

तथा देश के अनुसार उसके भेद, प्रभेद कर लिये गये हैं, जो देखने में तो पृथक्-पृथक् क्षात होते हैं परन्तु वास्तव में वे एक प्रत्येक प्रेम शुद्ध ब्रह्म के प्रेम से वहीं सम्बन्ध रखता है, जो निरख सूर्य से। जिस प्रकार मेघ मडल से बरसा हुआ शुद्ध जल, वायु द्वारा उड़े हुए रज कणादि से अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम भी इन्द्रियादि सम्बन्ध सुख के सम्पर्क से कलुषित हो जाता है, खेद है, शृंगार-रस में लोग ऐसे ही प्रेम के दर्शन करते हैं। यही कारण है वह शृंगार-रस को बुरी दृष्टि से देखते हैं। यही समझकर किसी उर्दू कवि ने कहा है—

जो मजा इतिजार में देता । १ फमी बस्ते यार में देता ॥

कवि का कथन बिलकुल ठीक है। वियोग में शुद्ध-प्रेम होता है, उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश नहीं रहता। परन्तु संयोग में उसकी आशका रहती है। यदि इतने पर भी किसी को प्रेम और शृंगार-रस पर शका रहे तो हमें उनकी सेवा में उसी उत्तर का उपस्थित करना समुचित जान पड़ता है, जो ज्ञान की दीक्षा देनेवाले उड़व को प्रेम रगराती ब्रज-वनिताओं ने दिया था। यथा,—

मति अति आपकी अथल अवलासी लगै,

सागर-सनेह कहाँ कैसे पार पावेंगी।

खोलिये न जीह अरु लीजिये न नाम इत,

वलदेव बजरज जू की सुवि थावेंगी।

सुनतहि प्रलय प्रयोधि माहि एक ऐसी,

कहर करनहारी तहर तिभावेंगी।

राधे-दग-सलिन-बराह माहि आज उधो ।

राधे समेत ज्ञान गाथा बढ़ि जायेगी ।

शृंगार-रस वह रस है जो सदैव प्रेम की अपने में स्थान देने के लिए उद्यत रहता है। महात्मा नूरदास, तुलसीदास, मतिराम, रसखान, मीरा और ताज इत्यादि के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें शृंगार-रस के द्वारा प्रेमियों ने भक्ति का मार्ग हस्त-गत किया है। रसखान के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्हें मानजी प्रेम से कृष्ण प्रेम प्राप्त हुआ। वह भगवान् के अनन्य भक्ता में हुए। उन्होंने जिस शुद्ध प्रेम को अपनाया है, जिस शृंगार ने उनका चित्त अपनी ओर आकर्षित किया है, वह उनके काव्य के निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा प्रकट होता है। इनसे शृंगार तथा प्रेमका महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है—

दम्पति सुख अरु विषय सुख, पूजा निवा ध्यान ।

इनते परे बरानिये, शुद्ध प्रेम 'रसखान' ॥

मित्र, कलत्र मुग्ध सुख, इनमें सहित सनेह ।

शुद्ध प्रेम इनमें नहीं, अकथ कथा कहि गह ॥

यक अर्जी विनु बार पहि, यक रस सदा समान ।

गनै प्रियहि सख्य जो, सोई प्रेम प्रमाण ॥

हरे मदा चाहै न कछु, सँह सँव जा होय ।

रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बरान्यो सोय ॥

देखि गहर हित साहिबी, दिल्ली नगर ममान ।

झिनि धादसा बस की, ठसक छोडि रसखान ॥

प्रेम निषेधन श्री वनहि, आय गोवधन धाम ।

सहो भरन चित चाहि कै, धुगुल सरूप ललाम ॥

तथा देश के अनुसार उसके भेद, प्रभेद कर लिये गये हैं, जो देखने में तो पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं परन्तु वास्तव में वे एक प्रत्येक प्रेम शुद्ध ब्रह्म के प्रेम से वही सम्बन्ध रखता है, जो किरण सूर्य से। जिस प्रकार मेघ मडल से बरसा, हुआ शुद्ध जल, वायु द्वारा उड़े हुए रज कणादि से अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम भी इन्द्रियादि सम्बन्ध सुख के सम्पर्क से कलुषित हो जाता है, खेद है, शृंगार-रस में लोग ऐसे ही प्रेम के दर्शन करते हैं। यही कारण है वह शृंगार-रस को घुरी दृष्टि से देखते हैं। यही समझकर किसी उर्दू कवि ने कहा है—

जो मजा इतिजार में देखा । १ कभी घम्ले गार में देखा ॥

कवि का कथन बिलकुल ठीक है। वियोग में शुद्ध-प्रेम होता है, उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश नहीं रहता। परन्तु संयोग में उसकी आशका रहती है। यदि इतने पर भी किसी को प्रेम और शृंगार-रस पर शंका रहे तो हमें उनकी सेवा में उसी उत्तर का उपस्थित करना समुचित जान पड़ता है जो ज्ञान की दीक्षा देनेवाले उद्धव को प्रेम-रगराती ब्रज-चरिताओं ने दिया था। यथा:—

मति अति आपकी अबल अबलासी लगे,

सागर-सनेह कहै कैसे पार पावेगी।

खोलिये नजीह अर लीजिये १ नाम' इत,

- बलदेव धनराज जू की सुधि आवेगी।

मुनतहि प्रणय प्रयोधि माहि एक ऐसी,

कहर करहारी लहर लिखावेगी।

सघन कुज छाया सुखद, सीतल मद समीर ।

मन हूँ जात अर्जुन यहै, ना जधुना वे तीर ।

शृंगार रस पर दोषारोपण होना कोई अचम्भे की बात नहीं, यह तो समय की बलिहारी है और कुछ नहीं। महात्मा तुलसीदासजी ने क्या ही अच्छा कहा है—

समय समय सुन्दर सबै, रूप कुरूप न केय ।

मन की रुचि जेती जितै, तितै तितै रुचि होय ॥

यह अक्षरशः सत्य है। किसी देश की कविता भी उस देश की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति के कदमों के साथ साथ अपने कदम बढ़ाती है। आज हमारे देश की स्थिति ऐसी नहीं है जो हमें शृंगार-रस में प्रेम करने दे। इसके साथ ही शृंगार-रस को भी यहाँ का जल वायु हितकर नहीं है। यही कारण है कि लोगों को शृंगार-रस खलता है। खाने को भर पेट रोटी नहीं, ओढ़ने बिछाने को कपड़ा नहीं। कहिये शृंगार-रस में रुचि कैसे हो? यह तो शृंगार-रस है, ऐसे अवसर पर लोग भगवान् को उपालम्भ देने में तो चूके ही नहीं। एक भगवद्भक्त परमात्मा से कहता है—

भूखे भजन न होय गुणाला । जे लेव अपनी कटी माला ।

इसी प्रकार यदि हम शृंगार-रस को भी अपनी स्थिति बतलाकर प्रणाम करें तो कोई बुराई की बात नहीं। बुराई तो इसमें है कि उस बेचारे पर अनेको प्रकार के दोषारोपण कर डबा लिये पीछे पड़े हैं। यह कहना कि देश ब्रम्हा के साथ

मानुस हों तो वही 'रसखान' वसों मिलि गोकुल गोप गुञ्जरन ।
 जो पशु हो तो कहा बस मेरो चरों नित नन्द की धेनु मकारन ।
 पाहन हो तो वही गिरि को छु कियो ब्रज छत्र पुरन्दर वारन ।
 जो खग हों वसेरो करों नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।

कृष्ण रगराती 'ताज' का भी एक छन्द सुन लीजिये,—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
 इस ही निकानी बदनामी भी महँगी मैं ।
 देन पूजा ढानी मैं निवाजहु भुलानी,
 तजे कलमा कुरान सारे गुनन महँगी मैं ।
 श्यामला सलौना सिर ताज सिर घुटलेदार,
 तेरे नेह-शाग में निशान हूँ दहँगी मैं ।
 नद के उमार कुरवान ताणी सूरत पै,
 ताण नाल प्यारे हिंदुजानी हूँ रहँगी मैं ।

देखा यह शुद्ध भाव और यह त्याग ? जो उक्त विदुषी ने कृष्ण भगवान् की भक्ति में आप लोगों के सम्मुख उपस्थित किया है । वास्तव में शृंगार तो यह है, लोग उसे कल्पित चारों जैसा करें । जिस कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा ने लोगों को शुद्ध प्रेम का पाठ पढ़ाया, कृष्ण-भक्ति का प्रसार किया, किसी प्रकार भी हमें उसकी अवहेलना करना उचित नहीं है । यदि आज भी हम अज्जभूमि की तीर्थ यात्रा करते हैं तो भी उन्हीं प्रेमोपासकों के हृदय के यिछौने, जो कृष्ण के रंग में रंगे पड़े हैं, देखने में आते हैं ।

विचार फेल रहे हैं, अपने सदुपदेशों तथा आदेशों
 - कर हमें सु-शिक्षित बनावें। वस, यानू मैथिली
 ॥ एक पद्यांश को यहाँ उद्धृत कर प्रस्तुत विषय
 प्रमात करते हैं।

१७ मनोरजन न करि का कम होना चाहिए,

वसम उचित उपदेश का भी भ्रम होना चाहिये।



कविता भी प्रवाहित हो, या यों कहें कि आवश्यकतानुसार अपने प्रवाह को बदल कर उसमें देश को प्रवाहित करें, सर्वथा उचित है। किन्तु यह ठीक नहीं कि हम एक ऐसे धन की, जिसे हमारे पूर्वजों ने अविश्रान्त परिश्रम करके कमाया है, वृथा अव-हेलना करें। यदि हमारी समझ में शृंगार-रस का वर्णन आवश्यकता से अधिक हो गया तो अन्य-रसों की कमी को उसी प्रकार पूरी करें, जिस प्रकार हमारे पूर्व कवियों ने शृंगार-रस को सर्वांग-पूर्ण बनाया है।

देश का अहित शृंगार-रस के उन वर्णनों द्वारा कदापि सम्भव नहीं जो दाम्पत्य-प्रेम के भावों द्वारा सतीत्व उत्पन्न कराते हैं। क्या दत्त, वद्विम और रवीन्द्र बाबू के उपन्यासों में शृंगार-रस नहीं है? क्या वह हमें अन्त में दाम्पत्य प्रेम की शिक्षा नहीं देते? फिर भला हम ऐसे शृंगार को हानिकार कैसे कहें? कृपाकर ऐसे उपन्यासों के प्रचार को रोकिये जो अपने परिणाम तक पहुँचने के पूर्व ही कुरुचि फैलाते हैं, और उनके आदर्श-पात्र भ्रष्ट हत्या कराने के घोर पाप करने में भी संकोच नहीं करते।

देश की वर्तमान स्थिति देखते हुए हमारे कवियों का यह धर्म है कि उनकी कविता ऐसी हो जो हमारे समाज से सहानुभूति प्रकट करे, पारस्परिक प्रेम बढ़ावे, बन्धुत्व भाव स्थिर करे, ईर्ष्या-द्वेष से विमुक्त करे, बुरे कर्मों से विरोध और सन्कार्यों में प्रवृत्ति करावे। इसके अतिरिक्त हमारे कवियों का यह भी धर्म है कि आजकल जो हमारे समाज में सर्व

मन बुझिवा देंगे हैं, कपल मधुमंशों लपटा ब्यापना
 उठे दूर का हमें सु रिगिना बनाने । यम, पादू मीथिली
 गुन के एक पगार को यहाँ उदधुन का मधुमन रिगण
 यहाँ समान करने हैं ।

कपल मकारतन की का कम होना श्यामिल,
 काम रंगी शरीर का नी लम्बे शरीर, श्यामिल ।



रसों पर पुरुषत्व का आरोप

वर्ण



प्रथम ही वर्णन किया जा चुका है कि सृष्टि-उत्पत्ति के साथ-साथ ही काव्य की भी सृष्टि हुई। क्योंकि हमारे यहाँ वेद ही प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, और उनमें इतस्ततः काव्य का अधिकार है, अतः काव्य का जन्म भी वेदोत्पत्ति के साथ ही साथ मानना पड़ेगा। और जब वेदों में काव्य है, तो अन्वेषण द्वारा उनमें उसके सम्पूर्ण अंग, उपांग भी प्राप्त होंगे। हमारी संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में ऐसे विशिष्ट गुण भरे हैं, जिन्होंने ससार की सम्पूर्ण भाषाओं में उन्हें शिरोमणि बना दिया है। वर्णनशैली तथा भाव-लहरी के साथ ही साथ उनमें शब्द तथा अर्थों के चमत्कार का वर्णन भी दुग्ध-शर्करा-सम्मेलन के सदृश बहुत ही उत्तमता से हुआ है। परन्तु, इस आनन्द का उपभोग मनुष्य तभी कर सकता है, जब वह उसका प्रयोग करे। जो लोग सहसा शब्दार्थ पर ही विचार करने बैठ जाते हैं, वह प्रायः धोखे में आ जाते हैं। तीन या चार वर्ष हुए, एक मुसलमान सज्जन तथा एक आर्यसमाजी महोदय का शास्त्रार्थ फीरोजाबाद समाज मन्दिर में हुआ। विवाद का विषय था एक वेद-मंत्र, जिसे हम नीचे उद्धृत करते हैं।

“द्वा सुपर्णा सयुजा सत्वाया समान वृक्ष परिपश्य जाते ।

तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यन अन्नम्योऽभि चाकं शीति” ॥

—तृ० माण्डूकीयनिषद, ख० १, स० २ ।

अर्थ—द्वा सुपर्णा नाम के दो पक्षी हैं (अर्थात् जीव और ईश्वर) वे सयुजा अर्थात् (नियन्त्र, नियम भाव करके) सहयोगी हैं, और सत्वा हैं अर्थात् (चेतनता करके) तुल्य स्वभाव हैं और समान नाम एक ही वृक्ष है, अर्थात् शरीर, उसके आश्रित होकर स्थित हैं, उनमें एक (अर्थात् जीव) स्वादिष्ट पिप्पल को भक्षण करता है (अर्थात् कर्म फल को भोगता है) दूसरा (अर्थात् ईश्वर) कुछ भक्षण न करके प्रकाशमान रहता है ।

यहाँ जीव, ईश्वर और शरीरादि उपमेयों का कथन नहीं है । केवल दो पक्षी, वृक्ष इत्यादि उपमानों का कथन है । अतः ‘रूपकातिशयोक्ति’ अलङ्कार है । इसी अलङ्कृत भाषा ने उक्त सज्जन को धोखे में डालकर शका करने के लिए वाध्य किया, वह जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी रूपक से उसके साकार होने का ध्यान करते थे और अपने उक्त कथन तथा मंत्र को ईश्वर के साकारत्व का प्रमाण समझते थे । जब उनको भाषा के अलङ्कृत होने का भेद ज्ञात हुआ तब उन्हें सतोष हुआ ।

हमारे काव्य के अन्तर्गत अलङ्कार एक बहुत ही उत्तम पद पर स्थित है, उसके बिना काव्य नग्न समझा जाता है, यही कारण है कि प्रत्येक हिन्दू धर्म-शास्त्र ने इसे अपनाया है ।

अलंकार कहीं-कहीं कठिन बातों के समझाने में ऐसे सिद्धहस्त होते हैं कि बड़ी उत्तमता से मूल अर्थ को समझा देते हैं। हमारे पूर्वजों में यह एक अद्भुत गुण था कि अपने वैज्ञानिक तथा तात्त्विक कार्यों में भी उन्होंने नित्य-प्रति के व्यवहार का उच्छेद नहीं किया है। यदि हम आज भी अपने पारस्परिक वार्तालाप पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि लोग वृत्तों को पुरुषों और पुरुषों को वृत्तों से समता देते हैं। लोग दाताओं को काम-धेनु, कल्पवृक्ष इत्यादि के नाम से पुकारते हैं, धनिकों को कुबेर की उपाधि से विभूषित करते हैं, आश्रय दाताओं को वृक्ष और उनकी सहायता को छाया बतलाते हैं। इसी प्रकार पुत्र को आत्मा स्त्री को अर्धाङ्गिनी, सहकारी को दाहिना बाजू इत्यादि से समता दी जाती है। अस्तु, यही बातें दृष्टि में रखकर हमारे साहित्यकारों ने साहित्य को भी पुरुष माना है। साहित्य का उपादान भाषा और अर्थ हैं, भाव प्राण हैं, अलंकार और चमत्कार उसकी उज्ज्वलता तथा शोभा है। साहित्य का प्रतिपाद्य विषय उसका हृदय है। आदर्श दान साहित्य का प्राण है। मनुष्य की तरह साहित्य का क्षेत्र, उसके रोग तथा गुणों का वर्णन भी है। उसका क्षेत्र समाज उसके रोग उद्वेजकता, मौलिकता का अभाव इत्यादि हैं, और आरुष्टि, अनुशीलनीयता इत्यादि उसके गुण हैं।

जब साहित्य के लिए इस प्रकार पुरुष के गुणादि से समता देने का प्रयत्न किया गया तो भला रस ही इससे फेरा रह जायें। यही सोचकर काव्य-प्रवीण विठ्ठलक-चूड़ामणि

विभूषित मडली ने रसों पर भी पुरुषत्व का आरोप किया है। सबसे प्रथम हम आर्यों के सर्वस्व वर्णाश्रम से रसों का मिलान करते हैं। भारतीय हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त है। उनके नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। विद्वानों ने रसों में भी यह चारों वर्ण घटाये हैं। प्रथम इसके कि हम यह मतलावें कि कौन कौन रस किस किस वर्ण का माना गया है, यह उचित प्रतीत होता है कि प्रथम उक्त चारों वर्णों के लक्षण वर्णन कर दें जिससे समझने में सुगमता हो।

ब्राह्मण के कर्म

अध्यापन मध्ययन यजन याजन तथा ।

दान प्रतिग्रह चैव ब्राह्मणकर्म स्वभारज ॥

अर्थात् ब्राह्मणों के पद कर्म हैं—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना।

क्षत्रिय कर्म—

प्रजाना रक्षण दान मित्र्याऽध्ययन मेव च ।

विपयेन प्रसक्तिश्चक्षत्रियस्य समासत ॥

अर्थात्—प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विपयों में आसक्त न होना, ये क्षत्रियों के कर्म हैं।

वैश्य कर्म—

पशूना रक्षण दानमित्र्याऽध्ययन मेव च ।

यणिसपथ कुर्सीद च वैश्यस्य कृषि मेव च ॥

अर्थात्—पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना, यह वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र कर्म—

एक मेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुभ्रपामनसूययः ।

प्रभु ने शूद्रा का एक ही कर्म बताया है कि इन (तीनों) वर्णों की निन्दा-रहित सेवा करे।

—मनुस्मृति अध्याय १

यदि हम किसी से यह कहें कि अमुक रस का अमुक वर्ण है तो इसके समझने में उसे कुछ भी कठिनाई न होगी और उसका ध्यान बिना किसी की टीका-टिप्पणी देखे हुए ही गुण, कर्म तथा स्वभाव पर जाकर तुरन्त ही स्थिर हो जावेगा। प्रथम ब्राह्मण के गुण पर ध्यान दीजिये। (ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः) के अनुसार ब्राह्मण को सदैव ईश्वर की खोज में ही लगा रहना चाहिये, उसके रंग के सम्मुख उसे सब रङ्ग फीके लगने चाहिये, उसके प्रेम में उसे अपने अस्तित्व को मिटा देने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिये। ससार के सौंदर्य में उसे उसी का प्रकाश देखना चाहिये। यह ब्राह्मण के गुण हैं। इन गुणों की प्राप्ति के लिए उसे वह कर्म करने चाहिये जो मनुस्मृति के आधार पर ऊपर कितने किये गये हैं। उसके स्वभाव में जमा, शांति इत्यादि धर्म के दश लक्षणों का समावेश होना

अब हम उपर्युक्त चरित्रों पर भी विचार करते हैं, जिनमें उनका साहस स्पष्ट हो जाए।

शृंगार-रस का स्वरूप मात्र यही है, उसके आत्मिक नायिका-नायक तथा उद्देश्य वद-वादे-वादे हैं। प्रेम इसका मूल मंत्र है। इसका पुत्रों की ब्रह्म की भाँति स्वरूप में अनेक प्रेमों की ही मूर्ति देखा है। उसके लिए संसार में प्रेम-पात्र से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं; वह उसके पीछे हर समय अपना अस्तित्व निधाने के लिए बचन रहता है, वह उसी के संकेत पर नृत्य करने के लिए तैयार रहना है; वह उसने चलने के लिए अपने नेत्रों के बिड़ौने बिड़ौता है। नान्यथा यह कि जिस प्रकार भक्त ईश्वर पर आसक्त होता है, उसी प्रकार रसिक अपने प्रेम पात्र पर मोहित होता है। रक्त ब्राह्मण और शृङ्गार-रस में समता हुई। इसलिए शृङ्गार-रस ब्राह्मण वर्ण का हुआ।

हास्य में मनुष्य का चित्त सदैव प्रसन्न रहता है जिस समय मनुष्य प्रमोदानुभव करता है, उस समय वह अपने सम्पूर्ण कर्माँ को विस्मरण कर देता है। ब्राह्मण के गुणों का वर्णन करते हुए शास्त्रियों ने उसमें भी उपरोक्त गुणों का समावेश किया है। वह कहते हैं कि ब्राह्मणों को न जाने का सुख हो न जाने का दुःख, न जीवन का मोह हो और न मरण का शोक। प्रत्युत नदीय आनन्द और प्रसन्नता के साथ अपना जीवन करना चाहिए। वस, हास्य और ब्राह्मण का एक ही

देखकर कहना होगा कि हास्य को भी ब्राह्मण वर्ण का ही मानना चाहिए ।

ब्राह्मण अपनी भक्ति तथा तप के प्रभाव से नाना प्रकार के चमत्कार दिखा सकता है, अन्य वर्णों में यह बात नहीं है । क्षत्रियों को अस्त्र-शस्त्रादि का गर्व है, वैश्य तथा शूद्रों को अपनी द्रव्य तथा सेवा का मद् है, जिनसे शरीर का सम्बन्ध है । उनके कार्यों में यदि कोई अद्भुत बात है तो वह भी कुछ समय की अपेक्षा रखती है । किन्तु ब्राह्मण के मुख से निकलते ही अद्भुत कार्यों के ढेर लग सकते हैं । उदाहरणतः कुम्भज ऋषि ने तीन ही चुल्लुओं में समुद्र सोल लिया—विश्वामित्र ने दूसरी सृष्टि की नींव डाली, इत्यादि अनेक कार्य हैं इसी से अद्भुत-रस को हम ब्राह्मण वर्ण में परिगणित करेंगे ।

शान्त-रस, तो ब्राह्मण वर्ण से इतनी समता रखता है कि प्रमाण की आवश्यकता नहीं ।

वीरत्व क्षत्रियों का मुख्य गुण है, युद्ध की योजना करना उनका मुख्य कर्म है । बैठे-ठाले लड़ाई विसाना तथा वीरत्व दिखाना उनका स्वभाव है । युद्ध और क्रोध का साथ है । अतः वीर और रौद्र-रस का एक ही—क्षत्रिय-वर्ण होना चाहिए ।

वैश्यों में न तो उपर्युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय के शान्ति तथा वीरत्ववाले स्वभाव ही होते हैं, और न शूद्रों से ही उनकी तुलना की जा सकती है । इनके मुख्य कर्म मनुस्मृति के आधार पर ऊपर लिख दिये गये हैं । अर्थात् पशु-सरक्षण, कृषि-कर्म

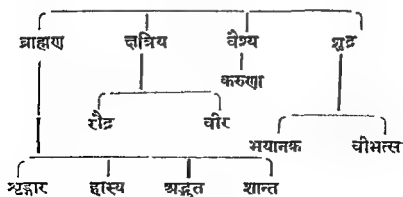
इत्यादि। यह कर्म ऐसे हैं कि करुण हृद मनुष्य ही सम्पादित कर सकता है, प्रत्येक में इनको करने की क्षमता नहीं होती। अतः करुणारस वैश्य-वर्ण में गिना जाना चाहिए।

शूद्रों का मुख्य कार्य सेवा बतलाया गया है। यथा सम्भव उन्हें घृणोत्पादक कार्य भी करने पड़ेंगे। उनके स्वरूपों को वर्णन शास्त्रकारों ने भयकर बतलाया है। महाभारत शान्ति-पर्व में राजा वेणु के मथन करने के समय जो भयकर रूप-प्रदारी मनुष्य उत्पन्न हुआ है, वह शूद्र नाम से ही विख्यात हुआ है। अतः भयानक तथा बीभत्स रसों में शूद्र के लक्षण पाये जाने के कारण उन्हें शूद्रवर्ण में परिगणित किया गया है।

स्पष्ट करने के लिए वर्ण क्रम से रसों की एक तालिका नीचे दी जाती है।

वर्ण-क्रमानुसार रसों की तालिका

वर्ण



रसों के देवता

भगवान् ने जितने अवतार लिये हैं, उनमें कृष्ण-अवतार की प्रधानता है। उनकी लीलाओं का वर्णन पढ़ने पर ज्ञात होता है कि कहीं तो वे ब्रज-ललनाओं के साथ रास-क्रीड़ा कर उन्हें सयोग-शृङ्गार-रस का सुखानुभव करा रहे हैं, और कहीं उनसे पृथक् होकर उन्हें वियोग-शृङ्गार-सागर में प्रवाहित कर रहे हैं। कहीं तो उनके रग में रगी, प्रेम में पगी, चन्दावली उन्हें वन वन छूँढ़ती फिरती है, और कहीं राधिका उनके कर-कमलों से अपना शृङ्गार कराती है। कहीं वे गोपियों को अपनी मधुर वशी की ध्वनि द्वारा मुग्ध कर रहे हैं, तो कहीं मधुर मुसकान द्वारा उन्हीं गोपियों का सर्वस्व हरण कर रहे हैं। यदि कहीं अपने परोपकारादि विशिष्ट गुणों द्वारा ब्रज-वनिताओं को अपना स्मरण दिला रहे हैं, तो कहीं अपनी साँवली सलोनी-छवि द्वारा उन्हें रिझा रहे हैं। कहाँ तक कहें सब प्रकार से शृङ्गार पर उनका आधिपत्य जमा हुआ है। सस्कृत तथा हिन्दी में इस विषय के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यही कारण है कि उन्हें काव्य-रस मार्मिक सज्जनों ने शृङ्गार-रस का देवता माना है।

एक समय नारद मुनिजी को अपने इन्द्रिय जित होने का अभिमान हुआ। यही नहीं, किन्तु उन्होंने अपने इस अभिमान को विष्णु-भगवान् के समक्ष प्रकट भी कर दिया। गर्व-प्रहारी भगवान् ने उनकी परीक्षा के लिए एक शील-गुण-सम्पन्ना

अत्यंत लावण्यवती षोडशी की रचना की, साथ ही उसके स्वयम्बर की सामग्री भी उसी मार्ग पर उपस्थित कर दी, जहाँ होकर मुनि जा रहे थे। नारदजी कन्या को देखते ही मोहित होगये और उसके पाने का यत्न भी सोचने लगे, परन्तु इसके लिए सादर्य्य की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने अपनी सब बातों को विस्मरण कर, विष्णु-भगवान् से प्रार्थना की, कि वह अपना वह रूप जिसे देखते ही कन्या मोहित हो जाये, प्रदान करे। विष्णु भगवान् ने नारदजी से कहा कि अच्छा, हम वही करेंगे, जिसमें आपकी भलाई हो। यह कहकर उन्हें कपि का रूप दे बिदा किया। नारदजी सादर्य्य के अभिमान में फले में समाते थे, और समझते थे कि राज कन्या जाते ही मेरे गले में जय माल डाल देगी। किन्तु वहाँ जाने पर विपरीत हुआ। कन्या इनका रूप देखकर इतनी डरी कि जिस पक्षि में यह घिराजमान थे, उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। जय माला विष्णु भगवान् के गले में डाल दी। यह देखकर नारदजी बहुत क्रोधित हुए और वहाँ से चल दिये। मार्ग में शिवजी के प्रमथ नामक गण ने इनसे दिल्लगी की, और कहा—आप अपने इस अनुपम रूप को दर्पण में तो देखिये। नारदजी ने जब अपना रूप देखा तो और भी क्रोध बढ़ा, और विष्णु तथा प्रमथ दोनों को धाप दिया।

इसी हास्य के सम्बन्ध से प्रमथ को हास्य का देवता माना है।

सत्तार का निर्माता ब्रह्मा है। वह विश्व में अद्भुत में-अद्भुत

वस्तुओं की सृष्टि करता है। उसका प्रत्येक कार्य अद्भुत है। यही कारण है कि ब्रह्मा को अद्भुत-रस का देवता माना है।

एक समय देवताओं में एक दूसरे से बड़े होने का विवाद उपस्थित हुआ। न्याय के लिए भृगुजी की नियुक्ति हुई। उन्होंने न्याय में विष्णु की जय रखी। क्योंकि इनमें शान्ति की मात्रा अधिक थी। महाराज भृगु ने विष्णु के हृदय पर पदाघात किया, किन्तु इस पर वह क्रोधित नहीं हुए, बल्कि पूछने लगे, "महाराज ! मेरे कठोर हृदय पर पदाघात करने से आपके कोमल कमलवत् चरणों में चोट तो नहीं लगी" ? और यह कहकर चरण दावने लगे। क्या ठिकाना है इस शान्ति का !

बस इसी कारण विठानों ने शान्ति-रस का देवता विष्णु को माना है।

रौद्र के कारण ही शिवजी का नाम रुद्र है। उन्होंने क्रोध के द्वारा कामदेव को भस्म कर डाला। यही कारण है कि उन्हें रौद्र-रस का देवता माना है।

करुणा द्वारा मनुष्य द्रवीभूत हो जाता है, यही गुण जल में भी है। जल का देवता वरुण है। महाराज कृष्ण के पिता नन्द को स्नान करते समय वरुण ने उन्हें जल-पाश में ही तो बद्ध किया था। जल और करुणा में एक ही गुण होने के कारण करुणा का देवता भी वरुण माना गया है।

इन्द्र देवताओं के राजा है। दैत्यों के साथ उन्हें युद्ध करना पड़ता है। युद्ध में वीरत्व की ही आवश्यकता है। इसी कारण काव्य मर्मज्ञ महानुभावों ने उन्हें वीर रस का देवता माना है।

ससार में लोग मृत्युसे अप्रिय तथा भयावह दूसरा पदार्थ नहीं समझते। मृत्यु का देवता "यम" है। इसी कारण भयानक-रस का देवता "यम" माना गया है।

महाकाल में अनेकों घृभत्स कार्यों की सृष्टि होती है, अतः उसे घृभत्स-रस का देवता माना है।

देवता—क्रम से रसों की तालिका

रस	देवता	रस	देवता	रस	देवता
शृङ्गार	कृष्ण	रौद्र	रुद्र	अद्भुत	ब्रह्मा
हास्य	प्रमथ	वीर	इन्द्र	घृभत्स	महाकाल
करुणा	वरुण	भयानक	यम	शान्त	विष्णु

रस-जनित रस

बहुधा रसों में एक मानवी प्रकृति और भी पायी जाती है, जिस प्रकार मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रस से रस का भी उदय होता है।

चिन्तामनि केलि के कलानि के विलासनिसें,

दोऊ जन दोऊन के चितनि के चोर हैं ।

दोऊ जने मन्द सुसकानि सुधा बरसत,

दोऊ जने छके मोद मद दुहुँ ओग हैं ।

सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,

राम नैन सीता सुख चन्द्र के चकोर हैं ।

×

×

' × —चिन्तामणि

आपुस में रस में रहसैं वरसैं बनि राधिका कुज निहारी ।

श्यामासराहतश्याम की पागहि श्याम सराहत श्यामा की सारी ।

एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय ज्यौ कहे प्यारी ।

देन सुवालम पाल को नाद निलोकि भई बलि में बलिहारी ।

×

×

×

—देव

‘केशव’ एक समय हरि राधिका आसन एक लसैं रग भीने ।

आनँद सो तिय आन की धुति देखत दर्पण में दृग दीने ।

भाल के लाल में पाल निलोफत ही भरि लालन लोचन लीने ।

शासन पीय सवासिन सीय हुताशन में जनु आसन फीने ।

×

×

×

—केशव

छूयो गेह काज लोख लाज मन मोहनी के,

भूयो मन मोहन को खरली बजाइरा

तेसो दिन द्वै में ‘रसखान’ वात फेलि जैह

सजनी कहँ। लौ चन्द हाथन दुराह्यो ।

कालहु बनिन्दी तीर चितयौ अचानक ही,

दोऊन के दोऊ खरि मृदु सुनिवाइया ।

दोऊ पर पेयों दोऊ लेत है बलैयों वर,

भूनि गई गैयों, इन्हें गागर उगाइवो ।

× × × —रसखान

फल कुंडल दुहुँ हुलत सुलत अलकावनि निपुलित ।

रंजद सीकरन सुदित तनक तिनकावनि सुललित ।

सुरति मध्यमति लसत हरष हुलसत चरष चचल ।

कषि 'पदमाकर' छकित भपित भपि रहत दगचल ।

इमिनित निपरीत सुरति नभ असतिय सुल साधक जु सन ।

हरि हर निरचि पुर वरग पुर सुरपुर लै कद आज अन ।

—पदमाकर (जगछिनेाद)

× × ×

पिय तुम और कहूँ जिन जाटु ।

लेन मेहु किन मो रविन को रूप सुधारस लाटु ।

जो जो कहाँ करो सोइ सोई धरि जिय अमित बढाहु ।

राखीं हिये लगाइ पियारे किन मन माहि समाहु ।

अनुदिन सुन्दर पदन सुधानिधि भैन चकोर दिखाहु ।

'हरीचन्द' पलकन की ओट छिनहु न नाथ दुराहु ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रावली नाटिका)

× × ×

पट नीन सरीर जड हुलसे, नभ गग सु-सुक्त छटा टपकी ।

भग देपतु हो शत नेत्रन सों निरही मन गनि सदा जपकी ।

अच प्रान प्रिया अपनी लखि के, बरसावत फूल सदा 'जमकी' ।

अनि उत्तम मोहनि जो मा की—छनि देखि रही रजनी नभ की ।

× × × —स्वरचित

हुई सुग्ध शकुन्तला भी नृपति नर को देस,

मान देता था जिहें अमरेन्द्र भी सन्निवेश ।

शान्ति स्थान महान कण्ठ मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में ।
 वाह्यस्थान विहीन लीन अति ही दुःखत के ध्यान में ।
 बेठी भोन शकुन्तला सहज थी सौंदर्य से सोहती ।
 मानो होकर चित्र मं सचित्र सी थी चित्र को मोहती ।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

वियोग-शृङ्गार

यह वियोग शृङ्गार तीन प्रकार का है—(१) पूर्वानुराग,
 (२) मान, और (३) प्रवास ।

पूर्वानुराग-वियोग

मिलने से पूर्व ही अवस्थादि द्वारा प्रीति के उत्पन्न होने से
 मिलने की उत्कण्ठा को पूर्वानुराग कहते हैं । यथा —

होइ न सृषा देय ऋषि भार्या । ब्रमा से बचन हृदय बरि राखा ॥
 उपजेब शिर पद कमल सनेहु । मिलन कठिन मन यह सदेहु ॥
 जानि कुअवसर प्रीति दुराई । सगि उत्सग बैठि पुनि जाई ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

X

X

X

मधुर मधुर मधुर सुरली वजाय धुनि,

धमक धमारन की धाम धाम के गयो ।

कहै पद्माकर तयो अगर अर्चन की,

करि के घला-चली झला झली चिते गयो ।

को है वह ग्यालिनी गुनालन के सग माहि,

काम छनि जारो रसरग में भिजे गयो ।

दये गयो सनेह फिर छूँवै गयो छरा के त्रार,

पगुवा न दे गयो हमारे मन ले गयो ।

—पद्माकर

देखू दोऊ मिले पहिले दृति देखत ही ते लगे हग गाढे ।
आगे ही ते गुन रूप सुने तन ही ते हिये अभिलापहि गाढे ।
तादिन ते इत राखे उतै हरि आये भयेनू नियोग के बाढे ।
आपने आपने उचे अटा चढ़ि द्वारनि दोऊ निहारत ठाढे ।

× × × —देव

सुन्दर रूप लिया मन जानकी लोक ओ गेद की मेडन मेदी ।
औरपुरी सुख मम्पति सो रजधानि सदा लक्ष्मि सो लवेदी ।
“सूर” किशोर बनाय प्रियि सनेह की नात न जात है मेदी ।
केतकौ जौ सुख हे समुदाहि तौ बाप को भोन न भूलति वेदी ।

—सूर

पूर्वानुराग के दर्शनानुसार ४ भेद हैं—श्रवण, चित्र, स्मरण और प्रत्यक्ष ।

श्रवण-दर्शन

किसी के गुण, रूप, शीलादि की प्रशंसा सुनकर चित्त में जो अनुराग उत्पन्न होता है उसे श्रवण कहते हैं । यथा —

तासु पवन अति मियहि सुहाने । दृग्ग लागि लोचन अकुलाने ॥
बली अथ करि प्रिय मखि सोई । प्रीति पुरानन लखै न कोई ॥

‘सुमिरि मोय मारद बचन, वषर्जी प्रीति पुनील ।

चकित बिलासति मरुल दिशि, जनु सिसु शृंगी सभील ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

× × ×

सुन्दरता सुनि देव द्रुँ क रहे गुा सों गूदि के मन मेती ।
लागे है देखिने के दिन राति भिने गुरुद नहि साखि गोती ।

गेती कहा हरि रात्रिका सो कहूँ नैकी कई पहिचान जो होती ।
 तेन दुहुँ की दहै मिनु तेखे सुखे दमा निनि सोरनि कोती ।

X X X —देव

सोई दियाय-दियाय सखी इक चारक कानन आन उसाये ।
 जाँ को 'केशव' कानन ते कित हूँ हरि नैननि मान निशये ।
 लाज के साज धरेई रहे तन नैनन ले मनहीं सो मिलाये ।
 कैसी कहां अज न्यो निकसोरी हरेई हरे दिय में हरि आये ।

X X X —केशव

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द गिलात गिलोचन पेखे ।
 अमर पीत ईसे चपना छनि अमर मेचव अद उरेये ।
 कामहुँ ते अभिराम महा मतिराम हिये निहचै करि लेखे ।
 तैं परन्यो निज बैननि सो मति अं निज नैनन सो मनो पेये ।

X X X —मतिराम

रात्रिका सो कहि आईछ तू सति मानरे की मृदु दूरति जैती ।
 ताछिन ते पद्माकर ताहि सुहात कटु तनि खूति बेनी ।
 मानहुँ नीर भरी धन की उदा आछिन में रही आनि उगेसी ।
 पेखी भई सुनि कान कथा जु मिलोकहिगी तर होइगी केसी ?

—पद्माकर

चित्र-दर्शन

जब किसी चित्रार्कपक चित्र को देखकर हृदय में अनुराग
 उत्पन्न होता है, तो उसे चित्र दर्शन कहते हैं। यथा —

यातन ही में निहारत चित्तु निहारत नाहि निहार की भूम ।
 मोक्षित की मति नोचि तन्वी नैग सुन्दर तो ले गई घर पुमै ।

भीनर भीति बिती ललिता चनि तागृह आँखिन ध्यानद भूमे ।
मित्र चरित निमित्र चितै चरि चित्र की धरति चाहत भूमे ।
होही भुजानी कि भूलो सनेकोई भूलनो मत्र मरुल सिल्यो सो ।
भोजन पान भुजानो सने सुख स्थैनो सगाव निपाद निपासो ।
चित्र भई हँ। निचित्र चरित न चित्त दुभ्यो अगरेस लियोसो ।
चित्र सिल्यो हरि मित्र लियो तत्र ते सिंगेरान चित्र लियोसो ।

× + × —देव

चित्र के मन्दिर तें इक सुन्दरि क्यो निकसै जि हैं नेह नसा है ।
रया पदमाकर खोलि रही दग बोने न बोल अगोच दसा है ।
भूतो प्रमद ते भूदहि होत जुपे नग म जड कीट महा है ।
मोहन मीत के। चित्र लखें भइ चिन्हि सी ता निचित्र कहा है ।

× × × —पद्माकर

हरति मोहनी मोक्ष की निधि धारी जहाँ सन्निपा की भीरै ।
‘घनी प्रजाल’ बिलोपति रात्रिका चित्र लिलो मी भई तेहि तीरै ।
ओरी त्रिगोरी त्रिगोर की रीति मराहि ग्ही है गुगलि गँभीरै ।
चित्त चितेरी ग्ही चकि सी जकि एक ते हैं गई हरे तसनोरै ।

—घनी प्रजाल

सुनि चिन्नि चित सारी आई । देखि चित्र छत्र ग्ही लुभाई ।
सहस कला होइ हिये समाना । निरलि रूप चित चेत भुजाग ॥
नै ताइ हरति सो रही । डोबि न सकी प्रेम की गही ।

—उसमान फनि (चित्रायली)

स्वप्न-दर्शन

जब किसी को स्वप्न में देखकर अनुराग उत्पन्न होता है

मोहि पनै १ १ देहू निना कहि पूछै जो कोउ कहा कर्तौ जैमा ।
 आनि मिर्दीचि दुर्ग यही पांचहि सॉयरो सुन्हर ओर न पेसो ।
 पाइ पगो तू पलोटे न पोंइ बताइ दे को है कहाँ अगइ सो ।
 हौ अपने दिग दृढ़ि थकी रिसनासपनो सपनो यह कैसो ।

X

X

X

—देव

मोहन आये यहाँ सपने खुसुरात से शात रिनाद सो बॉंग ।
 उठी हुती परजक में हॉहूँ उठी मिलिये वहाँ कै मन धीरो ।
 पेने में 'दास' रिसासिनी दासी जगाई दुलाय कियार जँजीरो ।
 भूठो भयो मिलिये मजराज को एरी गयो गिरि हाथ के हरीरो ।

X

X

X

—दास

सुने सकेत में सौंधे सनी सपने में नई दुलही तू मिलाई ।
 हाहूँ गयो पदमाकर दोरि सुभीई मरोरति सेज लौ आई ।
 या मन की मन ही में रही शु समेदी तिया लै दिया सौँ लगाई ।
 ओखें गइ खुलि सीधी सुनै सखि हाथ । मैं नीरी न खोलन पाई ।

X

X

X

—पद्माकर

प्रत्यक्ष-दर्शन

जब किसी को साक्षात् देखकर अनुराग उत्पन्न होता है, तब उसे प्रत्यक्ष दर्शन कहते हैं । यथा —

बाल लतान में बालको बोल सुन्यो वहुँ सग सगीन को देखत ।
 काहु कह्यो हरि । रावा यही, दुरि त्व जू देखि इतै खुल करेत ।
 हे तप ते पल एक नहीं कल लागी लो अभिलाषन धेरत ।
 बाही निकुजहि नन्दकुमार धरीक में बार हजारक हेरत ।

—देव

आई भली हो चली सलियान भ पाइ गोविन्द के रूप की भाँकी ।
 ल्यो 'पद्माकर' द्वार नियो मृद काज कहाँ अर लाज कहाँ की ।
 हैं नख ते सिय लों मृदु मातुरि बाँकी ये भाँहें बिलोकनि बाँकी ।
 आशु की या छवि देखि भट्ट अर भेनिये को न रखो कछु बाँकी ।

× × × — पद्माकर

जब सो देखी मृग अग्नि, भूरयो भोजन पान ।
 निरादिन जिय वितत यह, रुचत ओर नहिँ आन ।
 मलय पवन तापत तनहि, फूल माल न सुहात ।
 चन्द लेख वसीर रस, उलढी जारत गात ।
 द्वार द्वार तरवार में, सूरज सो पडि चढ ।
 मन हा सुख दुन मय भयो, परे प्रानह मन्द ।

—भारतेन्दु हरिश्चंद (कर्पूर मञ्जरी)

मान वियोग *

अपने प्रेमी के अपराध की सूचना प्रगट करने के लिए
 प्रयत्नी जो क्रोध प्रगट करती है, उसे मान कहते हैं । यथा —

पान त्रिनु अवर अजन त्रिनु नैन बडे,
 लौ त्रिनुहार कछु ओर मेव भेवि रागो ।
 सारी मरगजी नाक नय त्रिनु छुटे वार,
 चटि रह्यो भाँहें अर मन महातेवि रगो ।

* मान मोचन यथा — साम दाम अर भेद करि, प्रनति उपना भाइ ।

अर प्रसंग निजम यह, मोचन मान उपाइ ॥

साम = समझाना शीलता । दाम = दल, वपन, जाल । भेद = मली
 मम्मनि मिलाना । प्रनति = नम्रता । उपना = उपासना ।

आनन रुलाई छाई पियराई खुनाथ,
 और तिय को मिनाप जित्र अंगरेलि रह्यो ।
 बरी चारि परम सुजा पिय प्याते रीकि,
 माने न मनायो माननी को मान देवि रह्यो ।
 मान तीन प्रकार का होता है—लघु, मध्य और गुह ।

लघुमान

पर-खी दर्शन जनित मान को लघुमान कहते हैं । इसकी निवृत्ति केवल हास्य के द्वारा हो हो जाती है । यथा —
 ब्रह्मे हते रंग रागरी में जिनके अनुराग रंगी ब्रज भूम्यो ।
 किन्तिन काहु कहूँ भनकाइ सुकाफन फाहु भरोखे हे भूम्यो ।
 'स्व' पर-त्रिय देसत देवि के रापिका को मन मान सो घूम्यो ।
 वातें बनाइ मनाइ के लाल हँसाइ के बाल हरेँ छल चूम्यो ।

×

×

×

—देव

वाही के रंगी है रग वाही के पगी है मग,
 वाही के लगी है सग आनद अगाध को ।
 बहे पदमाकर न चाहै तो नेरु हग,
 तारन तें न्यारो कियो एक पल आवा को ।
 ताहु पे गोपाल कछ ऐसे खेल खेलत हे,
 मान मोरिने की नेबिने की करि साधा को ।
 काहु प चलाइ चख प्रथम सिक्काये फेरि,
 वासुरी बजाई के रिक्काइ लेत रावा को ।

मध्यमान

अन्य स्त्री प्रशंसा सूचक वाक्य श्रवण करने से जो मान उत्पन्न होता है, वही मध्यमान कहलाता है। यथा,—

पाल के संग गुपान कहूँ निति सोल में सोल को नाम उठे पति ।
 यो सुनि कै पट तानि परी तिय देन कहे इमि भाग गयो पति ।
 जागि परी हरि जानी गिरी सी सोई प्रतीत करी चित मँचि ।
 आसुन सो सताप दुख्यो अरु सासन सो सब कोप गयो पति ।

× × × —देर

बैसरी की बोरी पै न मोरी हे किगोरी यद,
 यात्री चित चाह राह ओर की मँग्यो जिन ।
 कहे पदमाकर सुजान आगे आन वान,
 आन की सुआन कै हिये यो लगेयो जिन ।
 जेसे अरु सैने सारि सोहन मनाइ व्यार्द,
 तुम इक मेरी बात एती रिसरेयो जिन ।
 आगु की घरी ते जते नूति हो भले हो श्राम,
 खलिता के लके नाँव बँसुरी बँस्यो जिन ।

—पद्माकर

गुरुमान

अपने पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त समझकर प्रियतमा द्वारा जो मान सम्पादित होता है, उसे गुरुमान कहते हैं, इस प्रकार के मान का मोचन कहीं कठिनता से होता है।

यथा —

मोति की माल गुपाल गरे लखि चाल कियो छल रोप उजारो ।
 भौंछे भ्रमी करिकै अरुग निकस्यो रँग नैननि के मग न्यारो ।
 त्या करि देव निहोनि निहोरि दोऊ कर जोरि पखो पग प्यारो ।
 पी को उठाइ कें प्यारी कछो तुम से कपटोन कौ काहि पत्थारी ।

—देव

X

X

X

नीकी की अनेसी पुनि जैसी होइ तैसी तऊ,
 योवन की दूरतें न दूरि भागियतु है ।
 कहै पद्माकर उज्जगर गोविन्दजी पै,
 चूकिगे कहूँ तो एतो रोप रागियतु है ।
 प्रेम-रस हाथ ले जगाये ले हिये सौ हित,
 पाइलै पहिरि बलु प्रेम पागियतु है ।
 एरी मृगनैनी तेरी पाइ लगी बेनी पाइ,
 पाइ लगि तेरे फेर पाँइ लागियतु है ।
 निरखि नेकु नीको वनो, या कहँ नदकुमार ।
 सुसुज मेलि मेल्यो गरे, गज मोतिन के हार ।

—पद्माकर

प्रवास-वियोग

जैव पति कुछ काल की अवधि देकर परदेश को गमन करता है और इससे दम्पति को अत्यन्त कष्ट होता है, उसे प्रवास वियोग कहते हैं । यथा :—

लाल बिदेश सुवाल-बधू बहु भौति वरी विरहानल ही में ।
 लाज भरी गृह काज करे कहि देव परे न कहूँ कल ही में ।

नाथ के हाथ ये हेरि हरा हिय लागि गई हिल की गल ही में ।
 आगिन के आँसुवा ललि लागनि लील लज्जली लिये पल दी में ॥१॥
 देव यहै बिन कन्त बसन्त न जाऊँ कहूँ घर बैठि रहौरी ।
 हृष हिये पिक कृक सुने निप पुज निकु जनि गुजति भौरी ।
 नूतन-नूतन के धन धेपन देपन जाती तो हौँ दुरि दोरी ।
 पार पुरी मति माने बलाइ लौं दंहुँगी धोर निहारत बोरी ॥ २ ॥

—देव

साक ही समैतैं दुरि बेठी परधानी देके,
 शर मोहि एवै या कलानिधि कसार्द की ।
 कत की कहानी सुनि श्रयन सुहानी रेनि,
 रचय बिहानी मा बसत अत धार्द की ।
 बलके न आली नेकु पलकें लगन पार्द,
 दरि मित गई नौद नैनन धौँ आर्द की ।
 जुहु यहै कोमिल कुमति ऐ बघारे नैन,
 जाल हूँ के देखो ज्वाल ज्वलित जुहार्द की ।

—पद्माकर

प्रसंग विभ्रम जहाँ अकस्मात् भयजाते हुए कठ इत्यादि
 से लगाकर सुख अनुभव किया जावे । उदाहरण —

आपनोई अपमान वियो पहिराइये के मनिमान मैगार्द ।
 लै मिलई मित सो कुसली करि पाय परेऊ न प्रीति जगार्द ।
 केतिक कोतुक बातें कहीं कनि देव तज तिय तोरी सगाद ।
 थाहु अचानक थाइ लना दरवाह के राखि कट लग

प्रवास के दो भेद हैं.—भूत प्रवास और भविष्य प्रवास ।

भूत-प्रवास

रैन दिन नेत्र में बहतो न नीर कहा,

करतो अनग को उमग सर चोपतो ।

कहै पयमाकर त्यो राग वाग बन कैसो,

तैसो तन ताय ताय तारापति तापतो ।

बिन्हो जो रियोग तो सयोग न देखो दर्द,

रतो जो सयोग तो रियोग नहिं थापतो ।

होतो जो न प्रथम सयोग सुख वैसो बह,

ऐसो अग यो न तो रियोग दुख व्यापतो ।

X

X

X

—पद्माकर

काकू पगे पुत्रिजा के फलोनि डालनि ओड दई हर भाती ।

मातुगी प्रति देखे जिना पद्माकर लागे न भूमि सुहाती ।

का कहिये उन सो सजनी यह बात है आपने भाग समाती ।

दोष प्रसन्न को दीजे कहा डलहे न करीन की डारन पाती ।

—देव

भविष्य-प्रवास

औसर और कहा समयो यह काज रिवाद ये कौन सी पाय ।

त्यो पद्माकर धीर समीर उसोर भयो तपि कै तन तायन ।

चेत की चेदना चार लखे चरचा चलिगे की लगे जु चलानन ।

वैसी भई तुम्हे गग की गेल में गीत मदारन के लगे गायन ।

X

X

X

—पद्माकर

राखिय अवध जो अयति लगि, रहत जानिये प्रान ।

दीपन्तु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

रमा गमन सुनि शशि सुग्री, भई दिवस के चन्द ।
परलि प्रेम पूरण प्रगट, निरखि रहे तदाम्द ॥

—पद्माकर

वियोग की एकादश दशा

प्रथम कहो अभिलाष बहुनि चिन्ता सुमिरन बहु ।
ताते हे गुन कथन बहुनि उद्देगदि बरनहु ।
फिरि प्रलाप उन्माद, व्याधि अर जडता जानो ।
बहुनि मरन यह भाँति अवस्था दम डर आनो ।
ए होइ रूख अनुराग मँ दोउन के करि देन कहि ।
अर एन मरन बरनत न करि जो नरनै तो रसहि गहि ।

—भाव चित्ताल

देवजी की सम्मति में वियोग की ये दश दशाएँ हैं ।
प्राय कवि लोग मरण के स्थान में मूर्छा का वर्णन करते हैं ।
इसको सम्मिलित करने पर ग्यारह दशाएँ होती हैं । उनमें से
चिन्ता, जडता, व्याधि, सुमिरन और उन्माद का वर्णन सच्चारी
भावों के साथ में हो चुका है । शेष छ का वर्णन नीचे
करते हैं ।

६—अभिलाष

प्रेमी तथा प्रेयसी की वियोगावस्था में परस्पर मिलने की
प्रयत्न इच्छा अभिलाष कहलाती है । यथा —

पहिले मरनाइ रिसाइ सगी जदुराइ पै पाइ गहाइयेतो ।
फिरि भेंटि भट मरि अरु िसक गडे जल्ला उग्लाइयेतो ।

अपनो दुरा औरन को उपहास सबे कनि देव बताइयेतो ।
घनश्यामहि नेकहु एक घरीकौ ईँ लगी जो करिपाइयेतो ।

× × × —देव

ऐसी मति होत अन कैसी करो आली बन,
माली के सिंगारवे सिंगारि वोई करिये ।
कहै पद्माकर समाज तजि काज तजि,
लाज के जहाज तजि डरिघोई करिये ।
घरी-घरी पल पल दिन दिन रैन दिन,
नैन की आरती उतारिघोई करिये ।
इन्दु तें अत्रिक अरविन्दु ते अर्धक ऐसो,
आनन गोविन्द को निहारिघोई करिये ।

× × × —पद्माकर

आरन दीजिये धार हिये कुलकानि के आशु निगारन दीजिये ।
मारन दीजिये लाज सबे हरिचन्द कलक पसारन दीजिये ।
चतुर चयाइन को चहुँ ओर सों सार मचाइ पुकारन दीजिये ।
छाँडि सकोच न चद मुखे भरि लोचन आशु निहारन दीजिये ।

× × ×

पलि साँपरी सूरत मोहनी रुत आँखिन को पया आइ दिखाइये ।
चाकत सी मरै प्यामी परी इन्हें पानिप रूप-सुग कनौ प्याइये ।
पीत पटे बिजुरी से कर्वाँ हरिचद जू घाइ इतै चमकाइये ।
इतहु पनी आइ कै आनन्द के घन नेह को मेह पिया बरसाइये ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रायली)

हम अति अनुगामी श्यामली मूर्ति के हैं,

युग श्रुति सुनना है चाहते चारु ताने ।

प्रियतम-व्यारे को लालसा भूरि द्वारा,

प्रतिपल अविषाती चित्त की आतुरी है ।

—अयोध्यालिह उपाध्यय (प्रिय-प्रवास)

७ गुण-कथन

दियोगावस्था में प्रीतम तथा प्रेमिका द्वारा जो गुण-गान होता है, उसे गुण कथन कहते हैं । यथा .—

दामिनि हूँ, रहिये मन आनत मोहन को घन सातिन घेरें ।

गाढ़ी क्यों स्त्रियेरी दिन-रातिहुँ कोई करो किनि कोटि करेरे ।

श्याम की सुन्दरताई कहीं कछु हैति जो जीभ हजारन मरे ।

केनन या ध्रुव की सुसमा पर कोट ससी गहि घाटि के कर ।

× × × —देव

चोख मोरि में मिलि के इतै आई ही हाल गुवाल कहीं की ।

कौन मिलोनि राखो पदमाकर या तिय की अलोकनि बाँकी ।

धीर अनीर की धूरि में कछु परे सो वै सुख केरिबे भाँकी ।

कै गई काटि करेजन के कतरे कतरे पतरे करिँको ।

× × × —पद्माकर

पातें गड़ी सरस थे कहते निहारी,

होटे पडे मफल का हित चाहते थे ।

अर्पण व्यास संग थे मिनते सचों मे,

ये थे सहायक गढ़े दूर के तिनो में ।

घर न सुहात ना सुहात घन बाहिरहू,
 बाग ना सुहात जे खुसाल खुतमोही सो ।
 कहै पदमाकर घनेरे घन बाग ल्यो हीं,
 चन्द ना सुहात चाँदनीहूँ जोग जोहो सो ।
 साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माझ कछु,
 व्यापी यह बात सो बखानत हा तोही सो ।
 राति ना सुहात न सुहात परभात आली,
 जन मन लागि जात काहु निरमोही सो ।

—पद्माकर

१०—मूर्छा

त्रियोगावस्था में शरीर के दुःख सुखादिकों के ज्ञान न रहने को मूर्छा कहते हैं —

ये हो नदलाल पेसो व्याकुल परो हूँ बाल,
 हालही चलो तो चलो ज़ारी बुरि जायगी ।
 कहै 'पदमाकर' नहीं तो ये झुकोरे लगै,
 ओरे ला अवाका दिन घोरें बुरि जायगी ।
 सारे उपचारन घनेरे घन सारन फो,
 देखत ही देखो दामिनी लो बुरि जायगी ।
 तो ही लग चेन जो ला चेतो हे न घटमुखी,
 चेतगी कहूँ जो चाँदनी मं बुरि जायगी ।

—पद्माकर

“मं ही हूँ यह महानिन्द्य, अधिर्नाति हा ।
 होगा मुझमा और कोन 'अपमोत हा' !

ये कहकर दृष्यन्त वहाँ पर गिर पड़े ।
रह सकते थे भला कभी ये स्थिर खड़े ।

—मैथिलीशरण शुक्ल

११—मरण

जब पति-पत्नी के वियोग में संयोग की नितान्त आशा
वहाँ रहती, तो उसे मरण कहते हैं । यथा —

इन दुखियों को न चैन सपनेहु मिल्यो,
ताते अति व्याकुल त्रिक्ल अकुलोंयगी ।

प्यारे हरिचन्द जू की घीमी जानि आवि मान,
चाहत चल्या पे पत्तो संग न ममोंयगी ।

देखो एक बारहु न नेन भरि ताहि या पै,
जीन जीन देश जई तहाँ पडितार्यगी ।

बिना प्राण प्यारे भये दरख निहारि हाथ ।
मरेहु पै आँखि ये लुनीही रहि जाँयगी ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द

यहाँ पर मूर्छा और मरण का पृथक्त्व प्रदर्शित
राने के लिए 'मिलने' की कोई आशा न होना ही मरण कह
या है । वास्तव में कवि लोग मरणार्थी के वर्णन में नितान्त
मरुत मरण के स्थान में मूर्छा का ही वर्णन कर देने हैं
हले कहा जा चुका है । यथा —

“मेक मरुँ करिके व चानि परो मो मरी ये धनी”

किन्तु कविवर विहारीलालजी ने इस नियम का उल्लंघन कर दिया है। वे कहते हैं:—

कहा कहाँ वाकी दशा, हरि प्रानन के ईस ।

गिरह ज्वाल जरिवो लसे, मग्नियों भयो असीस ॥

कविवर केशवदासजी ने शृङ्गार-रस के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक ये दो भेद माने हैं.—

(१) प्रच्छन्न—जिसका भेद केवल नायिका-नायक और अन्तरङ्गा सखी-सखा जाने ।

(२) प्रकाश—जिसका भेद अपने-अपने चित्त में सब जाने ।

१-प्रच्छन्न-वियोग

कीट ज्यो घाट ल्यो कानन कान सो मानहि में कहि आवत जनो ।
ताहि चले सुनके छुप हूँ गये नीकही केशव एकहि वूनो ।
नेक अटे पट फूटत आँखि सो देखत हैं कचको ब्रज सूनो ।
काहे को काहु को कीजे परसो सुजीजे रे जीयकिनाक दै वूनो ।

२-प्रकाशसयोग

एक समय हरि राधिका आसन एक ही संग लसे रँग भीने ।
आनन्द सो तिय आनन की धुति देखत दर्पण में दृग दीने ।
लाल के भाल में बाल बिलोक्तही भरि ताठिन लोचन लीने ।
सामन पीय स्यासिन सीय दुतासन मं मनु आसन कीने ।

—केशव

रस सामग्री द्वारा शृङ्गार-रस पर दृष्टिपात

जो उदाहरण पूर्व पृष्ठा में दिये जा चुके हैं, यहाँ उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य लेकर उन पर ही विचार किया जायगा।

*काव्य में शब्दों चरण अलंकारों हृदय तथा हाथ और मुख विभाव तथा अनुभाव को समझना चाहिए। स्थायी भाव नेत्र, संचारी भाव कान के समान हैं।

काव्य के चार भेद हैं —

(१) उत्तम—जिस वाक्य में रस, व्यंग की प्रधानता, अलंकार और अर्थ कोई गुण हो वह उत्तम काव्य है।

(२) मध्यम—जिसमें रस, व्यंग-प्रधान, अलंकार और गुण हो, उसे मध्यम काव्य कहते हैं।

साधारण { (३) साधारण काव्य साधारण जिस वाक्य में रस, अलंकार और अर्थ गुण हो परन्तु व्यंग न हो।
(४) जिसमें केवल रस और गुण दो ही हों, व्यंग व अलंकार न हो, वह निरालंकार अथवा नग्न काव्य है।

इसके अतिरिक्त जिस काव्य में कोई रस नहीं वह नीरस और जिसमें कोई अर्थ नहीं वह भ्रूतकहे अतः वह काव्य नहीं। रस-नामग्री द्वारा किसी रस पर विचार करते हैं। उपर्युक्त विषयों पर भी ध्यान रखना समीचीन प्रतीत होता

पहला उदाहरण

पृ० स० २८३ स० शृ० छ० (१) करत बतकही पान ।

यह छन्द दोहा नाम का है। इसके विषम चरणों में १३ और सम चरणों में ११ मात्राएँ हैं। सन-मन शब्दों में अनुप्रास तथा मुख उपमेय, सरोज उपमान, छवि विषय और मकरन्द विषय दोनों विषय साथ देखे जाने से वस्तुप्रेक्षा उक्तास्पदा नामक अर्थालङ्कार है। पति और गति की शुद्धता के कारण माधुर्य गुण है। मन का सीताजी के रूप पर मोहित होना और अनुज से बतकही करना घटना अर्थात् वस्तु है, और आगे वस्तुप्रेक्षा अलङ्कार है। इसके द्वारा सीताजी पर रामचन्द्रजी का जो अनुराग व्यजित हुआ, वही व्यंग है। सीताजी आलम्बन विभाव, उनका रूप उद्दीपन विभाव, छवि का पान करना अनुभाव, मति सचारी भाव और रति स्थायी भाव होने से शृंगार-रस है। सीता-राम के संयोग के कारण, संयोग शृङ्गार कहा जावेगा।

इस प्रकार शृंगार-रस, प्रधान व्यंग, उत्प्रेक्षालङ्कार तथा माधुर्य-रस सम्पूर्ण सामग्री के प्रस्तुत रहने के कारण उत्तम काव्य हुआ।

दूसरा उदाहरण

पृष्ठ सं० २८४ संयोग-शृङ्गार उदा० ५

छूट्यो गेहकाज गागर उठाइवौ । रसखान ।

यह ३१ वर्ण का मनहर छन्द है। काज-लाज, पैयों गैयों और यलैयों में वृत्त्यानुप्रास और 'कहाँ लौ चन्द हाथन दुराइवौ' ने लोकोक्तिअलङ्कार है। प्रसाद गुण। चन्द्र का हाथ से न

छिप सकने से काकु द्वारा भेद का प्रकट होना व्यञ्जित किया गया है, अतः व्यंग्य है। इसी प्रकार गृह-काज इत्यादि छूटने से अत्यन्त आसक्ति ध्वनित होती है।

यहाँ पर नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव है, क्योंकि 'इन्हीं पर रस का अवलम्ब है। कालिन्दी तौर उद्दीपन विभाव है, क्योंकि यह एकान्त स्थल उन दोनों के प्रेम को उद्दीप्त करता है। मृदु मुसक्यानि भी उद्दीपन है। पैरों पड़ना इत्यादि कायिकानुभाव है। मोह-सचारी भाव है, क्योंकि नायिका और नायक को अपने अपने काम का स्मरण न रहा। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सम्मेलन से रति स्थायी हुई, अतः शृङ्गार-रस है। नायिका तथा नायक परस्पर एक दूसरे की बलैयाँ ले रहे हैं, पैरों पड़ रहे हैं, इसलिये सयोग-शृङ्गार हुआ। सम्पूर्ण छन्द पर विचार करने से यह उत्तम काव्य है।

तीसरा उदाहरण

पृष्ठ २=६ वियोग शृङ्गार उदा० १—रा० च० मानस

यह चौपाई छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्रार्थ हैं। "नूतन किशलय मनहुँ रुशानू" में उत्प्रेक्षा अलङ्कार, "काल निशा सम निशि शशिमानू" में आर्थी उपमा। इस प्रकार यहाँ उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की चमत्कारिक छटा है। प्रसाद गुण है। पुष्पो आदि का अग्नि इत्यादि कल्पित करने से अधिक व्याकुलता व्यञ्जित होती है।

यहाँ पर मीठा विभाव, रुशानु, निशि, शशि,
मानु इत्यादि उद्दीपन महाराज

शृङ्गार में पूर्वानुराग समझना चाहिए, यह अनुराग नायक के चित्र दर्शन से उत्पन्न हुआ है, अतः चतुर्दर्शन में यह चित्र-दर्शन हुआ।

छठवाँ उदाहरण

पृ० २६५। मध्यमान। उदा० १—देव

यहाँ नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव है, क्योंकि यह रस के अवलम्ब है। सौति का नाम उद्दीपन है, क्योंकि इसके द्वारा रस उद्दीप्त होता है। पट तानकर सोना, 'अश्रु तथा निश्वास' यह कायिकानुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस का अनुभव होता है। चिन्ता तथा विषाद-संचारी भाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्मेलन से 'रति' स्थायी हुई है, इस प्रकार शृङ्गार-रस की सिद्धि हुई। और चूँकि मान द्वारा उक्त प्रेमी तथा प्रेमिका का कुछ बड़ी तक वियोग हुआ है, अतः वियोग-शृङ्गार हुआ। यह वियोग मान द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः मान वियोग कहना चाहिए। इस मान के होने का कारण नायक द्वारा अन्य स्त्री का नाम लिया जाता है, अतः मध्यमान हुआ।

सातवाँ उदाहरण

पृ० २६८ भूत-प्रवास। उदा० १—पद्माकर

यहाँ नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस आलम्बित है। राग, वाग, धन तथा तारापति रस को उद्दीप्त करते हैं, क्योंकि इनके द्वारा वियोग का कष्ट और

भी बढ़ता है, अतः उद्दीपन विभाव है। रात-दिन अश्रु प्रवाह का होना सात्विकानुभाव, प्रथम सयोग सुख सम्बन्धी स्मृति मानसिकानुभाव और पुराने सयोग की स्मृति तथा उस स्मृति द्वारा "सयोग तथा वियोग में से एक ही होना चाहिए था" ऐसा निष्कर्ष निकालने में स्मृति तथा मति संचारी भाव हुए, इसी प्रकार वियोग से विपाद का होना विपाद संचारी है। वस, इन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के सयोग से "रति" व्यापी भाव स्थिर हुआ, अतः यहाँ शृङ्गार-रस की निधि हुई। वह शृङ्गार, वियोग शृङ्गार है, क्योंकि यहाँ नायिका तथा नायक का पृथक् प्रवास निश्चित है, और वह प्रवास भूतकाल में हो चुका है, इसलिये वियोग शृङ्गारान्तर्गत भूत प्रवास नामक भेद निश्चित हुआ।

आठवाँ उदाहरण

पृष्ठ २६६। भविष्य प्रवास। उदा० ३—पद्माक्ष

यहाँ नायिका (शशि-मुखी) और नायक (नन्दनन्द) आलम्ब्य विभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा रस आलम्बित हुआ है। 'रमात्मन' और 'पूरण-प्रेम' रस को उद्दीप्त करते हैं, अतः उद्दीपन विभाव हैं। 'दिवस का चन्द' होने से अभिप्राय कांक्षित का लोका होना है, अतः वैचर्य-सात्विक भाव हुआ, इसी प्रकार निरूपित रहे नन्दनन्द में सात्विकानुभाव है। मोह तथा लड़ता संचारी भाव है, वाग्य नायिका का भाव शृङ्गारि

ना अनुचित न होगा कि मनुष्य की तरह हसनेवाला अन्य
 भी कोई नहीं ! क्योंकि पशुओं की हसी में बुद्धि की मात्रा
 ही है, और न उनके हसने के वैसे नियम ही हैं, जैसे मनु-
 ष्य के। फिर भला कैसे कहा जा सकता है कि उनका यह जीव-
 प्रयोगी द्रव्य उनसे अपहरण कर लिया जाय। मानव-समाज
 म्यन्धी विनोद के नियम बड़े ही महत्व के हैं। वैद्यक विज्ञा-
 नानुसार स्वास्थ्य सुधारने के लिए हास्य परम प्रयोजनीय
 स्तु है। हास्य मनुष्य के अनेकों कष्टों का विनाश करता है।
 मन-चित्त के मनोरंजन के लिए इससे उत्तम और सहज
 पद दूसरा नहीं है। सम्पूर्ण दिन के अविश्रान्त तथा अनयक
 परिश्रम जनित व्याधियों के दूर करने के लिए यह रामबाण
 औषधि है। यह रस मानवी-जीवन में एक प्रकार के नव जीवन
 का संचार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। यह दीर्घल्य,
 मन्द तथा आलस्यादि रोगों का विनाशक है। यही कारण है
 कि आदि कवि चारमीकजी, कविकुल गुरु-कालिदासजी तथा
 हमारे हिन्दी कवि कुल-कमल-दिवाकर महात्मा तुलसीदासजी
 भृति महाकवियों तक ने इसे आदरणीय समझ उसे अपने

इसके अतिरिक्त नाटको में हास्य-रस के पोषण के लिये 'विदूषक' का प्रवेश करना आवश्यकीय ही नहीं किन्तु परमोपयोगी चतलाया गया है।

अब नीचे इस रस के उदाहरण दिये जाते हैं। उदाहरण —
 कोड मुग हीन विपुल मुख पाहु । बिनु पद कर कोड बहु पद-माहु ॥
 विपुल नया कोड नयन विहीना । रिष्ट पुष्ट तन कोड अति छीना ॥
 शिरहि शम्भु गण करहि सिगारा । जय मुकुट अहि मोर सँभारा ॥
 कुडल ककण पहिरे व्याला । तन विभूति पद केहरि छाला ॥
 शशि ललाट सुन्दर शिर गगा । नयन तीन उपवीत भुजगा ॥
 गरलकठ उर नर शिर माला । अग्नि जेप शिरधाम कृपाला ॥
 कर त्रिशूल अह डमरु विराजा । चले वृषभ चडि बाजहि बाजा ॥
 देखि शिरहि सुरतिय मुमकाहीं । गर लायक दुलहिन जग भाहीं ॥

पियूष कहा अस निहँसि तब, बोलि सकल दिशिराज ।

गिलग पिलग होइ चलहु सन, निज निज सहित समाज ।

चरु, अनुहार बरात न भाई । ईसी करइहा पर पुर जाई ॥
 पियूष, पचन सुनि सुर मुमकाने । निज निज सेन महित निलगाने ॥
 जस दूल्हा तस बनी बराता । कोनुक विविध होइ मग जाता ॥
 शिव समाज जब देखन लागे । निडर चले बाहन सप भागे ॥

×

×

×

सुनि सुनि वचन लखन मुसकाने । बोले परशुघरहि अपमाने ॥
 बहु धनुहों तोरे तरिकाई । कहुँ न अस रिस कीन्ह गुसाई ॥
 इहि धनु पर ममता केहि देव ।

बिहँसि सपण बोले मृदुबानी । अहो सुनीग महा भट मानी ॥

या तो कहूँ कोई बहुरूपिया तलास कर,

मील लेतीं हम सन कूपर बनाइये ।

—गवालकवि

हँसि-हँसि भजै देखि दूलह दिगम्बर को,

पाहुनी जे आवैं हिमाचल के बछाह में ।

कहे पदमाकर सु काहु सौं कहे को कहा,

जोई जहा देखैं सो हसेई तहाँ राह में ।

मगन भयेई हँसै नगन मोहय ठाढ़े,

ओर हँसे एक हँस-हँस के उदाह में ।

शीघ्र पर गगा हँसै भुजनि भुजगा हँसै,

हँस ही को बगा भयो नगा के दिनाह में ।

X

X

X

लोचन अक्षम अग भक्षम चिता को लाइ,

तीनों लोक नायक सौं कैसे के ठहरतो ।

कहे पदमाकर बिलोकि इमि दग जाके,

वेदहु पुराण गान कैसे अनुसरतो ।

बाँधे जटानूट डेठे परबत कट माँहि,

महा कालकूट कहौ कैसे के ठहरतो ।

पाँवे नित भगै रहै प्रेतन के सगै ऐसे,

पूछतो को नगै जो न गगै शीघ्र धारतो ।

—पद्माकर

कबै आप गये थे रिसाहन बजार घीच,

कबै चोलि जुनहा बुनाये दरपट से ।

नटजी की कामरी न काहु चमुदेयजी की,

नीन हाथ पदुता लपेटे रहै कटि मे ।

मोहन भनत यारम राखरो बडाई कहा,

राखि लीही आनि यानि ऐसे नटखट में ।

गोपिन के लीहे तब चीर चोरि-चोरि अर,

जोरि-जोरि तेन लागे द्रापणी के पदसे ।

—मोहन

रूप म कसर नाहि राग म कसर नाहा,

लाग म कसर नाहि लाजहु की घेरी हूँ ।

रग म कसर न कसर हे उमगहु में,

प्रण के प्रमदहु म परम पनेरी हूँ ।

“गाल कनि हान में न भाय म कसर यहा,

चान म कसर न चलाक गहुतेरी हूँ ।

नील हूँ उमर उधा ! काहु के न कूरु यै

नाइन न जाति अर काहु की त घेरी * ।

—गालकहि

सूम पतनी सों कहे सुनु सपने की वान,

अरथ कहानी रात परगुम हागता ।

चोटी म परग ता निमि गाड के धगेता ताहि,

मन म रिचाहि गोरि हाय के निरगता ।

इतने म आये किरान छक ताहि ममे,

पढो तो कवित गी तो गीरो अनुमार तो ।

हो तो कुल नाम उडे चेठन के भाग अरी,

जाग न पगे तो मै रुपैया देइ टगेतो ।

X

X

X

पोग के निवार दत घर सजे गारि दत,

* मातुन के दोष दत श्रीलि ना चाम ह ।

मगन को ज्वाब देत नात कहै रोइ देत,

लेत-देत भोज देत ऐसे निबहत है ।

रागेहु के मन्द देत नारनकी गाठि देत,

पर्दानि की काछ देत देतई रहत है ।

पतेहु पै सरे कहै दाउ कट्ट देत नाहीं,

दाऊजू ता आठो जाम देतई रहत है ॥

X

X

X

जोयन रूप निसालरतो बहु मोजकगी हम तारन में ।

चन्द्रमुखी मृग नैनन के नितही अधरामृत चादन में ।

हाय जरा तरमाय रही जिय लारनहु अभिलारन में ।

काम रणो रस भाखा में अर हौंस रही इन आखन में ॥

चन्द्रमुखी जोई घेरे रहै नहि देर करें मन राखन में ।

हाय बुढाप म नावा कहै अरु देत उढाय मजाखन में ।

बार भये सित गाल गये पचि डेपि लजात सनाखन में ।

या सन एकहु साए नही तड हौंस रही इन आदन में ॥

X

X

X

प्राय के पा निसारत ओठ हैं वैठि सभा में मने अलगेला ।

घोती किोरी की सारी सी ओढत पेटनढाय कियो जम थैला ।

‘ब्रह्मगुपाल’ बखानि कहे सुनो भूप कदाय बने फिरे छेला ।

सागि करैं बडी माहिनी की अरु डान में देत एक अवेला ॥

X

X

X

वेद को वेद गुनी को गुनी टग को टग टूमक को मन भापै ।

फाग को फाग मराल मरालको कोंध गधा को गधा खुजलावे ।

‘हृण्ण’ भन बुन को बुन ल्यो अर रागी को रागी मिलेसुरगापै ।

जानी सो जानी कने चरचा लगरा के दिँगा लगरा सुलपावै ॥

मिर लग लई मालचली बागर के हलके,

भये हमायें गाइ गई जिनके संग चलये ।

अकनर करी अजाच जहागिर भात लयायो,

शाहजहाँ समरत्थ पीठ को भार छुड़ाया ।

नन्दन वन बिहरत रही भागी फिरै मियार डर,

परिवार यार उद्धार करि अरु आई कनि 'साल' घर ॥

रति बन्दा कर जोरि के, सुनत श्याम के वन ।

भये हँसैंहे सननि के, अति अनखँहैं नेन ॥

ढोना पात बँवर को, तारु तनिक पितान ।

राजा जू करने लगे, छठें छमासे दान ॥

परतिय दोष पुरान सुनि, हँसि सुलझी सुल दानि ।

फन कर राखी मिथहु, सुहि आई सुसकानि ॥

चित पितु घातक दोष लारि, भयो भये सुत मोग ।

फिरि हुलसो जिय गोयसी, ममभो जारज जोग ॥

कर मूसर नाचत नगन, लखि हलधर काँ स्वँग ।

हनि हँसि गोपी फिरि हँसै, मनु पिये, सी भाँग ॥

अति उदार करतिशार सन अवध पुरी की बामा ।

सीर प्याय पैदा सुत करती पति कर कछु गहि कामा ॥

सखी पचन सुनतहि रखुनदन बौने मृदु सुसकार्त ।

अपनी चान छिपावहु प्यारी कहहु आनकी चार्त ॥

कोउ न जनम मातु पिता बिनु बँधी बढ की नीनी ।

तुम्हरे तो मदि से सन उपजै अत हमरे नहि रीनी ॥

यह सुनि भगत लषण रिसुसूदन हँसे सफल द तारी ।

मिद्धि आदि सन राजकुमारी तेउ अति भइ सुगारी ॥

बापाजी बुलाय धीर दू गरा के डाकरा ने,

जमन को आसन बँधेन के बिझायेरी ।

ओडे ओडे ऊदला महेरी के सपोर्टि गये,

भारि गये कोर रोडभाल भरे सायेरी ।

ओडो न गजर भक्त नेकहु नँदोगिया में,

रौथि-रौथि स्तुती दरभुजिया अघायेरी ।

मतन के रेगड जो चमरा चरानत है,

शकर सौ बानेन्द वेदुआ कहायेरी ॥

—शरद

आठ मास पीते जिजमान, अन्ननो करो रूचिना दान । हरि गगा ॥

आजु कारिह जो रपिया देव, मानो कोटि यज्ञ करिलेव । हरि गगा ॥

मागत हमको लागे लाज, पर रपिया निग चलै न काज । हरि गगा ॥

जो कहूँ देहो बहुत खिभाव, यह फौनिड भलमसी आय । हरि गगा ॥

हँसी खुसी से रपिया देव, दूध पृत सन हमसे लेव । हरि गगा ॥

कासी पुत्र गया में पुत्र, धावा रेजनाथ में पुत्र । हरि गगा ॥

—प्रतापनारायण मिश्र

शब्दगाह्य है किसका नाम, इस कगडेसे जिन्हें न काम ।

नहीं निराम चिह्न तक रखना जिन लोगो को आता है ॥

इधर-उधर से जोड़-बेदार, लिखते हैं जो तोड़-मरोड़ ।

इस प्रदेश में ये ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

भला-बुरा छपवाये सिद्ध, धन न सही नाम ही प्रसिद्ध ।

नाटक उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं ॥

जिनके नाच-नृद का सार, बँगला भाषा का भंडार ।

येही महामहिष विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

ग्रन्थकार गुण-गण निशेष, गान नहीं कर सकता शेष ।

इसीलिये हम इस वर्णन को आगे नहीं बढ़ाते हैं ॥

हे हे प्रयकाग गुणग्राम, हे समय, हे पानन नाम ।
शतयोजन से हम यह अपना मस्तक तुम्है झुकाते हैं ॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

चली जा रस्ते रस्ते यहाँ जागी अलमस्ते ।

भागा चेली गुडकी भेली मैं जोगी ग्रन्थूत ।

यहाँ फकत हे कफनी सेली सिगी ओग विभूत ॥

चली जा नाले नाले, कि जिससे पूछ न हाले ।

करा घर मे गुलझरें, यहाँ से बीला भरे ।

× × ×
न उठती म या मोत का नामना, कहीं सोत ? मत मात का नाम लो ।

गुह्त तुमप हे मरनेगले यहाँ, तुम्हारी है मरने की बारी कहीं ?

गुह्त वहकी-वहकी न जातें करो, न साये से तुम आप अपने डरो ।

जरा मुहपे पानी के छींटा लगान, यह सन रात भर की खुमारी मिठान ।

× × ×
तुम्हारी ही खातिर है इत्तीस भोग, कि लट्ट है तुमपे जमाने के लोग ।

जो है चाहते उनपै गीकों गिमान, कोई कुछ जो बेही कहे सो मुनान ।

गही पहनो जो कुछ ॥ तुमको पन-ड, कसो थार भी बुस्त महरम के बाद ।

कग थोर कलियो का पाजामा बुस्त यह धानीडुपट्टा वहनकमिक दुस्त ।

गह दौता में मिस्मी घडी पर घडी रहे थोर आरिने ही से लडी ।

कडे से कड को गजाती फिरो, वह मेकी अदायें लिखाती फिरो ।

—गालमुकुन्द गुप्त

तुम्हारे भाई घेचारे, जुए म जो सब कुछ हारे ।

निपिन म दीन भाग घारे, भटकते हैं मारे मारे ।

न जाने कैसे है ये लोग, यहाँ हम करते हैं सुख भोग ।

रखर लें उनकी चलो जरा, कि वन में होगा हृदय दरा ।

ग्रोडे ग्रोडे ऊदला महेरी के मपोरि गये,

भारि गये मोर रोटफाल भरे सायेरी ।

द्रोडो न गजर भक्त नेकड़ नेंदोगिया में,

रौयि रौयि रूखी दरभुजिया अघायेरी ।

सतन के रेण्ड जो चमरा चरागत है,

शकर मो वानेवन्द वेदुआ कहायेरी ॥

—शकर

ग्राठ मास पीते जिजमान, अगतो करो नन्दिना दान । हरि गगा ॥

आजु कार्हि जो रपिया डेड, मानौ कांठि यक्ष कल्लिब । हरि गगा ॥

मागत हमको लागै लाज, पर रपिया नि चले न काज । हरि गगा ॥

जो कहूँ देहो बहुत लिभाय, यह कौनिय भलमसी आय । हरि गगा ॥

हँसी खुसी से रपिया देन, दूध पूत सन हमसे लेन । हरि गगा ॥

कासी पुत्र गया में पुत्र, बाबा रेजनाथ में पुत्र । हरि गगा ॥

—प्रतापनारायण मिश्र

शब्दशाल्य है किसका नाम, इस भगडेसे जिन्है न काम ।

नहीं निराम चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है ॥

इधर-उधर से जोड़-बँटोर, लिखते हैं जो तोड़-भरोड़ ।

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

भला-बुरा छपवाये सिद्ध, धन न सही नाम ही प्रसिद्ध ।

नाटक उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं ॥

जिनके नाच-कूद का सार, बँगला भाषा का भंडार ।

वेही महामहिष विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

ग्रन्थकार गुण-गण निजोप, गान नहीं कर सकता शेष ।

इसीनिये हम इस वर्णन को आगे नहीं बढ़ाते हैं ॥

सुनि ननगन की रमीली उक्ति युक्ति भरी,

हंस वह बोली गिरा निव्य ही मो न्यारी ह ।

“गय न जनाथा श्याम ! जॉय कर शेल घरे,

रात्रिका का अग मो क्या शक्ति ना तुम्हारी ह ?”

ललिता की चातुरी से लज्जा ओर दर्प भरी,

युगलकिशोर जोड़ी रन्क हमारी हे ।

—मैथिलीशरण गुप्त

×

×

×

बेल बाँधि याहन वसन का मयन्द लाल,

भाग ओ धनूरे का पसारि गेत अचले ।

घर की हवाल यहै शकर की गाल कहे,

लाज रहे कैसे पूत मोरक को मचले ।

—सुदन

×

×

×

अर्जुन को यों उत्तर देकर उत्तर रथ से उतर भगा ।

तब ने उमे पकडने दोडे मन में कुछ कुछ क्रोध जगा ।

तत्क्षण दुरोधन के दल में अद्भुत हास यो भास हुआ ।

चंचल करता हुआ जलत्रि को मानो इन्द्र विकास हुआ ।

—मैथिलीशरण गुप्त

रस सामग्री द्वारा हास्य-रस पर दृष्टिपात ।

पृष्ठ ३१७ उदाहरण १

यहाँ महादेवजी के गण आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि उनको देखकर हँसी आती है। उद्दीपन उनके शरीर की असम्यक्ता, कुरूपता और विकृति इत्यादि हैं, क्योंकि इनके

2011

वहाँ है निर्मल नीर भरा, ओर मृगया के योग्य धरा ।

गङ्गुनि की सुनि यो गूढ गिरा, हँसा दुर्योवन हठी निरा ।

“खनक की तुमने झूठ कही, उचित है मामा हर्म यही ।

पिता की आज्ञा किन्तु रही, वहाँ मृगया ही मुख्य मही ।”

कर्ण ने कहा — “वन्य लज्जी, एक ढेले में दो पत्नी” ।

चिकट यह तीन तिकट मिलके, हँसा फिर तिल-तिल कर तिलके ।

—मैथिलीशरण गुप्त (वन वैभव)

यमुना किनारे शिला ऊपर प्रसन्न चित्त,

बैठा तैर एकबार राधासुकुमारी को ।

त्रिपे-त्रिपे श्याम आये मूँटने प्रिया के हग,

होगई परन्तु ज्ञात सारी घात प्यारी को ।

तब हँस घोली “चलो देरी चतुराई” रहे,

उचे कियेहाथ तथा भेंटने चिट्ठारी को ।

×

×

×

हिले-डुले थे बहुत कुछ चला न एक प्रयत्न,

दो दो हग रहते हुए कौन वनेगा अन्ध ?

×

×

×

थे शिपके दो गण वहाँ विदित जिहँ था भेद,

घोले थे हँसकर उचन उनको देल सखेद ।

“कौन देश थे हे भला आप मिलजुग भूप ?

भरो तो जाकर जरा दर्पण में निज रूप” !

×

×

×

घोले गिरधारी राधिका को देखि ललिता से,

“तू भी दे सहारा सखी ! शैल बडा भारी है” ।

नहीं, मुसकराना अनुभाव है। हर्ष तथा चपलता इत्यादि, लक्षारी भाव हैं, क्योंकि इनका रस में सर्वत्र संचार है। वस उक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से “हास” स्थायी हुआ, अतः हास्य रस सिद्ध हुआ।

पृष्ठ ३१७, पंक्ति १३

यहाँ शिवजी का समाज आलस्यन विभाव है, क्योंकि हसी का कारण वही है। विष्णु के वचन उस हास को उद्दीप्त कराते हैं, इसलिये उक्त वचन उद्दीपन विभाव है। सकल दिशिराज को बुलाना, विलग विलग होकर चलने को कहना तथा यह कहना कि “हसी करइहो पर पुर जाई” अनुभाव है, क्योंकि इनसे हास्य का अनुभव होता है। इन सम्पूर्ण बातों में हर्ष संचार कर रहा है। अर्थात् विष्णु ने लोगों के हर्षित करने, शिवजी के हर्षित करने तथा स्वयं हर्षित होने के लिये ही उक्त वचन कहे हैं, अतः हर्ष-संचारी या व्यभिचारी भाव हुआ। विष्णु महाराज के कहते ही लोगों ने अपना-अपना समाज पृथक् पृथक् कर लिया, इसलिये यहाँ, उत्सुकता-संचारी भी है। इस प्रकार आलस्यन, उद्दीपन, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से “हास” स्थायी हुआ। अतः यहाँ हास्य रस की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३१८, पंक्ति ७

यहाँ परशुराम जी महाराज आलस्यन विभाव हैं, क्योंकि उन पर ही हास्य का अवलम्ब है। लक्ष्मणजी की ऊट पटाग

आरा हँसी उड़ीत होती है। उनकी उक्त दशाश्रों द्वारा उत्पन्न व्योचस्वर से हसना जो हास्य का अनुभव कराता है अनुभाव तथा हर्ष-संचारी भाव है। इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मिलने से “हास” स्थायी हुआ, अतः हास्य रस है।

पृष्ठ ३१७ पक्ति १२

यहाँ शिवजी आलम्बन विभाव है, क्योंकि उनके कारण ही देव स्त्रियाँ मुसम्माई हैं। उनके विचित्र शृङ्गार हैं। यथा— “जटा मुकुट तथा सपाँ का ही मौर है, कानों में सपाँ ही के फुल्ल हैं, सपाँ के ही ककणों से रर विभूषित है। तन पर विभूषित लपेटी हुई है। व्याघ्र चर्म के घेर हैं। ललाट पर चन्द्रमा है, शिर पर गंगा है, तीन नेत्र हैं, सपाँ का यशो पवीत है, कंठ में विष और गले में नर-मुड-माल सुशोभित है। हाथ में त्रिशूल और डमरु है। और आपकी सवारी में वृषभ है। ” उक्त सम्पूर्ण वशाएँ हास्य को सुदृढ़ तथा पुष्ट करती हैं, क्योंकि अनहोनी सी बातें हैं। अशिव वेप तथा “वर-जायक दुलहिन जग नाहीं” यह अनुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस का अनुभव होता है। अर्थात् प्रथम तो यह कहा गया कि इनका नाम तो शिव (कल्याणकर्त्ता) है, किन्तु वेप अशिव अर्थात् अमंगल रूप है, इससे हँसी का अनुभव हुआ। इसी प्रकार दूसरे वाक्य से ध्वनि द्वारा या व्यङ्ग्य द्वारा शिव की रतनी दुरूपता दिखाकर कि इनके योग्य ससार में कोई कन्या ही

अतः यह सचारी भाव है। उस इन विभाव, अनुभाव, सचारी भावों के संयोग से 'हास' स्थायी हुआ। अतः यहाँ हास्य-रस है।

पृष्ठ ३२०, पंक्ति २१

यहाँ कृष्ण आलस्यन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस आलस्यन हुआ, यदि यहाँ श्रीकृष्ण का आधार न होता तो रस ही आलस्यन न होता। "आप बाजार में कपड़ा बिसाहने गये थे?", "आपने पटों के बुनने के लिये जुलाहे कब बुलाये थे?", "नन्दजी के पास तो एक कमरी भी नहीं है?" और "नन्दजी केवल तीन हाथ की पटुकी लपेटे रहते हैं"—इन वाक्यों से हास्य सुदृढ़ होता है और यही वाक्य उक्त हास्य को उत्पन्न करनेवाले हैं। अतः यह उद्दीपन विभाव हुए। "गोपियों के चौर चुरा चुराकर द्रौपदी के चौर में जोड़ दिये, इसमें आपकी क्या बड़ाई है?" यह वचन अनुभाव हैं। क्योंकि इनसे रस का अनुभव होता है। 'हर्ष' इस रस में संचार कर रहा है, अतः यह सचारी भाव है। वस उक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भाव मिलकर 'हास' को स्थायी करते हैं, अतः यहाँ पर "हास्य-रस" की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३२२ उदाहरण २

यहाँ बुड्ढा (वक्ता) उद्दीपन विभाव है, क्योंकि बिना उसके रस का आलस्यन नहीं हो सकता। बुड्ढे के असंगत वचन यथा 'चन्द्र-मुखी घेरे रहै 'मजाखन में उडावे' इत्यादि

वातें हास्य को उद्दीप्त करती हैं, लक्ष्मणजी का यह कहना कि “चहत उडावन फूँकि पहारा” “इहाँ कुम्हड धतियाँ कोउ नाहीं”, “देखि कुठार शरासन बाना । मैं कहु कहा सहित अभिमाना” इत्यादि वचनों को सुन सुनकर हास्य अति सुदृढ़ होता है। लक्ष्मणजी का हँसकर बोलना, “मारत हूँ पाँ परिय तुम्हारे” इत्यादि वचन जो हास्य का अनुभव कराते हैं अथवा उपरोक्त विभावों के कार्य-स्वरूप हैं, अनुभाव हैं। हर्ष (जो उनके वचनों द्वारा उपस्थित जन-समूह के मानस में तरंगित होने लगा), चपलता (जो लक्ष्मणजी के कथन में पद-पद पर प्रदर्शित होती है) और “गर्व” यह संचारी भाव हैं, क्योंकि सम्पूर्ण रस में वह संचारित हो रहा है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “हास” स्थायी भाव हुआ। और “हास्य-रस” की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३१६, पंक्ति १६'

यहाँ ऊधो के यार (कृष्ण) आलम्बन विभाव है, क्योंकि कृष्ण पर ही रस का अवलम्ब है। गोपियों के वान्म्य जो उन्होंने व्याज से कहे हैं, यथा—कृष्ण को कहा, वह बड़े “रिझवार” हैं—यह उद्दीपन विभाव है? ‘नीके’ श्याम कहना भी उद्दीपन विभाव है। “पीठ पर एक-एक हॉडी बाँधि” “बहुरूपिया बुलाय सीख लेती कूबर बनाइचौ” इत्यादि वचनों से हास्य का अनुभाव होता है, अतः यह अनुभाव हुए। उक्त वान्म्यों में हर्ष और चपलता का सर्वत्र संचार हो रहा है,

संचारित होने के कारण संचारी भाव है। अतः उक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्मेलन से 'हास' स्थित हुआ, और इस प्रकार 'हास्य रस' की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३०६, उदाहरण २

यहाँ रात्रिका तथा कृष्ण आलम्बन विभाव है, क्योंकि उन पर रस का अलम्बन है। यदि उक्त दम्पति न होते तो रस के लिये कोई कारण हो न था। श्याम का छिपकर प्रिया के दृग मूढ़ने को जाना तथा प्रिया का इस कृत्य को जान लेना उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इससे रस उद्दीप्त होता है। "चलो देगी चतुराई रहो" यह वाक्य अनुभाव है, क्योंकि इससे रस का अनुभव होता है। 'हर्ष' इस छन्द में सर्वत्र संचार कर रहा है, क्योंकि 'कृष्ण का चहाँ जाकर रात्रिका की आँखें बन्द करने के इरादे में', 'रात्रिका के उक्त भेद जान लेने में' और 'रात्रिका के उत्तर देने में' सर्वत्र ही उसकी तरंगें उठ रही हैं, अतः ये संचारी भाव हैं। उस इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से 'हास' स्थायी हुआ। अतः यहाँ 'हास्य रस' है।



वाक्य रस को दृढ़ करते हैं, अतः यह उद्दीपन विभाव है। “या खन एक हुआ नही, तउ हाँस रही इन आँखिन में” इस वाक्य से हास्य का अनुभव होता है, अतः यह अनुभाव है। ‘हर्ष’ और ‘उत्सुकता’ उक्त छन्द में सर्वत्र संचारित है, क्योंकि बुद्धि की बातें आमोद-प्रमोद का ज्ञान कराने ही का लक्ष्य लेकर कथित हुई हैं, साथ ही उसकी बातों में उत्सुकता तथा चपलता की भी भावना है, अतः यह सब संचारी भाव हैं। वस इन सम्पूर्ण विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के संयोग से ‘हास’ स्थायी भाव हुआ, और इस प्रकार ‘हास्य-रस’ की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३२४ उदाहरण १

यहाँ बाबाजी आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस का अवलम्ब है, यदि यह न हो तो न कोई भोर-सपोटे और न हान स्थित हो। ‘बछेला का आसन धिछाना’, ओढ़े-ओढ़े ऊदला महेरी के सपोट जाना’—‘भोर का झार जाना’, ‘रोट्टियो की झाल ग्या जाना’ तथा ‘दरभुजिया को रुखा ही चया जाना’ इत्यादि भीषण कार्य ही उक्त हास्य को दृढ़ करते हैं, अतः यह उद्दीपन विभाव हैं। ‘शंकर सो वानेवन्द बेदुआ रुहाये गी’ यह वाक्य अनुभाव है, क्योंकि रस का अनुभव कराते हैं। अर्थात् बाबाजी जैसे लोगों के कार्य बतलाकर उनके चेंदुए बनने का जो मजाक उड़ाया गया है, उसका अनुभव इसी वाक्य से होता है। ‘हर्ष’ इस रस में सर्वत्र

यह मव भा इन आँखिन आगे । तट न तजत तन जीव अभागे ॥
 मोहि न लाज निज नेह निहारी । राम सरिस सुत मैं महतारी ॥
 जियर मरव भल भूपति जाना । मोर हृदय सत-कुलिस समाना ॥
 मौसित्या के रचन सुनि, भरत सहित रनरास ।

व्याकुल बिलपत राज पृष्ठ, मानहुँ सोक निरास ॥
 हा जगदीश तेन खुराया । कहि अपराध विसारेउ दायी ॥
 आरत हरण शरण सुख दायक । हा गुरुकुल-सरोज दिन नायक ॥
 हा लक्ष्मण तुम्हार नहि दोषा । सो फल पायवैं कीद जो रोषा ॥
 केकेयी मा जो पछु रहेउ । सा विधि आहु मोहि दुख दायक ॥
 पचनदी के दग भुग जाती । दर्पा भये बनधर बहु भाँती ॥
 निमिष विलाप करति नैरेही । अरि टपा प्रभु पूरि सनेही ॥
 निपति मोर के प्रभुहि सुनाव ।
 पुरोडास चह रासम पावा ।

×

×

×

सीता कर निचाप सुनि भारी । भये चराचर जीव दुपारी ॥
 सुनु जानकी तोहि त्रिनु आबू । हव सकल पाइ जनु राबू ॥
 किमि सहिजातग्रनखतोहि पाहीं । प्रिया गगि प्रगटति कस नाहीं ॥
 यहिनिप्रिनिपत रोजत स्यामी । मनहुँ महा निरही अति कामी ॥
 कणि मणिहीन दीन जिमि, मीन हीन जिमि गरि ॥
 निमि व्याकुल भये लखण तटें, गुरुर दसा निहारि ॥

×

×

×

यहाँ राम लक्ष्मणहि निहारी । चोने रचा मनुज अनुहारी ॥
 अर्द्धगति गइ कपि नहि आया । राम उठाइ अनुज उर लाया ॥

उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन, उनके गुणों, स्वभाव तथा रंग, रूपादि का स्मरण व मनन करना इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। रुदन करना, मूर्छित होना, शिर धुनना और छाती धुनना इत्यादि कार्य अनुभाव हैं। भाग्य तथा विधाता की निन्दा करना पश्चात्ताप करना और विलाप करना इत्यादि सचारी भाव हैं, और शोक उसका स्थायी भाव है। इसका रंग कवचा कबूतर सा होता है और देवता वरुण है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

सहम मूख सुनि शीतलानी । जिमि जगाम पर पावस पानी ॥
 कहि न जाइ नहु दृश्य निपाद । मनहुँ मृगी सुनि केहरि-नाद ॥
 नयन सजल तन धर-धर कँपी । मँजहि साइ मीन जनु मापी ॥
 चलत राम लपि अनेव अनाथा । निकल लोग सन लागे साथ ॥
 लागत अथत्र भयात्रन भारी । मानहुँ काल राति अँवियारी ॥
 योग जनु नम पुर नर नारी । डरपहि एकहि एक निहारी ॥
 घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जम दूता ॥
 बागन निटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥
 रामराम लिय लखन पुकारी । परेव धरनि तल व्याकुल भारी ॥
 देखि दक्खि दिशि हय दिहिनाहीं । जनु विनुपख निहँग अकुलाहीं ॥

नहिँ नृन धरहि न पियहि जल, मोचहि लोचन वारि ॥

X X X
 रय हाके हय राम तन, हेरि-हेरि दिहनादि ।

देखि निपाद निपाद पय, शिर धुनि-धुनि पछितादि ॥

जासु वियोग निकल पथु ऐसे । प्रजा मातु पितु जीयदि कैसे ॥
 रामलपण मिय वनहि सिघाये । गर्द न सग न प्राण पठाये ॥

यह सच भा इन आँखिन आगे । तउ न तजत तन जीव अभागै ॥
 मोहि न लाज निज नेह निहारी । राम मरिस सुत मै महतारी ॥
 नियम मग्य भल भूपति जाना । मेर हृदय सत कुनिस समाना ॥
 कोसिल्या के बचन सुनि, भरत सहित गनास ।

व्याकुल विलपत राज गृह मानहु सोक नियास ॥
 हा जगदीश देव खुदाया । केहि अपराध निसारेउ दाया ॥
 आरत हरण शरण सुख दायक । हा खुकुल-सरोज दिन नायक ॥
 हा लम्पण तुम्हार नहि दोषा । मो फल पावउँ कोह जो रोपा ॥
 केकेयी मा जो कहू रहैउ । मो विधि आलु मोहि दूख दयज ॥
 पचरदी के राग भूग जाती । दूरी भय-वनचर यह भौती ॥
 विनिय निलाप करति नेहेही । भूँटि कृपा प्रेमु पुरि सनेही ॥
 निपति मोर को प्रभुहि सुनाई ।
 पुतोडास चह गसभ पाया ।

×

×

×

सीता कर विनाप सुनि भारी । भये चराचर जीव दुखारी ॥
 सुनु जानकी तोहि विनु आनू । हव सकल पाइ जनु राखू ॥
 किमि सहिजातमन गतोहि पाहीं । प्रिया रेगि दगदति कस नाहीं ॥
 यहिरिप्रिनिपत योजत स्वामी । मनहुँ महा गिरही अति कामी ॥
 कणि मणिहीन हीन जिमि, मीन होन जिमि गारि ॥
 निमि व्याकुल भये लख नई, खुद टला निगारि ॥

×

×

×

यहो राम लखनहि निहारी । घोरने बरा मनु अकुहारी ॥
 अर्द्धगति राद कवि नहि उगाद अजुन ख सारा ॥

सकहुन दुखित देखि मोहि काऊ । पनू सदा तुम मृदुल सुभाऊ ॥
 मम हित लागि तजेव पितु-भाता । सहेव विपिन उन आतप याता ॥
 सो अनुराग कहाँ अर भाई । उठहु बिलोकि मेर पिकलाई ॥
 जो जान्यो वन वन्दु पिछोहु । पिता उचन नहिँ मनतेउँ वोहु ॥
 सुत पिन, नारि भवन परिवारा । होहि जाहि जग नारहि पारा ॥
 अस बिचारि निय जागहु ताता । मिलहि न जगत सहोदरभाता ॥
 यथा एहु बिनु खगपति दीना । मणि बिनुफणि करिपरकर हीना ॥
 अस मम जियन वन्दु बिनु तोहीं । जो जड देन जियात्रे मोहीं ॥
 जैहो अवध कवन भुल लाई । नारि हेतु प्रिय वन्दु गँवाई ॥

— तुलसीदास (रामचरित-मानस)

दूरतें निकसी खुशीं यव वलि-जोग दये मग में डग द्वे ।
 भलकीं भरि भालकनी जलकी पट्ट सूति गये मधुराधर वै ॥
 फिरि वृकति है चलनो व कितो प्रिय पण्डुटी करिहो कित ह्वे ।
 तिय की लखि आधुरता प्रियहीं अँगियों प्रति चारु चलीं जल ख्वे ॥
 वृकत गन्ध यथोगति बात कहे पुसलात उते दोड भाई ।
 आनहिरो कव प्राण निवास उदाम सला सभ लोग लुगाई ।
 पीत पटी सरले लकुटी पर वा यमग की तथी सुपदाई ।
 केरि कहौ कव देखिहो ऊधो या वा चारत धेनु कन्हाई ॥
 बोजत बाल भराल की बालन रेलत लाल फिरै धज दोरी ।
 सोहत बाल निसाल हिये तग सोहत नीन सो पीत पिछोरी ।
 नाग सदा सिंग मोर पक्षा धरि हाथ नचावत है चक दोरी ।
 केरि कहौ कव देखिहो जाव म्याम लला बलराम सिं जोरी ॥

अरिहू दन्त नृग धरहि ताहि नहि माग सकत पेइ ।

एम् मनन नृग चरहि नचन उगारहि दीन हैइ ।

अमृत पत्र नित अर्वाहि बच्छ महि यम्भन जानहि ।
हिन्दुन मरु न देहि बटुक तुरकहि न पियावहि ।
कह नरहरि सुनि साह पद चिनवत गड जोरे करन ।
केहि अपराध मोहि मागियतु सुख चाम सेवत चरन ॥

—नरहरि महापात्र

बनियाँ हुती न मपनेहुँ माहि सुनिजे की
सुनौ जो हुती न कहिवे की सो कहोई म ।
राय नरनारी पत्नी पसु देह धारी रोवै,
परम दुखारी जासो सुलनि मोहोई मैं ।
हाय अगलाँकियो कुपयहि मोहोई निर,
हागिन दोहोई सोक सिन्धुनि बहोई मैं ।
हाय प्रान प्यार खुनन्दन दुलारे तुम,
धन के सिधारे प्रान तन ले रहोई मैं ॥
जा घर कीहे गिहार अनेकन तापर काकरी बैठि पुन्यो करै ।
जा रसना सो करी बहु वातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करै ।
“आलम” जौन से कुजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करै ।
नेनन मं झमझा गदते निनकी अन कान कहानी सुन्यो करै ॥

—आलम

‘सदसो देवकी सो कहियो ।

शोतो धाय तुम्हारे सुत का मया करत नित रहियो ।
यदपि देय तुम जानत उनकी तउ मोहि कहि आवे ।
प्रासदि उठत तुम्हारे काहहि मारन रोटी भाये ।
तेषु उपयना अरु तातो जल ताहि नेत्रि भग जाते ।

जोड़-जोड़ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि-करि न्हाते ।
 'सूर' पयिक सुनि मोहि तेन दिन यन्त्रो रहत ठर सोच ।
 मेरो अलकलडेतो मोहन ह्वे ह्वे कैरत सकौच" ।

—सूरदास

रोवहु सब मिलि के आनहु भारत भाई ।
 हा-हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥ प्रुघ ॥
 सब के पहिले जेहि ईश्वर बन बल दीनो ।
 सब के पहिले जेहि सभ्य निधाता कीनो ।
 सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो ।
 सब के पहिले निद्या फल निज गहि लीनो ।
 अब सब के पीछे सोई परत लखाई ।
 हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
 जहाँ भये शान्त हरिचन्दर नहुष ययाती ।
 जहाँ राम युधिष्ठिर पासुवे सयाती ।
 जहाँ भीम करन अर्जुन की छा दिखाती ।
 तहाँ रही फटता कलह अग्नि गती ।
 अब जहाँ देखहु तहाँ दुखहि दुख दिखाई ।
 हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
 लरि वैटिष जैन बुवाई युस्तस सारी ।
 करि कलह बुलाई जगन सेन पुनि भारी ।
 तिन नासी बुद्धि बल निद्या धन बहु नारी ।
 छाई अथ आलस जुमति बलह अंधियारी ।
 अब अब पगु सब दीन हीन मिलिवाई ।
 हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

अंगरेज राज सुय साज सजे सब भारी ।
 पे वन विहस चलि जात ईहे अति ख़्तारी ।
 ताहु पे ~~महगी~~ महगी काल रोग विस्तारी ।
 दिन दिन दूने दुख ईम देत हाहारी ।
 सय के उपर थिक्स की आकत आई ।
 हा हा ! भारत दुईया न देखी जाई ॥

—भारतेन्दु यादू हरिश्चन्द्र

लक्ष्मी—

अब लो रही फाऊ भौतिन पै अब तौ रखी न जाई ।
 सोमनाथ मथुरा धानेसर नगरकोट त भारी ।
 देव दुर्ग काशी कनौज दिल्ली सो पची बचाई ।
 गई सरस्वतिजी आधार रही दुर्गा जो परम सहाई ।
 राजमिरी जो पालनि हारी और कईक तराई ।
 नाहि गई इत सौं में अब लौं लाख निरादर प्राई ।
 पै अब ये खींचत निस्ति-बासर पश्चिम को अकुलाई ।
 दोनत रेल न थकत मोहि अरु मि-उ जहाज अघाई ।
 फल यल करि यल मोहि बुलावत तासो जात सिधाय ।

—बट्टी नारायण चौधरी

जिनके सरिका खेती करिकें, पालें मनइन के परिवार ।
 ऐसी गाइन की रखया मों, जो कछु जतन करो सो न्यार ।
 घास के बदले दूध पियावें, मरि कैं देखे हाड ओ चाम ।
 धनि यह तन मन धन जो आवै, ऐसी जगदम्मा के काम ।
 आल्हसद की पोथी ले कै, छाखा तनुक निखा कस आय ।

‘जहाँ रोसेयों है उदन के, सुखा भुगन पचारे गाय” ।
 वो अरु हिन्दू ते पेदा है, जो अरु हालु देखि मरु साथ ।
 रक्त के आसुन रोइ न उठिहै, माये पयकि दृष्ट्या दाय ।
 सय दुख सुख तो जैसे तैमे, गाइन की नहि सुनै गुहाग ।
 जय सुधि आवै मोहि गेयन की, नैनन उठै नृत्त की धार ।

—प्रतापनारायण मिश्र

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
 दुख जलनिधि झरी न मरगा कहाँ है ।
 लख सुख जिसका मैं आज लौं जी मकी हूँ,
 वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है ।
 पल पल जिसके मैं पथ को देखती थी,
 निशिदिन जिसके ही व्यान मैं थी निताती ।
 वस पर जिसके है मोहती मुक्त माला,
 वह नव नलिनी मे नैन बाना कहाँ है ।

×

×

×

गृह-गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ हैं,
 पथ-पथ फिरते हैं दुःख भी उन्मना हो ।
 जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अवीरा,
 वह खनि मुखमा का अधारा कहाँ है ।

×

×

×

परम पतित मेरे पातकी प्राण गह,
 यदि नहि अब भी है गात को त्याग देते ।
 अहह ! दिन न जाने कौन सा देखने को,
 दुःखमय तन मे न निमयो मे रहे है ।

इस कृपित हमारे तन को प्राण त्यागो,

दुख निरा नहीं तो नित्य रो-रो मरूंगी ।

× × × —हरिऔध

सहचन नारी यह मत्ताह, भई निरा है शोक महान ।

परनि को सब ओहो दुख घोर । अहै सो करुना मरतिमान ।

मृतक सी परा महीतन मारि, दया के योग भरी सत्ताप ।

प्रयहुँ जो होये सुरक्षा द्रि, करें तो अतिशय घोर विलाप ।

“कहाँ तुम गये प्राण आधार । जगत जीवन के शोभा रूप ।

गये कित स्वामी । सुख के नाम । घोरि दामीको दुखके रूप ।

हाय ! कहाँ गये हमारे छत्र । छाँड़ि ओचकहि हमारे साथ ।

हाय ! सुर नगर पसायो जाय, निठुर हँ करि हमदुखिन अनाथ ।

हमारे चूड़ामणि सिरमोर । हमारे पति सम्पति सुहाग ।

गये पिय कित शृङ्गार नसाय । अरे निर्दई दर्द ! हा भाग !

—राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

घायला फी घोर सेवा में लगी ।

ओर फिर प्रिय ध्यान में पति के परी ॥

गोलियों में शत्रु के भागी न थी ।

चोट घातफ पाय यह जागी न थी ॥

शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं ।

ये जहाँ बड़े रहे तेरे वहाँ ॥

दुख में अब घोर चित्ता छा गई ।

नियतमा बेमे यहाँ अब आ गई ॥

आगये उस काल मेनापति वहाँ ।

घोर नारी फी लची शुभ गति यहाँ ॥

गीर होकर भी हुई उनको व्यथा ।

आदि से कहने लगे उसकी कथा ॥

—कामताप्रसाद गुरु

उदासी गार निधि में छा रही थी ,

पगल भी कापती थर्रा रही थी ।

विकल गा जाह्नवी की धारि धारा ,

पटक कर सिर गिराती थी कगारा ।

घटा घनघोर तम पर गिर रही थी ,

निलसती चचला भी किर रही थी ।

न ' थे धे बूँद आँसू गिर रहे थे ,

कलेजे घादलों के चिर रहे थे ।

X

X

X -

झडी' गैब्या वहीं पर रो रही थी ,

फटी दो टूँक छाती हो रही थी ।

जलेजा हाथ ! छेँह को आरहा था ,

भरा था दर्द वह, तडपा रहा था ।

“छुटा घर पार प्राणाधार छूटे,

रहे तुम एक कुल आधार छूटे ।

तुम्हारा देखकर सुरा जी रही थी ,

नहीं तो कौन था सुख, जी रही थी ।

छुटा सब कुछ छूटे हा ! लाल तुम भी ,

छुटा सब कुछ छूटे हा ! लाल तुम भी ।

अरे उह है कहीं पर नर्प वसता ,

छुके भी क्यों नहीं है नीच डसता ।

लगाये लाल को छाती चर्चूँ मैं ,

लिये यह साथ ही थाती चर्चूँ मैं ।

जिसे मैं जान ही सा जानती थी ,

जिसे मैं देखकर मुख मानती थी ।

फँसा है हाथ ! अब यह प्राण मेरा ,

निराशा में रिपद् में प्राण मेरा ।

फँसा हो चल दिये तूम हाथ छौना

बिनाङ्गी किसे मेरे खिलोना ।

—गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही)

जब पच्चे फँसे उस जाल में जा,

तब ये घबडा उठे पन्धन में ।

इतने में कपूतरी आई वहाँ,

दया देख के व्याकुल हो मन में ।

पहने लगी, “हाथ हुआ यह क्या !

सुत भरे हलाल हुए पन में ।

अब जाल में जाके मिलूँ इनसे,

सुग ही क्या रहा इस जीव में” ।

—रूपनारायण पाँडेय

कौन भेजा दूत, पून साँ बिया सुनाई ।

यातन में बहसाइ, जाइ ताकों यहँ लावै ।

त्यागि मउपुरी सो गयो, छाडि सबनि कौ साथ ।

सात सखन्दर पै भयो, दूरि टारिका नाथ ॥

नास जाइ अक्रूर क्रूर तेरो यजमारे ।
 वातनि में दे मर्दान ले गयो प्राण दमारे ।
 क्यों न दिखावत लाइ कोउ, सुरति लभित ललाम ।
 कहँ मुरति रमनीय दोउ, श्याम आर पलराम ॥

॥ रही अकुलाइ मैं ॥

अति उदास अवन आस मध तन सुरति भुनानी ।
 पूत प्रेम सो भरी परम दरसन ललचानी ।
 मिलपति कलपति अति जचे, नहि जननी निज श्याम ।
 भगत-भगत आये तचे, भाये मन अभिराम ॥

कहत न काउ सुहृद सों विधा राम गभीर ।
 तासों दिन-दिन उदति तिन, गूढ मधन मन पीर ॥
 यथा धातु पुटपाक में, कोउ जचे धरि जात ।
 भीतर ही भीतर जरति, बाहिर बछु न लखात ॥

सियरी परी ओष कपोलन की तन म दुबराई बढी अति भारी ।
 लटकाएँ लटै निखरी मुख पे उर मोचति मोचति लोचन बारी ।
 अति दीक्षति आकुल सोगमनी करना-रस की जनु मुरति प्यारी ।
 तनधारी प्रियोग विधा सी किधौ, बन आई रही मिथिलेश दुलारी ॥

तुमही जिय प्राण सबे कछु हा तुमही मम दूजो हियो सुकुमारी ।
 तुमही तन फाज सुधा-सरिता इन नेनन कों तुमहीं वजियारी ।
 हिय भोरे की येही लई भरमाइ कै वात बनाय पियारी पियारी ।
 पुनिता सिय कों बस मौन मलो अब होन कहा कहिबे सों अगारी ॥

नम दारुन या अपमान सो तू निहचे हग नीरहि दारत होइगी ।
 सिंसु होन समै पे सिया या में कहूँ घेहद पीडा सों आरत होइगी ।
 विरि हाय अचानक सिहनि सो किमि बेरस घोरज धारत होइगी ।
 करिकें सुधि मेरी हिये में चहुँ तब 'तात ही तात' पुकारति होगी ॥

—सत्यनारायण

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा सगाद पाकर रिप भरा ।
 चिरस्थसी निर्जीव सी हो, रह गई हत उत्तरा ।
 सश रहित तत्काल ही फिर यह धरा पर गिर पड़ी ।
 उस समय दूखी भी अहो ! हितकर हुई बसको बड़ी ।
 कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दया ।
 भट दासियो ने की गई जागृत वहा यह परयया ।
 तन तपन नामक नर्क से भी यातना पाकर बड़ी ।
 विजित सी तत्क्षण शिविर से निकल कर यह चल पड़ी ।
 अपने जेना द्वारा उठा कर समर से लाये हुए ।
 प्रण-पूर्ण, निष्प्रभ और शोणित पक्ष से छाये हुए ।
 प्राणेश शन के निषट जाकर चरम दुख सहती हुई ।
 नह नम बधू फिर गिर पड़ी “हा नाथ ! हा !” कहती हुई ।

निर पीट कर सिर थोर छाती अत्रु, बरमाती हुई ।
 जुररी सदृश सकल गिरा से दैव दरसाती हुई ।
 यदु विधि विलाप प्रलाप यह करने समी उस शोक म ।
 निज प्रिय नियोग समान दुख होता । कोई लोक में ।

—जयदय-चध, (मैथिलीशरण गुप्त)

फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था मुदित जिनको खींच के,
 ले दाढ़िने कर मं यही निज केश लोचन मोंच के।
 रखकर हृदय पर नाम कर गर पिङ्ग-हरिणी समहुई,
 मोली विकलतर द्रौपदी राणी महा करुणा भरी।
 “करुणा सदन ! तुम कौरवों से सन्धि जन करने लगे,
 चित्ता ज्यथा मन पाण्डवों की गान्धि कर हर्ने लगे।
 हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा,
 हे प्रार्थना मत भूल जाना याद रखना सर्वथा”।
 कहकर उचन यह दुःख में तब द्रौपदी रोने लगी,
 नेत्राम्बुमारा पात में कृग अग निज धोने लगी।
 हों द्रुपति करके अगण उसकी प्रार्थना करुणा भरी,
 देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी।

सदा को सो गया स्वामी सुख-सर्वस्व खोगया।
 हुआ ससार निस्तार भार जीवन होगया।
 शुष्क सी हागई जाया धूल मं है सनी हुई।
 रोती प्रयोगिनी जाया योगिनी सी बनी हुई।
 रुद्ध गद्गद बाणी है मुक्त केश फलाप है।
 जेहों में कल आरुहे चित्त में सौत्रण्य साध है।

कह “हा नाथ ! हा नाथ !” रोती या यह दीखती।
 मानो सन्तापयाला में मृत्यु का पाठ सीखती।
 “छुफे छोड़ यहाँ योही कहाँ तुम चले गये।
 सपना अन्मराओं ने क्या प्राणेश ! छल गये” ?

अपना ये किसी का ये छोड़ना ठीक है नहीं ।
जोड़ ये गहरा नाता तोड़ना ठीक है नहीं ।
“ठहरो, शीघ्रता पया है, सुभ लेते न साथ क्यों ?
हा ! यहाँ न रहेंगी मे दोबे नाथ ! अनाथ यों ।

हा ! पुत्र पोत्र निर्हान अग मैं सोच किस किसका करूँ ?
मिलता नहीं ह मागन से मृत्यु भा जा म मरूँ ।
देता जिन्हें कर था अहा ! नृपगण रिनय से नष्ट हुआ ।
जीती हुईं मे देखता हूँ निन सुतो को हत हुआ ।
केवल इस पुरनय काही नाश फटना नृल है ।
हा ! छोड़ उका इस युद्ध में सब नश नष्ट समूल है ।
कुछ धीरवों की ओर मे कुछ पाण्डवों की आर से ।
हत होगये हे नीत सन ये नान धम फठा से ।

—मैथिलीशरण गुप्त

रस-सामिग्री द्वारा करुणा-रस पर दृष्टिपात ।

उदाहरण पहला छंद १०

पृष्ठ ३३७ वहाँ रामलक्ष्मणहि निहागी नारिहेतु प्रियनधु गँवाई॥
यहाँ लक्ष्मणजी का मूर्छित हो जाना ही आलम्बन विभान है , क्योंकि यदि लक्ष्मणजी मूर्छित न होने तो शोक का कोई कारण ही न था, इसलिये रस का अवलम्बन होने के कारण ही “लक्ष्मण की मूर्छित अवस्था” आलम्बन विभाव हुई । उन (लक्ष्मणजी) का मूर्छित-शरीर, आँखों रात तन् कपि +

ना, लक्ष्मणजी के स्वभाव गुण स्मरण (यथा .—‘भुक्त को भी दुःखित न देख सकना’ ‘मेरे लिए माता पिता तज दिये’ ‘मृगहार स्वभाव सदैव मृदुल था’ ‘वन के दुःखों को सहा’ ‘वस्तुएँ मिल सकती हैं, किन्तु सहोदर भ्राता उपलब्ध नहाता’ इत्यादि) उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनसे शोक और भी बढ़ जाता है। और विषाद, निन्ता, मोह तथा दीनता संचारी भाव हैं। ‘अर्द्ध रात्रि गई कपि नहीं आया’ वाक्य द्वारा चिन्ता पैदा होती है। हे भाई उठो, जागो इत्यादि वाक्यों द्वारा व्यापक संचारित हुआ है, “जो मैं ऐसा जानता पिता के वचन न मानता” इत्यादि पश्चात्ताप के वाक्यों से मोह की सिद्धि हुई और ‘दीनता’ तो राम के कथन में सर्वत्र ही व्यापक है। लक्ष्मणजी का उक्त वाक्यों द्वारा विलाप करना अनुभाव है, क्योंकि इससे रस का अनुभव होता है। वस उक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्मेलन से ‘शोक’ स्थायी हुआ। अतः करुणा रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण आठवाँ

शृ० ३३६ सदिसो देवकी सौ कहियो मोहन है करत संकोच ॥
कृष्ण का असह्य वियोग ही आलम्बन विभाव है क्योंकि इस ही रस, आलम्बित होता है। कृष्ण की टैव, यथा—प्रातः उठते ही रोटी और माखन माँगना, तेल, उबटना और ताजल देखकर भाग जाना इत्यादि कृष्ण कृत पूर्व लीलाएँ, रस को उदीप्त या दृढ़ करती हैं, अतः उद्दीपन विभाव हैं।

उस समय पथिक से उक्त बातों के कहने में जो अश्रु इत्यादि कार्यों का निवाह हुआ होगा, कि जिनसे उक्त रस का अनुभव हुआ अनुभाव है। 'श्याम लकोच करता होगा' तथा 'मोहि रेन दिन बढ्यो रहत उर सोच' इत्यादि वाक्यों से 'चिन्ता' तथा 'विपाद' का संचार होता है। कृष्णकृत पूर्व लीलाओं का पुन ज्ञान होने में 'स्मृति' का संचार हुआ है और "मैं तो तुम्हारे पुत्र की धायमात्र हूँ" इत्यादि वाक्यों द्वारा 'दीनता' प्रदर्शित होती है, अतः चिन्ता, विपाद, स्मृति और दीनता यह संचारी भाव हुए। वस उक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से 'शोक' स्थायी हुआ। अतः उक्त काव्य में करुणा-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण नवाँ

पृष्ठ ३४०-रोवहु सब मिलि के भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

भारत दुर्दशा आलम्बन विभाव है, क्योंकि इस पर रस आलम्बित होता है, यदि यहाँ भारत का कथन न हुआ होता तो शोक का कुछ आधार ही न था। धन, बल तथा सम्यक्ता की हानता, भारत का रग, रूपादि में अग्रसर होना, अग्र सर के पोछे रहना, भीम इत्यादि बलशाली, प्रतिभावान और पेश्वर्यशाली पुरुषों के स्थान में अग्र मूढ़ता का नियाम, जैन-वेदिक मनोमालिन्य के कारण साहित्य का विनाश इत्यादि कार्य उक्त शोक को और भी सुदृढ़, विस्तृत तथा उद्दीप्त करने-वाले हैं, अतः उद्दीपन विभाव है। रोना, हा हा करना

विलम्बना इत्यादि कार्य 'शोक' का अनुभव कराते हैं, अतः 'अनुभाव' है। विपाद तथा दीनता इत्यादि संचारी भाव हैं, क्योंकि उक्त काव्य में सर्वत्र ही इनका सूचार हुआ है। वस उपरोक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से शोक स्थायी हुआ। अतः करुणा-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण बारहवाँ

पृष्ठ ३४२ प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा नित रो-रो मरूँगी ॥

यहाँ प्राण प्यारे (पुत्र-कृष्ण) का वियोग आलम्बन विभाव है, क्योंकि शोक इसी पर आलम्बित है। कृष्ण का सौन्दर्य, यथा 'नवनलिनी से नयन' इत्यादि, उनके वस्त्राभूषण की स्मृति यथा 'गले में मुक्तमाल का सोहना' इत्यादि, उक्त शोक को और भी दृढ़ करते हैं, अतः उद्दीपन विभाव हैं। अश्रु, वैवर्ण्य, इत्यादि कार्य 'अनुभाव' हैं। क्योंकि कृष्ण के वियोग से उसका शरीर अत्यंत कृश तथा पीला पट गया है, साथ ही वह रो भी रही है, इससे शोक का पूर्णानुभव हुआ है। विपाद, चिन्ता, मोह, स्मृति, उत्सुकता और दीनता इत्यादि संचारी भाव हैं। 'विपाद' कृष्ण की लीलाओं को न देख सकने और, उनके वियोग के कारण हुआ, 'स्मृति' उनके पूर्व कृत कर्मों के स्मरण होने से है। 'चिन्ता' उनके मिलने की है। 'मोह' उनके वियोग का है, जिसके कारण गोपियों तथा गोपों को अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहा है 'उत्सुकता' उनके मिलने को निरपलव उद्यत हो जाने में है और 'दीनता' अपने प्राण तथा

भाग्य इत्यादि की अवहेलना करने में है। अतः इन सब विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से 'शोक' स्थायी हुआ। अतः उक्त काव्य में करुणा-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण वाईसवाँ

पृष्ठ ३४७ प्रिय मृत्यु का दैन्य दर्शाती हुई ॥

प्रिय की मृत्यु का महा अप्रिय सघाद आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसी पर रस आलम्बित हुआ है। व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ, शोणित पद्म से छाया हुआ प्राणेश शव, उस रस को और भी सुदृढ़ तथा विस्तृत करना है, अतः उद्दीपन विभाव है। स्तम्भ, वैचर्य, अश्रु, प्रलय अनुभाव हैं, क्योंकि इनसे 'रस' का अनुभव होता है। "चित्रस्थ सा रह जाना" आदि में स्तम्भ, 'सजा रहित होने' में वैचर्य 'धरा पर गिरने' में 'प्रलय' और रोने पीटने में 'अश्रु' की उत्पत्ति होती है और इन्हीं के द्वारा रस का अनुभव होता है। विपाद, चिन्ता, मोह, विरोध, आवेग, जडता तथा चपलता इत्यादि सचारी भाव हैं। दाम्पत्य सुखोपभोग के स्थान में पति की मृत्यु होने में 'विपाद' पति के बिना अपने जीवित रहने में 'चिन्ता'—चित्रस्थ सी रह जाने में 'मोह' दासियों द्वारा जाग्रत किये जाने में 'विरोध' शिविर से निकल पड़ने में आवेग, कर्त्तव्याकर्तव्य के बोध न रहने में 'जडता'—अधिक अनुरागादि के कारण स्थिरता न रहने में चपलता का संचार हुआ है। अतः इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से 'शोक' स्थायी हुआ, इसलिये करुणा-रस की सिद्धि हुई।

रौद्र-रस

थाइ जाको क्रोध अति, रहे रौद्र रस नाम ।
 आलम्बन रिपुतिष्ठ उमङ्ग, उद्दीपन तिहि ठाम ॥
 भृकुटि भग यति अरुणई, अधर दशन अनुभास ।
 गरज चपलता ओरहु, तँ सचारी भास ॥
 रक्त रग रस रौद्र को, रुद्र देवता जान ।
 ताको कहत उदाहरण, सुनहु सुमति दे कान ॥

—जगद्विनोद



व के स्थिर होने को रौद्र-रस कहते हैं। शत्रु द्वारा यह रस आलम्बित होता है और रिपु की उमङ्ग इस रस को उद्दीप्त कराती है—इसी प्रकार भृकुटी की कुटिलता, नेत्रों की अरुणिमा, अधर तथा दशन इत्यादि अंगों का

स्फुरणादि अनुभाव है। गर्व, चपलता सचारी भाव है। इसका वर्ण रक्त है, और देवता रुद्र है।

क्रोध वास्तव में एक बुरा स्वभाव है, इसके द्वारा मनुष्य की अवस्था अत्यन्तहीन हो जाती है। क्रोधी मनुष्य कभी अपने आपे में नहीं रहता। उसे उचित अनुचित का ध्यान कभी नहीं रहना, क्रोधी मनुष्य अपनी स्थिति, पद तथा अवस्था इत्यादि आप्रणयकीय विषयों को अपनी क्रोधावस्था में समूल नष्ट कर डालता है। परन्तु परमात्मा ने ससार में कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं बनाई है। उचित उपभोग की आवश्यकता है। यदि क्रोध न होवे तो युद्ध क्षेत्र में पापियों का विनाश किस

प्रकार होवे ? ससार से कुनीति का विध्वंस किस प्रकार हो ? ससार से घोर अत्याचार तथा अनाचार किस प्रकार विनष्ट होने ? और इसी प्रकार कायरता तथा क्रूरता का दमन किस प्रकार किया जावे ? यदि क्रोध न होवे तो मनुष्य की बड़ी भारी उन्नति रुक सकती है, मनुष्य की दशा उस सर्प की सी हो सकती है, जिसने गुरु-उपदेश से काटना छोड़ दिया था । ऐसी अवस्था में मनुष्य को मनुष्य कहने के लिये कौन उद्यत होगा ? किसी ने सत्य ही कहा है .—“जिसको न निज गोरव तथा निज देश का अभिमान है । वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है” । जो मनुष्य अपने अपमान तथा जाति और देश के अपमान को चुपचाप सहन कर लेते हैं, उनकी बहुत बुरी अवस्था होती है, हमारा प्राचीन इतिहास उक्त वचनों का साक्षी है । जब से हमारे देशवासियों में अपने मानापमान का विचार न रहा तब से वह निरन्तर अवनति के अन्ध कूप में गिरते हुए चले गये , यहाँ तक कि अपने जन्म सिद्ध अधिकारों तक को विस्मृत कर बैठे । परन्तु अब जब से हमने अपने अपमान को अपमान समझा, अपनी व्याज स्तुति को निन्दा समझा, जब से हमें अनौचित्य प्रधान तथा कुनीति युक्त कार्य-प्रणालियों को देख-सुन कर क्रोध आया, या यो कहो कि जब से हमने रौद्र-रस की शरण ली, तभी से सम्पूर्ण सभ्य देशों ने हाथ बड़ा कर हमारा स्वागत किया, हमारे हर्ष-नाद के साथ ही साथ, उच्चस्वर से स्वतंत्रता प्रिय महानुभागों ने उसका अनुमोदन किया । इस गणना भी मनुष्य

में हुई। इन उपर्युक्त बातों से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि “समय-समय पर सब की आवश्यकता होती है”। अतः समया-नुसार “रौद्र-रस” भी उपयोगी ही नहीं किन्तु परमावश्यक्रीय होता है। अब हम नीचे “रौद्र-रस” के कुछ उदाहरण अंकित करते हैं। उदाहरण .—

तेहि अवसर सुनि शिव धनु भगा । आये भृगुकुल कमल पतगा ॥
 देस महीप सकल सकुचाने । बाज कपट जनु लवा लुकाने ॥
 गोर सरीर भूति भल भ्राजा । भाल जिसाल त्रिपुण्ड विराजा ॥
 सीस जटा ससि बदन सोहाया । रिसयस कडुक अरण्य है आया ॥
 भृकुटी कुटिल नयन रिस राते । सहजहु चित्तगत मनहुँ गिसाते ॥
 कटि सुनि पसन तूण दुइ काँधे । धनु मर कर कुठार वल काँधे ॥

X

X

X

अस कहि कठिन पान सन्धाने । अतिसय कोपि सवन लगि ताने ॥
 सर समूह सो छाडन लागा । जनु सपच्छ धाये बहु नागा ॥

X

X

X

देसि पवन सुत कटक बिहाला । क्रोधवत धाया जनु काला ॥

X

X

X

भिरे सकल जोरी सन जोरी । इत उत जय इच्छा नहि धोरी ॥
 अठिकन लातन डाँता काटहि । कपि गिरि सिला मारि पुनि डाटहि ॥
 मार-मार धर धर धर मारु । सीस तोरि गहि भुजा उषारु ॥

X

X

X

क्रोधवत तप भयेस अनन्ता । भजेउ रय सारथी तुरता ॥

X

X

X

कटकटाइ कोटिन भट गर्जहि । दस्तान ओठ काटि अति तर्जहि ॥

X

X

X

रघुवसिन मँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥
 कही जनक अस अनुचित बानी । निधमान रघुकुल मणि जानी ॥
 सुनहु भानुकुल पकज भानू । कहाँ सुभान न कछु अभिमानू ॥
 जो रावर अनुशासन पाऊँ । कन्दुक इय प्रह्लाद बठाऊँ ॥
 काचे घट जिमि दारौ कोरी । सकी मेरु मूलक इय तोरी ॥
 तय प्रताप महिमा भगवाना । का यापुरो पिनाक पुराना ॥
 नाथ जानि अस आयसु होउ । कौतुक करौ निलोकिय सोऊ ॥
 कमल नाल जिमि चाप चढ़ायौ । सत जोजन प्रमाण लै धायौ ॥
 तोरौ द्रवक दड जिमि, तय प्रताप बल नाथ ।

जो न करौ प्रभु पद शपथ, पुनि न धरौ धनु हाथ ॥
 लपण सकोप यवन जय धोने । दगमगानि महि दिग्गज बोले ॥
 सकल लाग सय भूष डराने । सिय हिय हर्ष जनक सकुचाने ॥

X

X

X

जय तेहि कीद राम की निदा । क्रोधनत तय भयउ कपिन्दा ।
 कटकटाइ फपि कुञ्जर भारी । शोउ भुज दड तमकि महि मारी ॥
 डोलत धरणि सभा सद खसेऊ । चने भागि भय मारुत प्रमेऊ ॥
 अस रित होति दसो मुख तोरा । लका गहि समुद्र महुँ पोरौ ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

पारि दारि दारौ कुम्भकर्णहि विदारि दारौ,
 मारी मेघनाद आज यो बल अनन्त हो ।
 कहै पदमाकर चित्रकूट को दाहि दारौ,
 दारत करेई यागुधाना का अत हो ।
 अञ्जलि निरञ्ज कपि रुद्र हूँ उचारौ इमि,
 तोमे निञ्ज तुञ्जन को कछु वै नगंत हो

जारि दारौ लकहि उजारि डारौ उपवन,

फारि दारौ राग्य को तो मैं हनुमन्त हौ ॥

जेसो तैं न मोसो कहूँ नेकहु डरात हुतो,

ऐसो अग्न हो हूँ तोसो नेकहु न डरिहौ ।

कहै पदमाकर प्रचड जो परैगो तो,

उमड करि तोसो भुजड डौकि लरिहौ ।

चलो चलु चलो चलु रिचलन बीच ही तैं,

कीच बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौ ।

पर दगाडार मेरे पातक अपार तोहि,

गग की फडार में पडार छार करिहौ ।

—पद्माकर

अथर चव्य गहि गव्य अति, चहि राग्य को काल ।

दग कराल मुख लाल करि, दारु रगरव लाल ॥

—पद्माकर

लोक तिहुँ जारौ सातो सागर सुखाय डारौ,

गिरिन दहाय डारा भूमि डलडाऊँ मैं ।

रंघ में रिशारि डारौ, दसो गिगपालन को,

लगन समेत शशि सूरहि गिराऊँ मैं ।

धल तैं पताल लेके कितहु कहूँ जो नेव,

रसिक विहारी प्राण प्यारी सुधि पाऊँ मैं ।

जानकी न लाऊँ तो पै जवरी न कडाऊँ,

राम नाम पलडाऊँ धनुवान न बडाऊँ मैं ।

—रसिक विहारी

सदा गति के कुम्भ को जा बिदारे । ललाई नये चन्द सी जान धारे ।
जैभाई ममे काल सो जोन बाढ़े । भलो सिंह को दँत सो काँगा काढ़े ॥

काल सर्पिणो नन् कुल, क्रोध धूम सी जोन ।
अगहूँ पाँधन गत नहि, अहो मिया मम कान ॥

—भारतेन्दुजी (मुद्रा-राक्षस)

निरत उग्र मम घोर यह, सिंग सँग अनरथ पात ।
थालोचन मम अति प्रसन्न, क्रोधान्न बढि जात ॥
ममर मोहि कर चाप गाँह, अथवा दे निज आप ।
य-याई को हनि अगहिँ, उचित हरन मन्ताप ॥

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित नाटक)

गम क अभव काटन को पट्ट नार कुठार करान दे जाको ।
साईं ही घूकत राज सभे वनु के दलिहा दनिदा तल ताको ।
छाट छूँह उत्तर गत नइ लरिहँ मरिहँ करिहँ कछु साका ।
गोरो गरुड गुमान भरो कहु काशिक छागे सो दादो ह काको ।

×

×

×

अति अनर्पाहे हूँ गिसाईं साईं रात जात,

लखन उखान कंगो आयसु जी पाउँ म ।

जननी सुगरि ता मरोरि मोरि पारिष मे,

ढारा मदि तोरि दत दिग्गज नियाउँ म ।

रावरे प्रताप बल सौची कहूँ राघवजी,

मेरु को उगारि त्रिनि छोर लग जाऊँ मे ।

अटक रहे हा कहा मुख मे निकारिये नू,

भटकि मरामन को चणकि चदाऊँ मे ।

×

×

×

चकित भँवर रहि गयो, गगन नहि करत कमल तन ।
 अहि फनि मनि नहि लेत, तेज नहि बहत पवन घन ॥
 हस मानसर तज्यौ, चक्र चक्री न मिलै अति ।
 यह सुन्दरि पद्मिनी, पुरुष न चहे न करै रति ॥
 खल भणित शेष करि गग भनि, रमित तेज रति ग्य खस्यो ।
 खानान दान वैरम सुवन जिटिन क्रोड करि तंग कस्यो ॥

—कविगंग

फोरि डारौ फलक जर्मान जोरि डारो बल,
 वारिध में बैरिन के वृन्द बोरि डारौ मे ।
 रार डारौ रन घनघोर डारौ घञ्जी-उज्र,
 छोर डारौ वारिज भरजाद तोरि डारौ में ।
 अग्रधविहारी रामचन्द्र को हुकुम पाऊँ,
 चन्द्र को निचोरि मेरु को मरोरि डारौ में ।

मोरि डारौ मान-मानी मृढ महिपालन की,
 नाक तोरि डारौ श्री पिनाक तोरि डारौ में ।

—अग्रध विहारी

बोरो सत्रै रघुचक्र कुठार की धार में बारन बाजि सरथ्यहि ।
 बान की धातु उडाय कै लच्छन लच्छी करौ अरिहा समरथ्यहि ।
 रामहि वाम समेत पठै वन सोक के भार में भूजौ भरथ्यहि ।
 जो धनु दाय लियो रघुनाथ तो आबु अनाथ करो दसरथ्यहि ॥

X X X

सिद्धि लखौ धेनु पर कैसा । गेरु गुहा सोव तरु जेसा ॥
 भयो मोघ नाहर बध काजा । रँचन चखो तीर तन राजा ॥
 नाग श्वि कंकपत्र महँ डारी । अँगुनि निर्गल पुन तहँ धारी ॥

—लाला सीताराम

पगला पाप प्रचट प्रमादी पामरपन में ।
उपजा उग्र अदम्य रोष मेरे तन मन में ।
लमकी लटकी देखलाय तलवार निकाली ।
गरजो छन्द कृपाण सुनाकर सुमरी काली ।

—नाथूराम 'शङ्कर' शर्मा

जिनका कोप विजेष बढा था तपोभङ्ग हो जाने से ।
जिनका मुस दुर्दशं हुआ था भूट्टी कुगिल चढ़ाने से ।
उन हर के तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला ।
अकस्मात् अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला ।
“हा हा ! प्रभो क्रोध यह अपना करिये करिये शांत” ।
इस प्रकारका विनय ध्योमर्म जबतक सयसुर करें नितांत ।
तब तक हरके हाग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष ।
मामथ के मोहक शरीर को भस्म शेष कर दिया अशेष ।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दूपति के जैन सुनत छत्री कापे सन ।
अनि पवित्र रजपूत रुत्रि नछ नस दोर्यो तब ।
लै-लै अस्ति ददपन कियो छ्वे-छ्वे प्रभु के पाँय ।
“जा लौ तन स्वाधीनता तोली रखी बचाय ।
“सक करिये न कष्टु” ।
रहु-रहु रे निर्बोध, अमर गति रोक्न द्वार ।
हम न लेहिँग सौंस बिना तोहिँ आज रजारे ।
राज भयन निमाया करि तेरो विद्ध मिगार ।
जो दुख पाये तोहिँ सी देहों सबे सुनार ।

“सुखद भावासु रुत्रि”

—राधाकृष्ण

हाल सुन जयसिंह का दुरा चढ़ गया ।
 शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया ।
 मौप कर प्रिय देह सेनापति निकट ।
 प्रण किया सब से वन्दोने यह निकट ।
 भस्म जन में कर डुक्कूंगा रिपु नगर ।
 तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर ।
 धोर जो में ही मरूँ रिपु हाथ में ।
 पू कना सुझयो प्रिया के साथ में ।

—कामताप्रसाद गुरु

हलधर ने सन हाल किन्तु जब यह सुन पाया ।
 मिथुङ्गेग समान रोप सरसर हो आया ।
 मरिचारण दग हुण धोर नी तर अरुणारे ।
 जनापुष्प पद्मो में मानो प्रगट निहार ।
 सुधि धुधि जाती रही कोप के कारण सारी ।
 अर्जुन वज्र के निये हुए वे व्याकुल भारी ।

—मैथिलीशरण गुप्त (अर्जुन और सुभद्रा)

सुनकर उनके वचन सुनि हुए यथा हत योध ।
 देख रूप जल में तथा हुआ धार भी क्रोध ।
 मर्कट-मुख था प्रथम ही निस पर पड़ा रितार ।
 मिला भयानक रोद्र ने अद्भुत के आगार ।
 दिया गणों को शीघ्र तब मुनि ने शाप प्रचंड ।
 'राजस हो जायो यलो ! लो हँसने का बढ' ।
 इतना करके भी हुण वे न जरा सन्तुष्ट ।
 चले रमापति वे निकट निकट रूप अति रुष्ट ।

x

x

x

नारद उनको देख कर बोले फिर मज्जीध ।
 रहता किम वो ज्ञाभ में भने धुरे का घोष ।
 “हरे ! हरे ! इम भाँति के कर्म तुम्हारे ब्रह्म ।
 खडे रहो जाते कहाँ ? होकर मद मं चर ।
 निद्रामी के साथ भी होता है छल दाय ।
 तुम्हें स्वार्थ सं काम चाहे जो होजाय ।
 हाकर पूर्ण स्वतन्त्र तुम करते हो उत्पात ।
 नहीं रहेगी किन्तु अत्र पहिले की सी यात ।
 हरना तुमको सहज है योग का सुख भोग्य ।
 मिला नहीं कोई ग्रभी तुम्हें तुम्हारे योग्य ।

—मैथिलीशरण गुप्त (मुनि का मोह)

उपसुद देत्य भी तत्र सरोव, करि प्रकट सुद के त्रिविध दोष ।
 जाना तत्तन्मय ही साभिमान, रसतु न तीव्र सम्यन्ध ध्यान ।
 “होने से वय मं अविक ज्येष्ठ, हो सकता है कोई न श्रेष्ठ ।
 हों जिसमें सत्र गुण निद्यमान, है यही श्रेष्ठ उत्तम प्रधान ।

×

×

×

उपसुद वचन सुन निज निरुद्ध, तत्र हुआ आर भी सुद ब्रुद्ध ।
 सुनकर अपना अपनाद लेख, होता न ज्ञोभ किस् को विशेष ?

—मैथिलीशरण गुप्त (वन्धु विरोध)

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन मीध में जलने लगे ।
 मय शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे ।
 “सत्तार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पडे” ।
 करते हुए यह घोषणा वे होगये उठकर खडे

उस काल मारे क्रोध के तनु कौपने उनका लगा ।
 मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा ।
 मुर वाल-रनि-सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ ।
 प्रलयार्थ उनके भिम वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?
 युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से ।
 अग्न रोष के मारे हुए वे दहकते अगार से ।

X

X

X

तब निकलकर नासा पुष्टो से व्यक्त करके रोष त्यो ।
 करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यो ।
 जिस भाँति हस्ते पर किसी के प्राण से भी प्रिय मणी ।
 करके स्फुरित फिर फिर फणा फुँकार भरता हे कणी ।
 दो पद्म शुषडों में लिए दो शुषडगोला गज कहीं ।
 मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं ।
 दुर्द्वर्ष, जलते से हुए वत्ताप के उत्कर्ष से ।
 कहने लगे तब वे अग्निदम वचन व्यक्त अमर्ष से ।

X

X

X

“साक्षी रहे ससार सब करता प्रतिज्ञा पार्थ मैं ।
 पूरा करूँगा कार्य सग कथनानुसार यथार्थ मैं ।
 जो एक बालक को कपट से मार कर हँसते अभी ।
 वे शत्रु सत्वर शोक सागर-मग्न शीखेंगे सभी” ।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

निपीड़िता भू प्रज की विलोक के । अतीव उत्पीड़न में खलेद्र के ।
 दिनेक आता लख सामने उमे । नक्रोध बोले बलभद्र बन्धु यों ।

“सुधार-चेष्टा सन व्यर्थ हो गई । न त्याग तूने कुप्रवृत्ति को किया” ।
अतः यही है अतः युक्ति उत्तमा । तुझे निपातू भव श्रेय हेतु मैं ।

×

×

×

अतः अरे पामर सावधान हो । समीप तेरे अतः काल आगया ।
न पा सकेगा रत्न आज त्राण तू । सम्हाल मैं हूँ तुझ को निपातता ।
सदप नाते सुन स्याम मूर्ति का । हुआ महा क्रोधित व्योम त्रिकर्मा ।
उठा स्वकीया गुरु दीर्घ-यष्टि को । तुरन्त मारा उसने व्रजेन्द्र को ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

कहा फेंकेयी ने सज्जोध “दूर हो दूर अभी निषेध ।
सामने से हट अविष न घोल, डिज है । रस मं विष मत घोल ।
उठाती है तू घर म फीच, नीच ही होते हैं बस नीच ।
हमारे आपस के व्यनहार, कहाँ से समझे तू अनुदार” ।
हुआ ध्रु-कुचित भाल त्रियाल, फपोलों पर हिलते थे बाल ।
प्रकट थी मानो शासन नीति, मन्थरा सहमी देख सभीति ।
तीक्ष्ण थे लोचन अदल यदोन, लाल थे लाली भरे कपोल ।
न टासी देख सकी वम थोर । जला दे कहाँ न कोप फठोर ।

×

×

×

मानिनी फेंकेयी का कोप, बुद्धि का करने लगा शिलोप ।
और अतः रट न सकी वह शांत, उठी आँधी सी होकर भूत ।
एडियो तब आटूटे वेश, हुआ देवी का दुर्गा वेश ।
पडा तन जिस पदार्थ पर हस्त, उमे कर दाला अस्त व्यस्त ।
तोड़ कर फेंके सन शृंगार । अश्रुमय मे थे सुनाहार ।
मत करिणी सी दलकर फूल, घुमने लगी आप को मूल ।

वीर-रस

जा रस का 'उत्साह' शुभ, हे इक याई भाय ।
 सुरस वीर हे चारि मित्रि, कहत सबे करि राय ।
 युद्ध वीर इक नाम है, दया वीर निय नाम ।
 दान-वीर सुतीजो पुनि धर्म-वीर अभिराम ।
 युद्ध-वीर को जानिये, आलम्बन रिपु जोर ।
 उदीपन ताको तनहि, पुनि सेना को सैर ।
 योग परकृत हग अरणाई, इत्यादिक अनुभाव ।
 गरज, असूया, उग्रता, तहँ संचारी भाव ।
 इन्द्र प्रेता वीर को, कुम्भन वरण प्रियाल ।
 ताको कहत उदाहरण, मुन जन होत सुशाल ।

—जगछिनोद



न रस का स्थायी भाव 'उत्साह' हो उसे वीर-रस कहते हैं, उसके चार भेद हैं (अ) युद्ध-वीर (घ) दया-वीर, (स) दान वीर और (द) धर्म-वीर । रिपु का वैभव ही इस रस का आलम्बन विभाव है । योग सेना के माह बाजे इत्यादि के शब्द, वीर ललकार इत्यादि उदीपन हैं ।

का स्यन्दन, निर,
 इसके अनुभाव
 भाव है । इसका
 "उत्साहवर्जितो

ललकार
 ५५५,
 ३०८
 ५
 ५५

रूपी एक अनुपम और सजीवनी शक्ति का संचार कराता है। जिस मनुष्य में इस अछिनीय शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ उसके गेम रोम और नस नस में विद्युत् संचार करने लगती है। मृग मडल पर अद्भुत गाम्भीर्य, उत्फुल्लता तथा कान्ति का प्रकाश छा जाता है। स्वाभिमान, स्वत्व और स्वातंत्र्य के मूल्य के सम्मुख वीर पुरुष अपने प्राणों को भी तुच्छ समझता है। कुनीति के विघ्नसंशय करने, सुनीति का प्रचार करने, धर्म की रक्षा करने और अधर्म का विनाश करने के लिये वह सदैव अपना बलिदान करने के लिये उद्यत रहता है। वीर पुरुषों से अकर्मण्यता कौनों दूर भागती है, उनमें आलस्य तथा प्रमाद का नाम तक नहीं रहता। वीर पुरुष 'कर्तव्य पालन' में तत्पर रहने को अपना मुख्य कर्म समझता है। वीर पुरुष के सम्मुख चाहे युद्ध उपस्थित हो, चाहे दान तथा दया का प्रश्न छिड़ जाय और चाहे धर्म-क्षेत्र में वह पदार्पण करे, समय पड़ने पर कभी पीछे नहीं हटता। महाराज रामचन्द्र, महाराज हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीच इत्यादि अनेकों महा पुरुष इसमें उदाहरण हैं। यहाँ पर वीर रस के कुछ उदाहरण अंकित किये जाते हैं —

युद्ध-वीर

समाचार सब सुने निपादा । हृदय विचार करें सरिपादा ॥
कारण कवन भरत वन जाहीं । हे कछु कपट भाव मन माहीं ॥
जो पै जिय न होति कुपिलाइ । तो कस लीन सग कटकाइ ॥
जानहि मानुज रामहि मागी । करौ अकटक राज्य सुखारी ॥

होइ मजग मग रेकहु धाटा । ठाठहु मकल मरख के ठाटा ॥
 सन्मुख लोह भरत सन लेहु । जियत न सुरसरि उतरा नेहु ॥
 समर मग्य पुनि सुरसरि तीरा । राम काज जग्य भगु सरीरा ॥
 भरत भाइ नृप में जन नीच । नडे भाग्य अम पाइय मीच ॥
 म्यामि-काज करिहौ रण रारी । लैहौ सुयश सुमन दसचारी ॥
 तजहु प्राण रघुनाथ निहोरे । दुहु हाथ सु मोदक मेरे ॥

X

X

X

उठि कर जोरि रजायसु भागा । मनहु वीर रस मोनत जागा ॥
 चाँधि जटा मिर कसि कटि भाथा । साजि सरासन सायक हाथा ॥
 आज राम सेनक जस लेऊँ । भरनहि समर सिप्यान देऊँ ॥
 राम निरादर कर फल पाई । सोचहु समर-सेज गड भाई ॥
 थाइ बना भल सकल समाज । प्रगट करौ रिस पाखिल आज ॥
 जिमि करि निकर दले मृगगज । लेइ लपटि लगा जिमि बाज ॥
 तैसरि भरतहि सैन समेता । सानुज निदरि निपातो रीता ॥
 जो महाइ कर सकर आइ । तदपि हतो रण राम दुहाई ॥

X

X

X

नाथ भूधराकार मरीरा । कुम्भकरण आवत रणवीरा ॥
 इतना कपिन सुना जन काना । किलकिलात धाये उलाना ॥
 लिये उपादि त्रिष्टय अरु अधर । कटकटाइ डारे तेहि उपर ॥

X

X

X

रे खल फा मारेमि कपि भान । मोहि मिलोकि तार मे फालू ॥
 खोजत न्हेंवें । तोहि सुत चाती । आज निपाति जुझावहुँ जाती ॥
 काहू अम छोडेमि धाय प्रचडा । लक्ष्मण किये सुरत सत रडा ॥

X

X

X

तानि शरामन धरण लगि, छौंड रिसिख कराल ।

राम बाण नभ मग चले, सहलदात जनु ब्याल ॥

—तुलसीदास (राम-चरित मानस)

उमडि कुडाल मं खनाम खान आये भनि,

भूपन लो धाये भिगगज पूरे मन के ।

सुनि मरदाने बाजे हय दिहनागे गोर,

मूर्ख नरदाने सुख राग वीर जन के ।

एके कहै मार-मार सम्हारि ममर पके,

म्लेच्छ गिर मार बीच के सम्हार तन के ।

कुडनि के ऊपर पडावे डडे डोर डोर,

जीरन के ऊपर पडावे पडगा के ॥

×

×

×

मूयन साजि पडावत इ नित पीज लखे मरदुन केरा ।

आरैंग धावनि दुग्ग नमाति रिलोवत तगिये फाज नरेरी ।

साहि तन मिय सादि भद्र भनि भूषा यो तुन धाक घनेरी ।

रातहु घोष गिलास नव तुन मेन कि सुगति सुगति घेरी ॥

—भूषण

साँहें शम्भ शोदे जे न आडे शीश मगर की,

लंगर लँगूर उद्य शोज के अतका में ।

कहै पदमाकर लो दुधरत कुधरत,

पैलन पनात फान बाँधन पलका में ।

आगे रघुपति के समीर के ता के सग,

तारी दे तडाष तडा तड के नमका में ।

गङ्गागत पाल कृपाल प्रभो हमको इक आस तुम्हारी है।
 तुमरे सम दूसर यार कोउ नहि दीनन के हितकारी है।
 सुनि लेत सदा सब जीवनि की अति ही करुना निसतारी है।
 प्रतिपाल करै बिन ही बदले अम कौन पिता महतारी है।
 जब नाथ दया करि देखत हो छुटि जात प्रिया सतारी है।
 निसराय तुम्है सुख चाहत जो अम कौन निदान अनारी है।
 परवाहि तिन्है नहि स्वर्गहु की जिनको तन कीरति प्यारी है।
 धनि है धनि है सुख दायक जो तन प्रेम सुखा अधिकारी है।
 मन भाति समर्थ सहायक हो तन आश्रित बुद्धि हमारी है।
 परनापनरायन तो तुम्हरे पद पकज पे बलिहारी है।

—प्रताप नारायण मिश्र

सुनि सेनक दुख दीन दयाला । परकि उठे दाउ भुजा निसाला ॥

सुनु सुग्रीव मे मागिहो बालि एक ही बाण ।

अथ रट गङ्गागतहुँ गये न उबरहि प्राण ॥

×

×

×

आतुर सभय गँहेसि पद जाई । गहि-गहि दयालु रघुराई ॥

अतुलित बल अतुलित प्रभुनाई । मै मतिमद जानि नहि पाई ॥

निज कृतकर्म जनिम फल पायउँ । अम प्रभु पाहि शरण तनि आयउँ ॥

सुनि कृपाल अनि आरत जाना । एक नयन करि तजा भवानी ॥

कीन्ह मोह यम द्रोह, यद्यपि तेहि कर बब उचित ।

प्रभु आडेउ करि छोह के कृपाल रघुगौर मम ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

अनि स्वान ये तीर मे आते चले, इमी ओर के है अरु रंग नर्त ।

पदता हुआ व्याध भी आ रहा है, यम अतई तीर जो छोड़ा करी ।

करते हम यो न तिलाप प्रभो, मृग प्यारा हमारा जो होता यहाँ ।
 करते हुए यो कठ उसका रुका, उप हो मृगी होगाई स्तब्ध यहाँ ।
 कहना पड़नालय श्री हरि को, इतने में हुई कुछ पेसी दया ।
 घनगोप के साथ गिरी बिजली, जिमसे कि शिकारी अचेत भया ।

X

X

X

जब स्नान राम रुड़े अपने, तब भक्षण कोन यहाँ जग में ।
 निश्चिन्ते मृदु फल अंशो । पल में, दुख कटक छाये हुए भग म ।

—लोचनप्रसाद पौडेल

रुद्रि त्रिजापि के प्रिय लाडिल । पतित का कर बं गहते कहीं ।
 उक्क म रुस तो करते रं । वह कहीं जल बाहर मग्न के ।
 पहुँचते यह थे उन गेह में । जन अकिचन ये रहते जहाँ ।
 कर सभी सुविधा यह भोति की । यह उँह रखते गिरि अक्क म ।
 पाम वृद्ध अममल लोच के । दुपमयी विधवा रज ग्रस्त के ।
 उन सहायक थे पहुँचा रहे । गिरि सुगह्वर म बहु यत्न में ।
 यदि निरा पडती जनता कहीं । कुपथ म पड के दुख भोगती ।
 पक्ष प्रार्थन थे करते उमे । तुम्ह तो हम ठो मजेन्द्र जा ।

—प्रिय प्रवास (हर्षि श्रोध)

हो द्रवित करके अग्रण उत्तरी प्रार्थना करूँगा भरी ।
 नेने लगे निज कर उठा के म्मात्यना उमको हरी ।
 भट्टे । रत्नकर नद हा । हा । शोक के मनमे दटा ।
 यह नेन तेरी दुख उठा जाता हृदय मेरा पटा ।
 विश्राम मर कथन का जो हा तुम मन म कभी ।
 मच जान ता दुख दूर होग गीत ही तेरे सभी ।

जिस भाँति गद्गदकठ से त रो रही है हाल में ।
 रोती फिरेगी कौरवों की नारियों कुछ काल में ।
 लक्ष्मी सहित सिंधु रहित पोंदव शीघ्र ही हो जायेंगे ।
 निज नीच कर्मों का उचित फल कुटिल कोरथ पायेंगे ।

—मैथिलीशरण गुप्त

दान-वीर

दान समय का जान पुनि, याचक तीर्थ गोन ।
 दान-वीर के कहत है ये विभाव मति भोन ।
 तृण समान लेखत सुधन, इत्यादिक अनुभाव ।
 ब्रीडा हरपादिक गना, तहँ सचारी भाव ।

—जगद्विनोद

दान करने के उत्साह के स्थिर होने को दान-वीर कहते हैं ।
 याचक और तीर्थ गमनादि इसका आलम्बन है, और दान
 समय का ज्ञानोत्साह उद्घोषन विभाव है, इसी प्रकार दान्य
 शीलतादि अनुभाव और ब्रीडा तथा हर्ष इत्यादिक सचारी
 भाव हैं । यथा —

सम्पत्ति सुमेरु की कुपेर की जु पावे ताहि,

सुरत लुटायेत निलम्ब वर धारिना ।

फदे पदमाकर सो हेम हय हाथिन के,

हलये दजान्न के नितर निचारिना ।

गज गज बकसि मदीय शुनाव राज,

पाय गज बेग्ये कहूँ, काहु न्द डारेगा ।

याही डर गिरिजा गजानन के। गोद रही

गिरितें गरेते निज गोदते उतारैना ॥

बनमि बितुड दये भुडन के भुड रिपु

मृदुन की मालिका दर्द ज्यो निरुरागी का ।

कहे पद्माकर कोरन के कोष दयो

पोडसहू दीने महादान अधिकारी का ।

ग्राम नय ग्राम दये अमित आगम दये

अत जल नीने जगनी के चामरारी का ।

दाता जयनिहू यह दो बातें ना दद कहूँ,

अग्नि का पीठि ओर दीति परनारी का ॥

द डार जनुभितुक्न, नहि गमगाहि सुलभ ।

प्रथम मित्या यात प्रभुहि सुरिभीषण हूँ रक् ॥

—जगछिनोद

दीन क्षति मन ना एक न दीहो दुसह दुख ।

मो प्रब ह्म के नील, नहुष न गग्यो धारन ।

—अकररणाह

कौपि डगी कमला मन सोचत, मोमो कहा हृदि के मा थोके ।

ऋद्धि कँपी नर निद्धि कँपी मर मिद्धि कँपी अणनायक धोके ।

गोर भयो सुरनायक के जर दूसरी धार लयो भरि भोके ।

मेर डरे वासे जनि मोदि कुबेर चनात चोर चोरे ।

x

x

x

मृगी तिसरी भगत ही रमिमन पकरी बोट ।

पमो सुम्ह कहा भई सपति की प्रनचाह ॥

x

x

x

जित भौति गद्गदकठ से तूरो रही है दाल में ।
 राती फिरेंगी कोयों की नारियों कुछ काल में ।
 लक्ष्मी सहित रिपु रहित पांडव गीत ही हो जायेंगे ।
 निज नीच कर्मों का उचित फल कुदिल कोरय पायेंगे ।

—मैथिलीशरण गुप्त

दान-वीर

दान समय के जान पुनि, याचक तीर्थ गोन ।
 दान-वीर के कहत हैं, ये विभाव मति भोन ।
 तृण समान लक्षत सुधन, इत्यादिक अनुभाव ।
 ब्रीडा हरपादिक गनो तहँ सचारी भाव ।

—जगन्निनोद

दान करने के उत्साह के स्थिर होने को दान-वीर कहते हैं ।
 याचक और तीर्थ गमनादि इसका आलम्बन है, और दान
 समय का ज्ञानोत्साह उद्दीपन विभाव है, इसी प्रकार दातृ
 शीलतादि अनुभाव और ब्रीडा तथा हर्ष इत्यादिक सचारी
 भाव हैं । यथा—

मम्पति सुमेर की कुचेर की जु पावे ताहि,
 तुरत लुटायेत निलम्ब तर धारैना ।
 कहै पदमाकर सो हेम दय हाधिन के,
 हलके हजारन के नितर निचारैना ।
 गज गज बकनि महीप रघुनाथ राय,
 पाय गज घोखे कहूँ फाह देठ डारैना ।

साजि साजि गज तुरी पैदर कतार दीहें,
भूपन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ।
और राय राजा एक मन में न ह्याउँ अथ,
साहू कौ सराहौ कै सराहौ छत्रसाल को” ॥

—भूपण

जैहि पाली इन्दाकु सो, अथ लौं रघुकुल राज ।
साहि दंत हरिचंद नृप, विश्वामिहि आज ॥

—भारतेन्दु धावू हरिश्चन्द्र

फोड़िन कुयेन को फनफ फनूका सम,
ताके चारो घेद एक अलप कहानी है ।
कामधेनु कल्पतरु चित्तामणि आदिक की,
ताके दान देखि देखि मति चकरानी है ।
पाँचहु श्रुति ताकी दासी है ख्यासी करै,
फालहु कराल की न ता सँग बिसानी है ।
“दीन” करि जाके मन मन्दिर में वास करै,
राम सो सुराजा औ सियासी महरानी है ॥

—लाला भगवानदीन

धर्म-वीर

धर्म-वीर के करि कहत, ये विभाय ठर आन ।
वेद सुमृति शीलन सदा, पुनि पुनि सुख पुरान ।
वेद निहित धर्म वचन वपु, ओरहु है अनुभाव ।
एति आदिक परणत सुकरि, तहैं सँचारी भाव ॥

—जगद्विनोद

हिन्दी-काव्य में नवरस

कही रुक्मिणी कान मं, यह धों कौन मिलाप ।
करत सुदामहि आप सो, होन सुदामा आप ॥

×

×

×

हाथ गरयो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमने चित धारी ।
तदुल पाय, मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइ लोक निहारी ।
स्वाय मुठी तिसरी अय नाथ कहा निज वास की आस विसारी ।
रफहि आप नमान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी ।

—नरोत्तमदास

केशवदास के भाल लिख्यो निधि रक को अक बनाय सगार्यो ।
छोडे दुपों नहि धोये धुओ बहु तीरथ के जल जाय पखार्यो ।
हूँ गयो रफते राठ तहाँ जन पीर नली बलपीर निहार्यो ।
भुलि गयो जग की रचना चतुरानन वाग संगो मुख चार्यो ।

—केशव दास

जो सपति शिखर राजनहि, दीन्ह दिये दसमाथ ।
सो सपदा निभीषणहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

दान समे द्विज देव्य मेरुहु कुबेरहु की,
सम्पति लुटाइवै को हियें ललकत ह ।

×

×

×

“राजत अग्वड तेज छाजत सुजस चडौ,
गाजत गयन्द दिगजन हिये साल के ।
जाहि के प्रताप सो भलीन आपताव होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ब्याल के ।

साजि साजि गज तुरी पेदर कतार दीहें,
 भूपन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ।
 और राय राजा एक मन में न ह्याऊँ अथ,
 साहू कौ सराहौँ वै सराहौँ नृसाल को ॥

—भूपण

जेहि पाली इत्याकु सो, अथ लौं खुटल राज ।
 ताहि देत हरिचन्द नृप, निशामिहि आज ॥

—भारतेन्दु याबू हरिश्चन्द्र

बोधिनि कुपेरन को कनक कनूका सम,
 ताको चोरो घेद एक थलप कहानी है ।
 कामपेनु फरपतरु चितामणि आदिक की,
 ताको दान देखि देखि मति चकरानी है ।
 पाँचहु छत्रुति ताकी दासी है खजानी करै,
 कालहु कराल की न ता सँग बितानी है ।
 “दीन” कवि जाके मन मंदिर में वास करै,
 राम सो सुराजा ओ मियासी महारानी है ॥

—लाला भगवानदीन

धर्म-वीर

धर्म वीर के कवि कहत, ये विभाव उर आन ।
 वेद सुमति शीलन सदा, दुनि दुनि सुख पुरान ।
 वेद निहित क्रम वचन यषु, ओरहु हैं अनुभाव ।
 एति आदिक परणत सुकवि, तहें सँचारी भाष ॥

—जयचामरे

वेद तथा स्मृति इत्यादि धार्मिक ग्रंथों में श्रद्धा इसका आलम्बन, पुराणादि श्रवण उद्दीपन विभाव हैं। वेद विहित कर्म अनुभाव और धर्म के यह दस लक्षण सचारी हैं।

“इति जमा दमोस्तेय शोचमिन्द्रिय निग्रह ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्” ॥

उदाहरण :—

तृण के समान धन धाम राज त्याग करि,
पाट्यो पितु वचन जो जानत जनैया है ।
फहै “पदमाकर” विरेकही को धानो बीच,
साँचो सत्य वीर वीर धीरज धरेया हैं ।
सुमंत पुराण वेद आगम कहो जो पय,
आचरत मोई शुद्ध करम करैया हैं ।
मोह मति मदर पुरटर मही को धन्य,
धरम धुरधर हमारौ ररुरैया हैं ॥
धारि जटा मलकत भरत, गयो न दुख तजि राज ।
भे पूजत प्रभु पादुकर, परम धरम के काज ॥

—जगद्विनोद

सुनु जननी तोइ सुत बड भागी । जो पितु मातु वचन अनुगामी ॥
तनय मातु पितु पोषण हारा । दुर्लभ जननि सकल ससारा ॥
मुनिगण मिलन विशेष वन, सगहि भोति भल मोर ।
तेहि मई पितु आणसु गहुरि, सम्मति जननी तोर ॥

अतिशय देखि वरुं की हानी । परम सभित धरा अनुलानी ॥
धेनु रूप धरि हृदय निचारी । गई तहाँ जहाँ सुर छनि भारी ॥

×

×

×

जानि सभय सुर भूमि मन, पचन समेत सनेह ।

गगन गिरा गभीर भद्र, हरणि शोक सन्देह ॥

जनि हरपहु छनि सिद्ध सुरेशा । तुमहि लागि ररिहाँ नर बेधा ॥
अयन सहित मनुज अनतारा । लैहो दिनकर बस बढारा ॥

×

×

×

शिवि दवीच पनि जो कह्यु भाषा । तन धन तजेइ बचन प्रण राखा ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

काज मही सिवराज बली हिन्दुवान बदाइये को बर उट ।

“भूषण” भू निरखेइ कही चौह ग्लेछन भारिवे को रन जूटै ।

हिन्दु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदानत लौं कैइ दूटै ।

चन्द अलोक ते लोक सुखी यहि कोक अभाग को सोक न छूटै ॥

—भूषण

लगा सोचने क्या उपाय अब हाय ! करूँ मैं ।

कैसे स्थामि गरीर पीर गम्भीर हूँ मैं ।

देता इन्हें भगाय तुम्हें निकट जाने से ।

पर हूँ मैं लाचार पगो के कट जाने से ।

जब लगि तन में प्राण हैं तब समि मैं सेवक धरम ।

कैसे तूँ सचेत रहि रह्यि यह तन नश्वर परम ॥

×

×

×

ये लोभी है मास सब के जब पायेंगे,

इसर कहीं तो उधर बूझा काहे आयेंगे ।

तो मैं निज तन-मांस काट दे इन्हें बकाऊँ,
 ऐसे स्वामि शरीर पालि निज धर्म बचाऊँ ।
 कादि-कादि अस्ति खड से लगा मैं, त निज कैकने,
 तजि के राज शरीर को लगे उसे वे लोकने ।
 —विजयानन्द त्रिपाठी 'श्रोकवि' (अलौकिक स्वामिभक्ति)
 कुल गुरु फिर लगे अनेक प्रकार पढ़ाने,
 पर पढ़ते क्या प्रह्लाद प्रेम रससाने ।
 हो चुका प्राप्य जन प्राप्त रहा क्या पाना,
 जब मूल हाथ आगया रहा क्या आना ।
 दिन-दिन अधिकाधिक भक्ति भाव बढ़ता है,
 नित रोम रोम में नया रंग चढ़ता है ।
 करते गुरु ज्यो-ज्यो यत्न और दृढ़ होता,
 प्रह्लाद त्रिष्णुमय हुआ जागता सोता ॥

X

X

X

सुनकर निज गुरु की प्रेम भरी यह याणी,
 बोले उनसे प्रह्लाद जोड़ युग पाणी ।
 “गुरु देव ! पिता जन पूज्य कहे हैं ऐसे,
 तब परम पिता पूजाई न होंगे कैसे” ?
 हे धार्य ! किसी का शत्रु न हरि को जानो,
 अप्युक्त अनादि अल्लेश उन्हें तुम मानो ।
 हरि मजन छोड़ मैं करूँ स्थाय की पातें,
 हा हा खाता हूँ बहो न ऐसी पातें ॥
 —मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

रससामग्री द्वारा वीर-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहिला युद्ध-वीर ।

पृष्ठ ३७३—समाचार

मुद मोदक मेरे ॥

भरतजी का धैर्य ही यहाँ आलम्बन विभाव है, क्योंकि उसी को देखकर निषाद राज महाराज भरतजी के विरुद्ध-युद्ध के साज सजाने के लिये उद्यन हुए हैं। भरतजी की सेना का शोर तथा कपट का ध्वनन, केरेयो कन कपट की स्मृति सहित उद्घोषन विभाव है, क्योंकि यह निषाद को भरतजी के विरुद्ध रण के लिये उद्यन करने में और भी दृढ़ कराते हैं—इनसे रस विस्तृत होता है। हृदय में विषाद का होना तथा कोधित होकर ‘ठाठटु सकल मरण के ठाट’ इत्यादि वाक्यों के कथन में शरीरों की स्फुरणादि क्रियाएँ, नेत्रों का रक्तवर्ण होना इत्यादि कार्य अनुभाव हैं—निश्चय यहाँ पर स्पष्ट वर्णन नहीं है। यहाँ पर निषाद राज भरतजी के सुग (जिसका उसने मन में विचार किया है) न सहन करके उन्हें युद्ध द्वारा हति पहुँचाना चाहता है, इसमें असूया। “जिशन न सुरसरि उत्तर देह” इत्यादि में गर्व तथा उग्रता इत्यादि का संचार हुआ है। अतः असूया, गर्व तथा उग्रता यह संचारी भाव है। उस इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “उत्साह” स्थायी हुआ, जिसके द्वारा रण की स्थिति होनी है, अतः युद्ध वीर है।

उदाहरण तेगहवाँ युद्ध वीर ।

पृष्ठ ३७७—कपिल लेख

न वनो दुःखित ॥

यहाँ जलधि का वैभव ही आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा उत्साह हुआ है, यदि ससुद्ध अगम न होता तो लक्ष्मणजी को उसके विरुद्ध कुछ कहने की क्या आवश्यकता थी? कपिराज की विकलता तथा मनुष्य की विकरालता इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा रस-सुद्ध और विस्तृत होना है। ससुद्ध की गर्जन तथा तरल तरङ्ग भी उद्दीपन हैं। लक्ष्मणजी ने ओजमय वचन कहे उस समय उनके शरीर का वर्ण ताम्रवत्, आँखें लाल, ओष्ठों का फरकना इत्यादि (जिनका वर्णन स्पष्ट नहीं है) आलम्बन विभाव है। गर्व तथा उग्रतादि सचारी भाव हैं। लक्ष्मणजी ने कहा—“क्या है यह जलराशि कहो तार मार सुन्वाऊँ” इत्यादि यह गर्व तथा असूया और उग्रता का संचार कराते हैं। वस उक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के लयोग से “उत्साह” स्थायी हुआ। अतः यहाँ युद्ध-वीर रस की तिद्धि हुई।

उदाहरण आठवाँ दया वीर ।

पृष्ठ ३८१—हो दुःखित

फल कुटिल कौरव पायगे ॥

यहाँ पर कृष्ण की दीनता भरी प्रार्थना—“सन्धि समय मत भूलना इन वालों की बात”—जिसका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है, आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसी के द्वारा महाराज कृष्ण को द्रोपदी को सान्त्वना देने का अवसर प्राप्त हुआ है।

कृष्ण का रुदन करना तथा रोद प्रकट करना, उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस उद्दीप्त होता है। कृष्ण के मधुर वाक्य “भद्रे ! रुदन कर वन्द हा ! हा !” “रोती फिरँगी कौरवों की नारियों कुछ काल में” इत्यादि के कथन करने में शरीर के जो सहज विकार “कष” इत्यादि प्रदर्शित हुए होंगे वह सात्विकभाव, कर उठाकर सान्त्वना देने में कायिकानुभाव और “जाता हृदय मेरा फटा” में मानसिकानुभाव हैं। महा-राज कृष्ण ने इस समय कृष्ण की विपत्ति के साथ ही साथ स्वयं भी विपत्ति का अनुभव किया है, किन्तु तो भी धैर्य मौजूद है, जो उनके “लक्ष्मी सहित, रिपु रहित पाँडव शीघ्र ही हो जायँगे” इत्यादि वाक्यों से प्रगट होता है, अतः धृति सचारी भाव है। इसी प्रकार कृष्ण ने द्रौपदी से कहा है कि— “शीघ्र ही अपना रुदन बन्द कर क्योंकि मेरा कनेजा फटा जाता है” इत्यादि वाक्यों से प्रकट होता है कि उनमें उस समय कुछ अस्थिरता आ गई। अतः ‘चपलता’ का संचार हुआ। बस इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से चित्त में ‘दया’ की स्थिरता हुई। अतः “दया-वीर रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला दान-वीर ।

पृष्ठ ३८२—सम्पति सुमेर की निज गोद ते उतारैना ॥

यहाँ पर याचक लोग अथवा वह कार्य जिसके कारण उसके चित्त में दान देने का उत्साह स्थिर हुआ है, आलस्यन विभाव है। और उस समय का क्षानोत्साह जिसके कारण “रघुनाथ रामे” “सम्पति सुमेर की कुमेर की जु पावे, लुरन

लुटावे" "विलंब उर धारेना" इत्यादि काव्यों की सिद्धि होती है, उद्बोधन विभाव है। उसकी दातव्य शीलता (जिसके कारण उमा को भी खटका हुआ कि कहीं हाथी के धोखे मेरे पुत्र गजानन को दान में न दे दें, उसे गोद में छिपा लिया) आलम्बन विभाव है। 'हर्ष' संचारी भाव है, क्योंकि इस पद्य में सर्वत्र-ज्ञता में दान देने का हर्ष तरङ्गवत् व्याप्त हो रहा है। वस इन स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से "दान-वीर" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला धर्म-वीर ।

पृष्ठ ३८६—तृण की समान

०रघुरैया है ॥

स्मृति, पुण्य, वेद तथा आगम में वर्णित धर्म का आचरण हो "आलम्बन" विभाव है, क्योंकि इसी के कारण महाराज रामचन्द्रजी ने धन, धाम तथा राज को तृणवत् त्याग दिया। "विवेक का जाना" उद्बोधन विभाव है, क्योंकि इसके कारण धार्मिकता और भी प्रोढ़ अथवा पुष्ट होती है। "शुद्ध-कर्म" अनुभाव है, क्योंकि वेद विहित धर्म तथा विवेक रूपी कारणों के कार्य स्वरूप हैं। अथवा गों कहिये कि भावों का अनुभव कराते हैं। इसी प्रकार रामचन्द्रजी के मन जाने में शील, क्षमा, शान्ति इत्यादि तरङ्गवत् सञ्चार कर रहे हैं, अतः ये सञ्चारी भाव हैं। वस इन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के संयोग से "धर्मोत्साह" स्थायी हुआ है, अतः "धर्म-वीर" की सिद्धि हुई।

भयानक-रस

जाको धाई भाव भय, यहै भयानक जान ।
लपन भयकर गजर कछु, ते निभाव वर ध्यान ॥
कम्पाधिक अनुभाव तई, सचारी मोहादि ।
काल देन कैला वरण, सुभयानक रस आदि ॥

—जगद्विनोद



य की स्थिता को भयानक रस कहते हैं ।
भयावह पदार्थ, दृश्य, इति, भानि इत्यादि
इसके विभाव हैं, रुम्प इत्यादिक अनुभाव
हैं, इन्हीं प्रकार मोह इत्यादि सञ्चारी
भाव हैं । इस रस का देवता काल और

रक्त कृष्ण है ।

अधर्मी, कुमार्गी तथा नीति भ्रष्ट मनुष्य इसी रस के
सम्पर्क से निस्साहस हो जाते हैं, जो मनुष्य निष्प्रयोजन ही
- किसी को कष्ट देते हैं, उनको उनके कृत कर्मों का स्मरण करा
व्याकुल करा देनेवाला यही रस है । औरङ्गजेर जय मरने को
हुआ तो अपने पिता को उन्दोष्ट भोजने, अपने भ्राताओं का
अपघात करने तथा अन्य किनने हो पाप कर्मों का स्मरण कर
पर थर कौपता था, अत्यन्त भयानुर था । इसके प्रमाण में
पाठक उस पत्र का निरीक्षण करें, जो मरने के कुछ काल
पूर्व उसने अपने पुत्र "आजम" को लिखा है । इन्हीं प्रकार
महमूद गजनवी अपने अन्तःकाल में अपने लूटे हुए द्रव्य की
घैलियों को अपने सामने मगाकर राखा था, उसको अपने पापों

लुटावे” “विलंब उर धारेना” इत्यादि काव्यों की सिद्धि होती है, उद्दोषन विभाव है। उसकी दातव्य शीलता (जिसके कारण उमा को भी खटका हुआ कि कहीं हाथों के धोखे मेरे पुत्र गजानन को दान में न दे दें, उसे गोद में छिपा लिया) आलम्बन विभाव है। ‘हर्ष’ संचारी भाव है; क्योंकि इस पद्य में सर्वत्र-ज्ञाता में दान देने का हर्ष तद्भवत् व्याप्त हो रहा है। यस इन स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “दान-वीर” की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला धर्म-वीर ।

पृष्ठ ३२६—तृण की समान

“रघुरैया है ॥

स्मृति, पुराण, वेद तथा आगम में वर्णित धर्म का आचरण हो “आलम्बन” विभाव है, क्योंकि इसी के कारण महाराज रामचन्द्रजी ने धन, धाम तथा राज को तृणवत् त्याग दिया। “विवेक का घाता” उद्दोषन विभाव है, क्योंकि इसके कारण धार्मिकता और भी प्रोढ़ अथवा पुष्ट होती है। “शुद्ध-कर्म” अनुभाव है, क्योंकि वेद विहित धर्म तथा विवेक रूपी कारणों के कार्य स्वरूप है। अथवा यों कहिये कि भावों का अनुभूत कराते हैं। इसी प्रकार रामचन्द्रजी के जन जाने में शील, क्षमा, शान्ति इत्यादि तद्भवत् सञ्चार कर रहे हैं, अतः ये सञ्चारी भाव हैं। यस इन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के संयोग से “धर्मोत्साह” स्थायी हुआ है, अतः “ध-वीर” की सिद्धि हुई।

भयानक-रस

जाफो धाई भार भय, यह भयानक जान ।
 ललन भयकर गजब कह्यु, ते विभाव डर थान ॥
 कम्पायिष अनुभाव तहें, सचारी मोहादि ।
 काल देष केसा वरण, सुभयानक रस आदि ॥

—जगद्दिनोद



य की स्थिता को भयानक रस कहते हैं ।
 भयानक पदार्थ, दृश्य, ईति, भांति इत्यादि
 इसके विभाव हैं, कम्प इत्यादिक अनुभाव
 हैं, इन्हीं प्रकार मोह इत्यादि सञ्चारी
 भाव हैं । इस रस का देवता काल और

रस कृष्ण है ।

अधर्मी, कुमार्गी तथा नीति अष्ट मनुष्य इसी रस के
 सम्पर्क से निस्साहस हो जाते हैं, जो मनुष्य निष्प्रयोजन ही
 किसी को कष्ट देते हैं, उनको उनके कृत कर्मों का स्मरण करा
 व्याकुल करा देनेवाला यही रस है । श्रीरङ्गदेव जब मरने को
 हुआ तो अपने पिता को वन्दोगृह भेजने, अपने भ्राताओं का
 अपघात करने तथा अन्य कितने ही पाप कर्मों का स्मरण कर
 पर धर काँपता था, अत्यन्त भयानक था । इसके प्रमाण में
 पाठक उस पत्र का निरीक्षण करें, जो मरने के कुछ काल
 पूर्व उसने अपने पुत्र "आजम" को लिखा है । इसी प्रकार
 महमूद गजनवी अपने अन्तकाल में अपने लूटे हुए द्रव्य की
 पैलियों को अपने सामने मगाकर राया था, उसको अपने

का स्मरण आता था, इसके साथ ही अपने कर्मों के फल स्वरूप ईश्वरीय दंड का भी भय था। महाराज कृष्ण के दर्शन मात्र से ही कस का हृदय प्रकम्पित हो गया था। भगवान् नृसिंहजी के भयकर रूप पर द्वाष्ट करते हो हिरण्यकश्यप मृत प्राय हो गया था, उसका कलेजा धडकने लगा था। यह रस भगवद्भक्ति में भली भोंति सलग्न करा देता है, जिस समय किसी भयकर दुर्घटना का सामना हो, छुटकारा पाने की कोई आशा न हो तथा त्राण का कोई मार्ग न हो, उस समय परमात्मा की ओर खूब लौ लगती है, उसी का सहारा होता है और उसी के द्वारा रक्षा होती है। यह रस मनुष्य से बुरी भावनाओं के दूर कराने के लिये एक अस्त्र है, इसी रस द्वारा भगवान् रामचन्द्रजी ने सुरेन्द्रात्मज जयत को शिक्षा दी थी।

ऐसे प्रभावशाली रस के विशेष स्पष्ट करने के लिये हम कुछ कविवरों की कविताएं नीचे उद्धृत करते हैं—

उदाहरण

भरि भुनन घोर फठोर ख रति वाजि तजि मारग चले ।

चिक्करहि दिगाज डोल महि ग्रहि कोल कूरम फल भले ॥

सुर असुर अनि कर कान शीहें सकल निकल निवारहीं ।

पोदद खदेख राम तुलसी जयति वचन उचारहीं ॥

×

×

×

लगत अणव भयानक भारी । मानहुँ काल राति अंगियारी ॥

घोर ज हु सन पुर नर नारी । दरपहि एकहि एक निहारी ॥

घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मोत मनुहुँ जम दूता ॥

×

×

×

वैताल भूत पिताच । कर धरे धनुष नराच ॥
जोगिन गद्दे करवाल । इक हाथ मनुज कपाल ॥

× × ×

घरु मारु योलहि घोर । रहि पूरि ६नि चहुँ थोर ॥
शुग पाय धावहि राग । तय लगे कीस परान ॥

× × ×

भय निकल यानर भालु । पुनि लाग धरपन वालु ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस) ।

लाइ-लाइ आगि भागे पाल जात जहाँ तहाँ,
लघु हूँ बिबु गिरि मेरु तें विस्तार भो ।
कौतुकी कपीस कूदि कन्क कँगूरा चञ्चौ
रावण भयन चञ्चि दाख्यो तिहि काल भो ।
तुलसी निराख्यो ब्योम बालधि पसारि भारी,
देखे हृन्नात भट काल सो कराल भो ।
तेज को निधान मानो केतिक हृसानु भानु,
नख निकरात छप तैसा रिस लाल भो ॥

× × ×

बालधि विस्तार विकराल अगल जाल मानो,
लक लीलिचे के काल रसना पसारी है ।
कैधो ब्योम बीयिका भरे है भूरि धूम्रकेतु,
वीर रस वीर तरवारि सी उधारी है ।
तुलसी मुरेस चाँप दामिनी कलाप कैधो,
कैधो चली मेरु तें हृसानु सरि भारी है

देखें यातुधान यातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजार्यो अब नगर भजारी है ।

X

X

X

पानी पानी पानी सग रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी गनि जानी गज चालिहै ।

बसन बिसारैं मणि भूषण सँभारत ना,
आनन सुखाने कहै क्योंहुँ कोऊ पालिहै

तुलसी मँरोये मँजि हाथ ५ नि माथ कहै,
काहु कान कियो न में कलो केतो कानि है
पापुरो निभीयण पुकारि धार नार कछो,
वानर बडी बलाय घने घर चालि है ॥

X

X

X

रानी अकुलानी सन बाढत परानी जाँहि,
सकैं ना निजोकि बेर केसरी बुमार को ।

मँजि-मँजि हाथ ५ नि माथ दसमाथ तिय,
तुलसी तिलोन भयो बाहर अगार को ।

सब असबाब डारौ में न काढौ तै न काढौ,
जिअकी परी सँभारे सहन भँडार को ।

खीकती मदोने सजिबाद रेखि मेघनाद,
बयो लुनियत सन याही दाढ़ी जार को ।

X

X

X

लागि-लागि आगि भागि-भागि चने जहाँ तहाँ,
धीय को न माय बाप पूतन सभारहाँ ।

छूटे पार मसन सघारे धूम धुन्द अब,
 कद्वै घारे बुढ़े पारि-पारि पार पारहीं ।
 हय दिहनात भागे जात घहरात गज,
 मारो भीर ठेज पेजि रोंदि खौंदि डारहीं ।
 नाम ले यिछात निछात थडुलात अति,
 तात-तात तौतियत कौतियत कारहीं ॥

—तुलसीदास (कवितावली)

मानर घरात पाघ बेहर मिलार ,रिग,
 मगरे घराह जानवरन के जोम हैं ।
 भूपन भनत भारे भालुक भयानक हैं,
 भीतर भयन भरे लीनगऊ लोम हैं ।
 बेंडालय गज गल गँडा गररात गनि,
 गेहन में गोहन गरूर गदे गोम हैं ।
 सिपाजी कि धाक, मिले खल बुल राक घसे,
 खलन के खेन खरीसन के खोम हैं ॥

×

×

×

सूयनि साजि पटायत है नित फोज लखे मरहट्टन केरी ।
 ओरँग आपनि दुग्गजमाति रिनोबत तेरिये कौम दरेरी ।
 साहि तनै सिनसाहि भई भनि भूपन यो तुघ धाक घनेरी ।
 रातहु घोस दिलोस तकै तुम सेन कि सूरनि-सूरति घेरो ॥

×

×

×

या दिन चढ़त दल साजि अग्रधृत सिंह
 ता दिन दिगत लौं दुषन बाधियतु है ।

प्रलै कैसे धारावर धमक नगारा धूँटि-

वाराते सखदन की धारा पावियतु है ।

“भूपन” भनत भुमिगोल के। कहर तहाँ,

दहरत तगा जिमि गज फाटियतु है ।

कौच से कचरि जात सेस के असेस फन,

कमठ की पीठि पे पिठीसी बाँटियतु है ॥

X

X

X

दुरजनदार भजि-भजि वे सन्हार चर्दी,

उतर पहार डरि सिवाजी नरिन्द ते ।

भूषा भनत निन भूपन बसन साथे,

भूपन पियासा हूँ नाहन को निन्द ते ।

बालक अयाने घाट बीच ही विलाने-

कुम्हिनाने छल कोमल अमल अरविन्द ते ।

दगजाल फजजल कनित उझो कचो मानों,

दूजो सोत तरनि तनूजा को कलिन्द ते ॥

X

X

X

चकित चकता चौकि-चौकि उठै बार-बार,

मिली दहसति बितै चाह करपति है ।

मिललि बदन बिलखात बिजैर पति,

फिरत फिरगिन की नारी फरकति है ।

थर-थर कौपत कुतुग्गाह गोचकु हा,

दहरि हवस-भूप भीर भरकति है ।

राजा शिवराज के नगरन की धाक सुनि,
 केते बादसाहन की छाती दरकति है ॥
 —भूपण

भलकति आवैं झुट मिलम भलानि भूप्यौ,
 तमकत आवैं तेग राही ओ सिलाही है ।
 कहे "पदमाकर" स्यों दुन्दुभि धुकार सुनि,
 अकचक खेलें ये गनीम औ गुनाही है ।
 माधव को लाल कालहु तें निवराल दल,
 साजि धायो ये दर्द दर्द घों कहा चाही है ।
 कौन को कलेऊ घों करैया भयो फाल अरु,
 काप ये परैया भयो गजन इलाही है ॥

X

X

X

ज्वाला की जलनि सी जलाफ जग जालन की,
 जोर की जमा है जोम जुलुम निलाहे का ।
 कहे 'पदमाकर' सुरहियो बचाये जग,
 जालिम जगतसिंह रंग अथगाहे की ।
 दौहि दाया दाएन पै द्वार सेा दियाकर की,
 दामिनी दमकनि दलेल दिगदाहे की ।
 काल की कुट्टमिन कला है कुनि कानिका की
 कहर की कुन्त को नजदि कदवाहे की ॥

X

X

X

भुवन धुन्वति धूनि २नि ३रति सु२महु ।
 पदमाकर पातच्छ स्वच्छ लसि परत न भ२महु ।
 भगति अरि पर पद्म पद्म नागत अग अगनि ।
 तहै प्रताप प्रविषान व्यान येनत सुनि समगनि ।

तहँ तनहि तोपि तुङ्गनि तडपि तंतडान तेगनि तडकि ।
धुकि धड-धड़ धड-उड धडा धड़-उड धडात तद्धा वडकि ॥

X

X

X

एक थोर अजगरहि लखि, एक थोर मृग' राइ ।

बिकल बेटाही बीच ही, परो मूरछा खाइ ॥

—पद्माकर

पौन पूत आग कौ लगाय “भगवत” कपि,

लगत न घब काहु तुपक न तीर को ।

रातो भयो आसमान तातो भयो भासमान,

कारो पीरो नीर भयो नीरधि के तीर को ।

लफा लागी घरन जरन रन्घास लाग्यो,

ब्याकुल हे असुर वरै न रन धीर को ।

सुरन को जाप है कि सीता को सराप है,

कि रावन के पाप के प्रताप रबुधीर को ॥

—राजा भगवन्तल्लिह खीची

दौरबंद परसे दमकि दामिनी सो उठै,

कठिन कठोर जोर सोर सहारानो है ।

जोरत प्रतवा चाप टोरत न ताकौ कोऊ,

चारो थोर प्रले घन घोर घहरानो है ।

खंड खड हरी देखि परो मदि मडल में,

“अवेग बिहारी शरण” भान भररानो है ।

मंझा भररानो महानाद भररानो,

यमु चाप भररानो के अकाश भररानो है ॥

—ऋषध बिहारी शरण

हम करें नोकरी प्रहृत तलब कम पाते,

ये किमी तरह से अब तक पेट जिलाते ।
इस भँहगी से नित एकादशी मनाते,
लडके वाले सन धर में है चिल्लाते ।
है देसो हाहाकार मचो दिसि चारी,
भागो भागो अब काल पडा है भारी ॥

—चंद्रीनारायण चौधरी

समस्त सर्पा मँग श्याम ज्यो बढे,
कलिन्द की नन्दनि के सुअग्र से ।
खडे किनारे नितने मनुष्य थे,
सभी महा शक्ति भीत हो उठे ।
हुए कई मूर्च्छित घोर-जास से,
कई भगे मेदिनि में गिरे कई ।
हुई यगोडा अति ही प्रकम्पिता,
व्रजेश भी व्यस्त-समस्त हो गये ॥

X

X

X

निदाघ का काल महा दुरन्त था,
भयावनी थी रनि रश्मि होगई ।
तवा सर्मा जी तपती मसुधरा,
स्कुलिग-वर्षा-रत तप्त व्योम था ।
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में,
ज्वलन्त था आपत ज्वाल मालता ।

पतंग की नैय महा प्रचंडता,

प्रकम्पिता पादप पुंज पत्ति धी ॥

×

×

×

ग्रमह उताप अतीत था हुआ,

महा मधुद्विग्न मनुष्य मार था ।

शरीरियो को प्रिय शानि नागिनी,

निपाच की थी अति व्रज उन्मत्ता ।

×

×

×

स्नग्धावका साथ स्वकीय नीड म,

अघोल हो के खग घृत् था पडा ।

सभीत हो गय निदाघ से मनो,

नहीं गिरा भी तजती स्वसय थी ।

×

×

×

अपार पत्नी पशु अस्त हा महा,

सम्यग्रता थे सय ओग भागते ।

नितान्त हो भीत सरी सृपादि भी,

बने महा व्याकुल थे पला रहे ।

प्रलम्ब यातक प्रसू, उपद्रवी । अतीत मोघ यम दीप दह सा ।

कराल आरक्तिम-नेखान ओ । निपात्त फूटकार निकेत सपं था ।

बिलोत्तरेही उसने पराह की । बिलोद होती पर वीरता रही ।

अभीर होने बनता । । बडा बली बन्न शरीर-केयरी ॥

×

×

पला रहे थे उसको पिलोक के । असख्य प्राणी वन में इतस्तत ।
 गिरे हुए थे मदि में अचेत हो । ममीप के गोप सधेनु मंडली ।
 बड़ा बली एक विशाल अश्य भी । वनस्थली में विकराल मूर्ति था ।
 दुरन्तता से जिसकी निपीड़िता । नितान्त होती पशु मंडली रही ।
 प्रमत्त हो, था जब अश्य दौड़ता । प्रचंडता साथ प्रभूत वेग से ।
 अरण्य भू थी तब भूरि काँपती । अतीव होती ध्वनिता दिया रही ॥

X

X

X

पराक्रमी गीर-बलिष्ठ गोप भी । न सामना ये करते तुरग का ।
 घरघ थे घनते त्रिशद से । उसे कहीं देर भयाभिभूत हो ॥

—प्रिय-प्रवास (हरिऔध)

हरहरात एक दिस पीपल, कै पेड पुरातन ।

लटकत जामे गट घने माटी के घासन ॥

बर्षा ऋतु के काज ओरहु लगत भयानक ।

सरिता बहति सवेग करारे मिलत अचानक ॥

रगत कहू महुक कहू भिल्ली (कनकारैं) ।

काक मगडली कहू अमगल मत्र उचारैं ।

भई आनि तन सौंफ घटा आई धिरि कारी ।

सनै-सनै सब ओर लगी चादन अँधियारी ॥

भये इकट्ठा आनि तहाँ दौंकिन पिसाच गन ।

कूदत करत कलोल बिलकि दौरत तोरत तन ॥

आकृति अति विकराल धरे कुल्ला मे कारे ।

बन चदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ।

—जगन्नाथदास (स्ताकर)

लाकर माला सिद्दनाद करि घृन्द हागया मतनाला ।

क्षिपते फिरते है मृग भय का पडा बुद्धियो म ताला ॥

इनकी देख दुर्दशा दर से 'हर । हर ।' कहता है नाला ।

भय से क्षिप तम ने सोचा 'क्या जगी काल की है ज्वाला' ॥

—बट्टीनाथ भट्ट

रामदास स्वामी का उसको ज्योही शान्त हुआ वृत्तांत ।

भय से कँपने लगे अग सच होकर सज्ञाशून्य नितान्त ॥

साधारण बंगगी गिनकर जिसकी धुन डाली थी देह ।

बैठे वही शिवाजी के थे पूज्यपाद गुरु प्रभुता गेह ॥

घोर दह के ध्यान मात्र से रक्तहीन था उसका गात्र ।

करवे भूल बना बेचारा कूर कोप का पूरा पात्र ॥

प्रातः स्वर से आहि-आहि कर किन्तु लिया जब चरख प्रसाद ।

शुभाशीष दे श्रोसमर्थ ने किया अभय उसको साहाद ॥

—गोकुलचन्द्र शर्मा

लिये एक में अस्त्र अय कर में कुग पानी ।

जीत दान के लिये रहे तत्पर मुनि शर्मा ॥

गृही कवित हुई नाम से पशुराम के ।

सहमे सदा सभीत नियासी देर धाम के ॥

—कामताप्रसाद गुरु

आगे लगी वन से रँभाती हुई गाय शीत ।

भागो गोप वृद्ध बेगि सारे सरायोर से ॥

कान पड़ी धात भी पड़ी नेक नहीं ।

मे शोर ऐसे बडे जोर से ॥

दौड़े सेन छोड़-छोड़ पालक जो ठौर-ठौर ।

दीये मोथियो में बहे घारि की हिलोर से ॥

मार कर फूँक मानो मोरनी भी प्यार भरी ।

बोली बार-बार छिपने को कहीं मोर से ॥

काले-काले चौर वाले मेघों में प्रकाश छिपा ।

मानो ब्रज-ग्रधकार सिन्धु में समा गया ॥

बार-बार बाढय गिखा की भीति भीत कर ।

अमर में दामिनी-प्रभास भूरि भागया ॥

होने लगी घोर नीर-धर्पा ब्रज घोरने को ।

‘त्राहि-त्राहि-त्राहि’ शोर चारों ओर छागया ॥

धीरज समीर के भफोरो में सभी का उडा ।

पाहि-पाहि प्रलय प्रसंग पास आगया ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (गोवर्धन धारण)

इन्द्र धनुष सम विविध वर्ण-भय बीरो के यस्तो वाली ।

चपल चंचला के प्रकाश सम चमकीले यस्तो वाली ॥

पत्रन वेग भय बाह्य वाली गर्जन करती हुई बडी ।

उसी जगह से घन माला सम कौरव सेना दीख पडी ॥

सूर्यादय होने पर दीपक होजाता निपभ जैसे ।

उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैमे ॥

जग भर में ही बसका तो वह पहला साहस लुप्त हुआ ।

जगा हुआ उत्साह भीति को जागृत करके सुप्त हुआ ।

बोला तब भय से कातर वह शक्ति भूलि अपनी सारी ।

देखो-देखो, घृह्यतो ! यह सेना है केसी भारी ।

इसे देखकर घेय्यं छूटता थाग आपही है वकते ।

मैं पया, इसे स्वयं सुर-गण भी रण म नहीं हरा सकते ॥

मैं किस भौति लडूंगा इससे, लोथारों रथ अश्व अभी ।

सैय सहित जय पिता आएंगे होगा वस अब शुद्ध तभी ॥

चिन्दु ओर नागर की समता हो सकती है भला क्या ?

गुरनम गिरि से गज याचक को टकर लेगा योग्य नहीं ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (उत्तर ओर बृहन्नला)

रस-सामग्री द्वारा भयानक-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहिला, पङ्क्ति १

पृष्ठ ३६४—मरे भुवन

वचन उच्चारण ॥

यहाँ रजिवाजि, दिग्गज, महि, अहि, कोल, कूरम, सुर, असुर और मुनि आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि इन पर ही भय का अवलम्ब है—बिना इनके आश्रय के रस की स्थिति नहीं हो सकती। “राम का कोई-कौन तथा घोर कठोर रव” उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा भय सुदृढ़, विस्तृत तथा उद्दीप्त हुआ है। “मार्ग तज कर चलना, चिन्तना, डोलना, कलम-जाना और कान में हाथ देकर तथा विकल होकर विचारना” यह अनुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा उपर्युक्त भावों का बोध होता है और यही उपर्युक्त रसोत्पत्ति कर्त्ता कारणों के कार्य स्वरूप है। भूमि के डोलने, चिन्तने तथा व्याकुल होने में क्रमशः फण, स्वरभङ्ग-स्तम्भ, सात्विकानुभाव है। मार्ग तज कर चलना ।

इसी प्रकार विकल होकर

विचारना, मानसिकानुभाव है। विपाद, चिन्ता तथा त्रास संचारी भाव हैं, चिन्ता और विपाद असुरों को उत्पन्न हुए क्योंकि धनुष के टूटने में उन्हें अपने विनाश का ध्यान हुआ और त्रास रवि-वाजि इत्यादि सभी को हुआ। वस उपर्युक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “भय” स्थायी हुआ। अतः “यहाँ भयानक-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला, खंड ३

पृष्ठ ३६५—वैताल भूत वरपत बालू ॥

यहाँ वानर-भालु आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस का अवलम्ब है। कवि ने इनके ही द्वारा पाठकों को भय का दिग्दर्शन कराया है। वैताल, भूत तथा पिशाचों के भयावने रूप, उनके डरावने शब्द “धरु मारु” इत्यादि, मुख फैलाकर खाने को दौड़ना, बालू का बरसना, उनके हाथों में धनुष, नराच और कर बाल इत्यादि हत्याकारी अस्त्रादि का मौजूद होना और मृत पुरुषों के शिर इत्यादि का जोगनियों के पास होना “उद्दीपन विभाव” है। क्योंकि इनके द्वारा भय की और भी अधिक वृद्धि तथा पुष्टि होती है। “लगे कीस परान” और “भय विकल वानर-भालु” अनुभाव हैं, क्योंकि इन के द्वारा भय का अनुभव होता है। वन्दरो के भयभीत होकर भागने में कायिकानुभाव है, क्योंकि भागने की क्रिया शरीर के एक मुख्य अंग द्वारा की गई है। वानरों तथा भालुओं का भय से व्याकुल होना मानसिकानुभाव है, क्योंकि व्याकुलता का प्रभाव मन पर हुआ, इसी

भय से उन लोगों का कम्पित होना, रोमांचित होना तथा स्तम्भित होना इत्यादि—जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है—सात्विकानुभाव है। इन विभाव और अनुभाव रूपी कारणों द्वारा “त्रास” रूपी कार्य की सिद्धि हुई। अतः ‘त्रास’ संचारी भाव हुआ। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्मेलन से “भय” स्थायी भाव स्थिर हुआ। और इस सम्पूर्ण प्रक्रम द्वारा “भयानक-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण चौथा, खंड ४३

पृष्ठ ३६६—भलकति आँ

गजब इलाही।

यहाँ गनीम और गुनाही आलम्बन विभाव है, क्योंकि यही रस के आधार स्वरूप है, यही रस के मुख्य कारण है। यदि यहाँ गनीम और गुनाहियों का वर्णन न करता तो उसको स उत्पन्न कराने में बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होने की शक्यता थी। “कालह ते विकराल माधव के लाल के दल का जाना” “भुडभिलम भलान का भलकता आना” “तेगवाही (खल्लधारी) और सिलाही (हथ्याखद) इत्यादि का तमक र आना” यह उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनसे रस उद्दीप्त होता है। भय का कारण जो गनीम और गुनाहियों के हृदय में हिले ही से उपस्थित था, इन सब कारणों से और भी अधिक प्रकटित हुआ है—इन्हीं के द्वारा रस का विस्तार हुआ है। दभी की धुकार इत्यादि भी उद्दीपन विभाव ही हैं। इन उपरिक्त कार्यों का अनुभव ‘अकयक’ बोलने, “दर्ददर्द”

कहा धौं चही” “कौन को कलेउ धोकरेया भयो काल” “कापै यों परैया भयो गजव इलाही” इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट प्रगट होता है, अतः यह अनुभाव है। “अकवक” बोलने इत्यादि कार्यो में “स्वर भंगादि” सात्विकानुभाव है, उस समय उन्हीं लोगो के शरीर द्वारा जो चेष्टाएँ की गईं होंगी उनमें कायिकानुभाव है, किन्तु यहाँ यह भाव स्पष्ट नहीं है। मन में विचार करते कि आज किस पर काल कोपा इत्यादि, में मानसिकानुभाव है। “चिन्ता” “शङ्का” तथा त्रास इत्यादि संचारी भाव हैं, क्योंकि यहाँ तरगवत् इन का संचार हो रहा है। “दर्ई-दर्ई धौं कहा चही” में “चिन्ता” संचारी स्पष्ट है, यह आज किस पर कोपा है ? किस पर ‘गजव इलाही पडेगा’ इत्यादि बातों में “शङ्का” का संचार हुआ है और टूटे फूटे शब्दों के बोलने इत्यादि में त्रास का निवास है। इस प्रकार इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “भय” स्थायी हुआ। और इस सम्पूर्ण सामग्री के सम्मेलन से “भयानक-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण दसवॉ, खंड २३

पृष्ठ ४०२—समस्त सर्पो संग व्यस्त समस्त होगये ।

ब्रजेश, यशोदा तथा समस्त उपस्थित जन समुदाय “आल स्वन” विभाव है क्योंकि इनके द्वारा

यही भय की दशा प्रकाशित कर

समस्त सर्पो के साथ महाराज

को चीर कर निकलना

को और भी दृढ़ करता है। इन उपर्युक्त दोनों कारणों से "क्रिन्तारे पर खड़े हुए समस्त मनुष्यो का शक्ति होना" "मूर्छित होना" "भागना" "यशोदाजी का प्रकम्पित होना" और "ब्रजेश का व्यस्त होना" कार्यो की सिद्धि हुई, अतः ये कहिये कि इन वाक्यों से विभावो का अनुभव हुआ, अतः यह "अनुभाव" है। मनुष्यो के शक्ति होने में मानसिकानुभाव है, क्योंकि शका का करना काम मन का ही है, मनुष्यो के भागने इत्यादि शरीर-राहों द्वारा किये गये कार्यो में कायिकानुभाव है और "मूर्छित होना" "कम्प" तथा स्तम्भादि सात्विकानुभाव है। इन समस्त कारण, कार्यो में "शका" "वास" "आवेग" "जडता" इत्यादि का तरंगत्त्व अविचार है, अतः वे सचारी भाव हैं। मनुष्यो का शक्ति होना और वासग्रस्त होना कवि ने स्पष्ट वर्णन किया है, लोगों के एक दम उठकर दोड़ने तथा गिरने में आवेग और चपलता का संचार हुआ है। और ब्रजेश के व्यस्त समस्त होने में जडता सचारी है। इस इन कारण, कार्य और सहायको की सहायता से "भय" स्थायी हुआ, अतः "भयानक-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण सोलहवा, पङ्क्ति २६

पृष्ठ ४०५—रामदास स्वामी का

साक्षात् ॥

यहाँ पर "भूल करके क्रूर कोप का पूरा पात्र बननेवाला बेचाग (रूपक) "बालम्बन विभाव है" क्योंकि वही भय के प्रदर्शित करने में मुख्य कारण है और उसी के द्वारा रस आलम्बित हुआ है। "शिवाजी के पूज्यपाद गुरु का

होना” “उनको अपने द्वारा दड दिये जाने का स्मरण” तथा शिवाजी द्वारा अपने दडित होने का ध्यान “उद्दीपन विभाव” हैं क्योंकि इनके द्वारा रस और भी प्रदीप्त होता है। “रूपक की देह का रक्त हीन होना” “अगों का प्रकम्पित होना” “संज्ञाशून्य होना” तथा उसका आर्त्तनाद और ब्राहि-ब्राहि की पुकार ‘अनुभाव’ है ; क्योंकि इनके द्वारा भावों का बोध होता है, यह कारण रूप विभावों के कार्य है। ‘रक्तहीन होना’ तथा ‘संज्ञाशून्य’ होने में वैचर्य और अहों के प्रकम्पित होने में “कम्प” सात्विकानुभाव हैं। दड के ध्यान इत्यादि करने में मानसिकानुभाव और उसके आर्त्तनाद करने तथा ब्राहि-ब्राहि की पुकार करने के समय जो चेष्टाएँ की गई होंगी और जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है “कायिकानुभाव” है। शक्ता, विपाद, चिन्ता, दीनता और त्रास सञ्चारी भाव हैं। ‘न जाने क्या दड दिया जावे’ इत्यादि ध्यान (जो यहाँ गुप्त है) शक्ता प्रकट करते हैं। साधू को साधारण आदमी समझ कर दड देने में विपाद, अपने दडित होने के ध्यान में ‘चिन्ता’ और ब्राहि-ब्राहि करने इत्यादि में “दीनता” और काँपने तथा संज्ञा रहित होने में त्रास का संचार हुआ है। इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से “भय” स्थायी हुआ। अतः इस सब सामग्रियों द्वारा “भयानक-रस” की सिद्धि हुई।



वीभत्स-रस ।

थाई जासु गनानि है मो वीभत्स गनाय ।
 पीव, मेद, मज्जा, रुधिर, दुर्गन्धादि विभाय ॥
 नाक मूदिवी कम्पतन, रोम उठय अनुभाव ।
 मोह, असूया, धृक्कादिक सचारी भाय ॥
 महाकाल मुर नील रँग, सुगोभत्स-रस जानि ।
 ताको कर्त दशहरण, रस ग्रन्थनि वर ग्रानि ॥

—जगद्विनोद



नि की पूर्ण स्थिरता का नाम वीभत्स-रस है । पीव, मेद, मज्जा, रुधिर और दुर्गन्धादि घृणार्ह पदार्थ इसके विभाव हैं । शरीर का प्रकम्पित होना, नाक का चन्द करना और रोमाँच इत्यादि का होना अनुभाव हैं । मोह, असूया और मूर्छा इत्यादि इसके सचारी भाव हैं । इस रस का देवता महाकाल, और रगनीला है ।

यह रस हमारे हृदय में विरक्त भाव का संचार कराता है । बुरी कथाओं के श्रवण करने से मन में घृणा, कुसंग से उदासीनता और कुसर्मा से निन्दा का भाव उत्पन्न कराने वाला यही रस है । आदि में इस रस द्वारा उन वस्तुओं, दृश्यों तथा समाचारों में घृणा उत्पन्न होती है जो ज्ञानेन्द्रों तथा कर्मेन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं, चाहे उन वस्तुओं, कार्यों

स्वभावों से अरुचि होती है जो मन से सम्पन्नित है। इसी प्रकार मिथ्या, अनाचार युक्त और दूषित कार्यों से प्रथकत्व कराना। यदि इस रस का एक लुप्त आदेश है जो ईश्वरोपासना रूपी महान कार्यों की ससिद्धि के वाधक स्वरूप अनेकों कुरुमों का वायकाट कराना। ऐसे—अद्वितीय और उत्कृष्ट कार्य भी इसी रस के धार्य हाथ का खेल है।

अब हम नीचे वीभत्स-रस के कुछ चुने हुए उदाहरण अंकित करते हैं, जो इस रस के समझने में विशेष लाभकारी सिद्ध होंगे। उदाहरण :—

फटकटहि जनुव भूत प्रेत पिमाच टप्पर साचरी ।

वेताल घोर कपाल ताल बजाइ जोगिन नाचरी ।

अतावरी गहि उडत गीर पिताच कर गहि यावहीं ।

सग्राम पुर चासिन मनहु बहु माल गुडि उडानहीं ।

× × ×

जल जनु गज पदचर तुरग सर त्रिविध याहन को गने ।

सर शक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने ।

× × ×

मज्जहि भूत पिताच वेताला । प्रमथ महा भोटि ॥ कराला ॥

काफ कक सै भुजा उडाहीं । इकते धीन एक लेह खाहीं ॥

राँचहि गोध आंत तट भये । जनु बंसी खेनदि चित दये ॥

बहु भट वहहि चढ़े स्वग जाहीं । जनु नावर खेनदि सरि मात ॥

छपदि पैल जनु निर्जर बाटी । गोपित सर काइर मय काटी ॥

× × ×

कादर भयकर रवि सरिता चली परम अपावनी ।
 दोउ कूलदल स्थरेत चत्र अबत^० पदति भयावनी ।
 जल जन्तु गज पदचर तुरग रथ विविध बाहा के गने ।
 शर यक्ति तोमर परशु चाप तरग चर्म कमठ घने ।

× × ×

धीर पडे जनु तीर तरु, मज्जा बहि जनु फेन ।
 कादर देखत इरहि जिय, सुभटन के मन चैन ॥

सोनित खनत सोह तन कारे । ॥

× × ×

याहुति देत रुधिर अर भैंसा । ॥

× × ×

कीहेसि छुटि रुधिर कच टाडा । ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

माता ही को मास तोड़ि लागतु है मीठो छय,
 पियत पिता को लोह नेक न अघाति है ।
 भेयन के कटन को काटत न कसकति,
 तेरो हियो कैसेा है सु कहत सिहाति है ।
 जर-जब होती भेंट मेरी भट तन-तय,
 ऐसी सोई दिग छठि पानि न अघाति है ।
 गेतनी पिशाचिनी निशाचरी की जाई है तु,
 केसोराय की सो कटु तेरी कीन जाति है ।

×

×

हरे टाट घुन घने धूम धूमसेन सने,

भींगुर छगोड़ी साँप बिच्युन की घात जू,

कटक कलित तृन घनित बिगछ जल,

तिनके तल-पतल ताफो लनचात जू,

कुलटा कुचीन गान अँधतम अँधरात,

कहि न सकत बात आनि अकुलात जू,

छेडी में घुसे कि घर ई धन के घन स्याम,

परचरनीणि यह जात न घिनात जू,

—केशवदास (रसिक प्रिय)

पढ़त मन अर यश अश लीलति इम जुगिन ।

मनहुँ मिलत मदमत्त गरड तिय अरण उरगिन ॥

X

X

X

हरबरात हरपात प्रथम परसन पलपगत ।

जहँ प्रताप जित जग रँग अँग अँग उमगत ॥

जहँ पदमाकर इतपति अति रन रक्त नहिय पहत ।

चकचकित चित चरबीन जुभि चकचकई चही रहत ॥

X

X

X

रिख अत्रिन की कुहली, जुगिनि मिलि जुचवाति ।

पौनहि में पागी मनी, जुघति जलेबी लाति ॥

X

X

X

आनन गगानि जो बखान करौ ज्यादा यह,

मादा मनशुत औ मज्जा की मलीती है ।

बड़े पदमाकर जरा तो जागि भीजी तन,

छीजा नि

सीतापति राम भ सनेह यदि पूरो कियो,
तो तो दिख्य देह यम यातना ते जीती है ।
रीती रामनाम त रहि जो बिना काम पह,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है ॥

—पद्माकर

लखि विरूप धूरपनसे, रुधिर चरवि खुबुधात ।
सिय हिय में घिनकी लता, भरि सु द्वै द्वै पात ॥

X X X
सिरपै बैठो काम आँख दोर खात निकारत ।
छोँचत जीभहि स्यार अतिहि ध्यानँद घर धारत ।
गिद्ध जाँघ कई खोदि खोदि कै मौस बचारत ।
स्थान आँगुरिन काटि काटि के खान निचारत ।
पहु चील नाँचिले जात तुच मोद मश्यौ सय को हियो ।
मनु प्रह्वभोज भिजमान कोट थाशु भिखारिन कईँदियो ।

X X X
हाड मौस लाला रकत, पसा तुचा सय सोय ।
द्विष भिष दुरगध मय, भरे मनुस के होय ॥

X X X
जो दग कोर महीप निहारत । आज़ु काक तेहि भोज निचारत ॥
हम कड़-कड़-कड़ कड़ कट-कट हड्डी को तोड़ेंगे ।
हम भड-भड़ घड-घड पड पड सिर सय का कोड़ेंगे ॥
हम घुट घुट-घुट-घुट-घुट घुट सोह पिलावेंगी ।

हम

-चट घट ताली बजावेंगी ॥

हम काट-काट कर शिर को गैदा उड़ावेंगे ।

हम खींच-खींच कर चरनी पयापा बालेंगे ॥

हम माँग में लाल-लाल लोह का सेंदुर लगावेंगी ।

हम नस के तागे चमड़े का लहंगा बनावेंगी ॥

लोह का सुँह से फर-फरं फुहारा छोड़ेंगे ।

माला गले पहिरने को अँतड़ी को जोड़ेंगे ॥

हम लाद के आँधि घुस्से चौकी बनावेंगी ।

कफन पिछा कर लडकों का वस पर मुलावेंगी ॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सत्य-हरिश्चन्द्र-नाटक)

बैठिये की, उठिये की, चलिये की, बोलिये की,

जानत १ एकौ चाल आ जग टाँचे में ।

देखिये में मानुष की आकृति दिखाई परै,

पर नर-नशू औ परिन्द हैं सु जाँचे में ॥

गवाल कथि जानी है विरचि तुच्छ जतुन कौ,

डारि और डोर लगि रयालन के खाँचे में ।

कूकर तें, शूकर तें, रासभ तें, बरतुन तें,

॥ सँचि-सँचि जीव डारे मानुष के साँचे में ॥

—गवाल कवि

नोट.—किन्हीं किन्हीं विद्वानों ने वीभत्स-रस के दो विभाग करना निश्चय किया है—

(१) परनिष्ठ—(२) स्वनिष्ठ ।

(१) परनिष्ठ, वह है जिससे वीभत्स उपजै ।

(२) स्वनिष्ठ—वह है जिसमें बेराग्य प्रगट हो ।

दूत रहे न पुरीष रुका पटकरी पिचकारी ।

रस बीभत्स बहाग दुरे प्रसु प्रेम पुजारी ॥

भीड़ें सुग सार बहै आँखिन में दीड राखि,

बानन मं सिनक रेट भीतन पै डारिदेनि ।

प्राँचि-खाँचि सुराचि सुजावै, ठाड़ी पेड़ू-मेठ,

टूड़ी लौं सटकते बुचन काँ उगारि देति ।

लोढि-लोढि चीन घोंघरे की पाग-बार किरि,

बीन-बीन बींगर नखन धरि मार दति ।

लूगरा गँधात चढ़ी चीकट सी गात छुछ,

धोने न अहात प्यारी फूहड़ बहार देति ॥

×

×

×

लम्बे-लम्बे कोटन सो भूलति ही सौतिन की,

निरया की डारन में पटली अटकगई ।

लागत ही भटका उखड़ गयो आसन पै,

साडिका ली डोरिन काँ पकड़ि सटक गई ।

‘शकर’ दिनार पद पाथर पै दृष्टि पड़ी,

कूटो सिर काटी नर विलही पटक गई ।

छूटि गई नारी सीरी परि गई सारी आज,

मरि गई दारी, मेरे मन की सटक गई ॥

—शुकर

कहुँ सुलगत कोऊ चिता कहु फोड़ जाति बुझाई ।

एक लगवाई जाति एक श्री राम बहाई ।

पिन्धि रक्त की उठत ज्वाप दुरगधनि भटकति ।

कहुँ चरणी सों

दह दहकति ॥

कहूँ फूँकन हित धरयो मृतक तुरतहि तहँ आयो ।
 पर्यो अग अधजरयो कहूँ फोक कर सायो ।
 कहूँ स्वान इक अस्थि खड लै चाटि चिचोरत ।
 कहूँ कारौ महि काफ ठौर सेां ठोक द्योरत ॥
 कहूँ शृगाल कोठ मृतक अग पर बाक लगावत ।
 कहूँ कोठ शव पर बैठि गिह चड चोंच चलावत ।
 जहँ तहँ मज्जा मौस रुखि लखि परत बगारे ।
 जित तित छिटके हाड़ स्येत कहूँ-कहूँ रतनारे ॥
 X X X

फोक कड़ाकड हाड़ चाबि नाघत दै ताली ।
 फोक पीषत रुखि खोपरी की करि प्याली ।
 फोक अँतड़ी की पहर माल इतराई दिखावत ।
 कोठ चरथी, लै चोप सहित निज अंगनि लावत ।
 कोठ मुँहनि लै मानि मोद कन्दुक लों डारत ।
 कोठ रुखनि पे बेठि करेजो फारि निकारत ॥

—रत्नाकर

बगला बैठा ध्यान में, प्रात जल के तीर ।
 मानौ तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर ॥
 मलकर भस्म शरीर, तीर जय देखी, मञ्जरी ।
 कहूँ, 'मीर' असि चोंच, सद्बची फौरन निगली ॥
 फिर भी आवें शरय, पैर जो सज के अगला ।
 इनके भी तू प्राण, हरै रे ! छी ! छी ! बगला ॥

—मीर

फटफ-फटफ काटि कीट से बडाये केते,

‘भुपय’ भनत मुख मोरे सरकत हैं।

रन भूयि लेटे अघफँटे अर सँटे परे,

रुधिर लपटे पठनेटे करकत हैं ॥

मोटी भई चंड़ी बिन छोटी के चपाय मोस,

खोटी भई सम्पति चकत्ता के पुराने की।

अजौ भूतनाथ मुँदमाल लेत हरपत,

भूतन अहार लेत अजहुँ बकाह है।

नरी रन मयइल होलन रुधिर अजौ,

अजौ रवि मयइल होलन की राह है।

प्रति भट कटक कटीले केते पाकि कादि,

कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को।

रहत अछक पै भिटे न घक पीउन की,

निपट जो मोंगी दर बाहु के दरै नहीं।

मोजन बनावै नित घोखे खानखानन के,

सोनित पचावै तऊ बंदर भरै नहीं।

बगिलत आसी तऊ सुकल समर बीच,

राजै राव बुझ कर विमुख परै नहीं।

तेग या तिहारो भतगरी है अछक मौलो,

जौ सों गज की गजक करै नहीं।

जय चढी परचड प्रचल दानव दलघेरी ।
 राम भजन दे हाँक लियो जोगिनगन टेरी ।
 लखि-लखि मुण्ड प्रचड मुकति जहँ तहँ महकाली ।
 करति शुद्ध अनि क्रुद्ध भई रन माँहि कराली ।

X

X

X

पट्ट-पट्ट पटकति भटन कट्ट-कट्ट सिर कटक के ।

घट्ट-घट्ट घटकति रुधिर खिलखिलाय चढी हँसै ।

—रामभजन

झपति तराति परी श्रोनित तरङ्गिन में,
 गति व गनावै जाके रन में रलन की ।
 आँत गरहारै चरवीन ते सँघारै अङ्ग,
 भिन्न-भिन्न करति माखी रसिया मलन की ॥
 फँहँ चिरजीव आजु रन में सँघारे शत्रु,
 भूप दरभगा बाधा गिन्सी भलन की ।
 कालिका कृपाय लिये पीवति रुधिर जहाँ,
 जोगिन चनाती खडी खोपडी जलन की ॥

—चिरजीवी

इस ओर देखो रक्त की यह कीच कैसी मच रही ।

है पट रही खण्डित हुए बहुत कण्ड सुण्डो से महा ।

कर पद असह्य कटे पडे शस्त्रादि फैले हैं तथा,

रक्त-स्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो गया ॥

मुकते किसी को दे न जो नृप शकुट रसों से जडे,

ये अव शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े !

पेशी समस्त माणिक्य को बंद बिहग देखी ले चला,
पड भोग की ही भ्रान्ति में ससार जाता है छसा ॥

× × ×

इस ओर दुःशासन हृदय का भीम ने योगित प्रिया,
हा ! द्रौपदी के दुःख का यो देख सम बदला लिया ॥
—मैथिलीशरण गुप्त

कहीं धक-धक चितामें जल रहीं थीं ,
धुआँ छुँह से डगल बेकल रहीं थीं ।

कहीं शव अथगला कोह पडा था ,

निदुरता काल की दिखला रहा था ।

—सनेही

कहीं हय मेघ होता है मही पर, हविष का होम होता है कहीं पर ।
तुम्हें पर सौत्य कर नरमेघ ही है, कभी भी पूर्ण होता वह नहीं है ।

× × ×

अतिथि है श्वान, गीदड़ गिद्ध तेरे, सदा सभ हैं मनोरथ सिद्ध तेरे ।
बसा घाटा तुम्हें किस बात का है ? खिलोना तू बना दिन-रात का है ।
कहीं जल में बहे शव जा रहे हैं, वहाँ पर काक कडखे गा रहे हैं ।
कहीं शव सड़ रहे हैं पास तेरे, लगे पर क्यों हृदय में आस तेरे ।
कहीं पर हो रहा है घोर हा ! हा !, कहीं पर गूजता है शास-स्वाहा ।
बना है केन्द्र तू वीभत्स-रस का, तुम्हें है क्यों लगा जग-नाश चसफा ।

—रामचरित उपाध्याय (श्मशान)

खून से है रंगे जिन्होंने हाथ , है फलेने पकड़-पकड़ मसले ।

—सनेही

बहुतेरे घायल गिरे, रुएइ सुषम्भ खेत करि ।
गिरे पिधौरा राय भी, घने घाव तन छाव सरि ॥

X

X

X

मृतक समुक्ति हड़गिल्ल गीध थे चोंच चलावत ।
आमिष भोजी पार-पार थे तन डुकरानत ।

—श्रीकवि

बहने लगी सवेग पहाँ शोणित की धारा ,
लागो से पट गया शीघ्र मुद-स्थल सारा ।
रख कर घन पर पैर वेग से बढ़ कर आगे ।

X

X

X

—सियारामशरण

बहती है रक्त धारा सरिता के रूप में,
कुजर पड़े हैं बस भग्न गिरि शृङ्ग से ।

X

X

X

तीर पर एक महाराज रथी जाता है,
भग्न, बर वाला बड़े कष्ट से ।

—मधुष

रस सामग्री द्वारा वीभत्स-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण ... खंड १

पृष्ठ ४१४—कटकटाहिं . . . मुड्डि उडावही ॥

जंघुक, भूत, पिशाच, प्रेत, बैताल और गीध, यह आल-
म्यन विभाव हैं ; क्योंकि रस के मुख्य प्रवर्तक हैं । यदि यहाँ

इनका धर्णन न होवे तो रस आलस्यित ही न होवे, इनके द्वारा ही घृणा की उत्पत्ति हुई है—यही घृणा के स्थान हैं। खप्पर, कपाल ताल और अतावरी, उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा घृणा और भी पुष्ट तथा विस्तृत होती है। यहाँ पर अनुभाव और व्यभिचारी भाव गुप्त हैं। पिशाचों के खप्पर धारण करने, गिद्धों के श्रंग्रावली लेकर उड़ते हुए देखने में, उस समय शरीर की जो सहज चेष्टाएँ हुई होंगी यथा—प्रकम्प इत्यादि, वही सात्विकानुभाव है और शरीर तथा मन द्वारा उत्पन्न हुए भाव कायिकानुभाव तथा मानसिकानुभाव हैं। मोह, असूया और मूर्छादि सचारी भाव हैं। यदि घृणा के कारण अथवा दुर्गन्ध इत्यादि का प्रभाव इतना पडा हो कि दर्शक को अपने शरीर का ज्ञान न रहा हो तब तो मोह-सचारी का संचार माना जावेगा, यदि किसी प्रकार कष्ट अथवा क्रोध के कारण उपर्युक्त घृणित कार्य करने वालों को कष्ट देने का विचार चित्त में प्रकट हुआ हो तो उसे असूया सचारी मानेंगे, और इसी प्रकार गिर पड़ने इत्यादि की दशाएँ मूर्छादि सचारी भाव कल्पित की जायेंगी। इस प्रकार इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से “ग्लानि” स्थायी हुई, अतः यहाँ “वीमत्स-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला, पण्ड ३

पृष्ठ ४१४—मज्झिं भूत पिशाच

सर माँहों ॥

यहाँ ग्लानि होने के मुख्य कारण (१) भूत, पिशाच, पैताल और प्रमथ हैं, क्योंकि शोणित-सरिता में वही स्नान कर रहे हैं,

जिसके द्वारा घृणा उत्पन्न होती है, इसी प्रकार (२) काक, कक के भुजा लेकर उड़ने से घृणा उत्पन्न होती है, अतः वह (काक) घृणा का मुख्य उत्पादक है, (३) और क्योंकि आँतों के गीँचने को देखकर भी घृणा होती है जिसके कर्ता गीध हैं, अतः उपर्युक्त भूतादि सब “आलम्बन-विभाव” हैं। कटी भुजाएँ, आँते, बहते हुए मृत भेटों के शरीर और श्लोथित के सर इत्यादि ‘ग्लानि’ को और भी प्रज्वलित करते हैं, अतः वे उद्दीपन विभाव हैं। “कम्प” “रोमाँच” और “मूर्च्छा” इत्यादि “सात्विकीभाव” हैं, नाक चन्द करके भागना, धूकना और आँखें चन्द कर लेना इत्यादि अन्य “अनुभाव” और “मोह” इत्यादि संचारी भावों का स्पष्ट वर्णन नहीं, किन्तु केवल उनकी झलक ज्ञात होती है। वस इन उपर्युक्त ‘विभाव’ ‘अनुभाव’ और संचारी भावों के संयोग से “ग्लानि” स्थायी हुई, अतः “बीभत्स-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण तीसरा, खंड १३—२

पृष्ठ ४१६—रिपु अत्रनि

जलेबी खाति ॥

यहाँ पर जुगिन “आलम्बन विभाव” हैं क्योंकि इसके द्वारा रस आलम्बित होता है, यदि यहाँ पर उक्त आलम्बन का वर्णन न होता तो रस के लिये कोई आधार ही न था। इसी प्रकार ‘रिपु अत्रनि की कुण्डली’ जिसकी उपमा, ‘पीव में पगी हुई जलेबी’ से दी गई है, “उद्दीपन-विभाव” है, क्योंकि इसके द्वारा “ग्लानि” का विस्तार अत्यधिक हो जाता है। “आलम्बन” तथा “संचारी भावों” का वर्णन यहाँ पर

स्पष्ट रीति से नहीं किया गया है किन्तु उक्त कार्य को देखने तथा उसके वर्णन के श्रवण करने से दर्शकों तथा श्रोताओं में जो प्रभाव पड़ेंगे वह स्पष्ट हैं। किसी-किसी की आखें बन्द हो जायेंगी, सिर इत्यादि में एक प्रकार की अस्थिरता आजावेगी, कोई कोई नाक मुँह बन्द करके भागेंगे, इत्यादि कार्य 'अनुभाव' हैं। इसी प्रकार ऐसे समय में 'मूर्छा' इत्यादि जिन भावों का संचार होना सम्भव है, वह संचारी भाव हैं। इन्हीं विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से 'ग्लानि' स्थायी भाव स्थिर हुआ, अतः यहाँ "बीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पाँचवाँ, लड १४

पृष्ठ ४१७—ललि विरूप

द्वै-द्वै पात ॥

यहाँ पर विरूप शूर्पणखा ही आलम्ब्य विभाव है, क्योंकि उसी के द्वारा "सिय हिय मैं धिनकी लता छै-छै पात" हुई है। वही घृणा की मुख्य उत्पादक है—उसी को ग्लानि का मुख्य आधार तथा उसको आलम्बित करने का एक मुख्य कारण समझना चाहिये। "रुधिर तथा चरवी का चुचवाना" उस ग्लानि को अत्यंत विस्तृत करता है, उसके द्वारा शूर्पणखा के विरूप दर्शन से उत्पन्न हुई अरुचि और भी प्रबल होगयी, पहिले से उसमें अधिक बल तथा परिपुष्टि का प्रादुर्भाव होगया, अतः यह "उद्दीपन-विभाव" है। सीताजी के हृदय में, चरवी तथा रुधिर को चुचवाते हुए देखकर "धिनकी लता का द्वै द्वै पात होना" "अनुभाव" है क्योंकि यह ५५

तथा चरयी और रुधिर कारणों का कार्य है, या यों कहिये कि इसके द्वारा विभावों का बोध तथा अनुभव होता है। यहाँ पर संचारी भावों के स्थिर करने के लिये कोई प्रयत्न-प्रमाण नहीं है, अतः अनुमान से “मोह” “असूया” इत्यादि का होना कल्पित कर लेना चाहिये। इन कारण, कार्य और सहायकों की सहायता से “ग्लानि” स्थायी भाव स्थिर हुआ, अतः “वीभत्स-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण इकोसवाँ, खंड पांचवाँ

पृष्ठ ४१६—भौंडे मुन्न

वहार देत ॥

यहाँ पर फूहड़ “आलम्बन-विभाव” है। क्योंकि इसके द्वारा ही घृणा, उदासीनता तथा निन्दा का भाव उत्पन्न होता है, यही घृणोत्पादक रस की मुख्याधिष्ठात्री है, इसी के द्वारा घृणा का भाव आलम्बित होता है और यही रसोत्पत्ति का मुख्य कारण है, अतः “आलम्बन” होने के पूर्ण योग्य है। “भौंडे मुन्न से लार का बहना” “आँखों में ढोड़” “कानों में राधि” “रेंट का सिनक कर दीवारों पर डाल देना” “लौंस-लौंस और खुरच-खुरच कर खुजाना” “पेड़ पेड़ तथा टुण्डी तक लटके हुए कुचों को उधार देना” “घाँघरे की चीन को बार-बार लौटना, और उसमें से चीन-चीन कर डींगों का निकालना तथा नखों पर रख कर मारना” “लूगरा का गंधाना और उस पर चीकट का चढ़ा होना” और “कमी न नहाना, न मुख-हाथ धोना” यह सब उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके

द्वारा घृणा का प्रवाह और भी अधिक हो जाता है, यह फूहड़ से उदासीन भाव उत्पन्न कराने के लिये अत्यंत सफल, दृढ़ तथा पुष्ट अथवा यो कहिये कि इन्हीं के द्वारा रस प्रदीप्त हुआ है, अतएव "उद्दीपन विभाव" होने के सब प्रकार अधिकारी हैं। यहाँ हर उपर्युक्त कारणों के कार्य तथा उनके सहकारी-गण स्पष्ट रीति से प्रगट नहीं किये गये हैं, "प्यारी फूहड़ बहार देत" मात्र एक वाक्य से ही व्याज द्वारा कवि ने फूहड़ से अधक्षा प्रकट की है, इसी को हम साधारणतया, उपर्युक्त "आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के कार्य कह सकते हैं, अतः यह "अनुभाव" है और इसके सहायक "असूया" इत्यादि सचारी भाव (गुण) हैं। वस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से 'ग्लानि' स्थायी भाव स्थिर हुआ, और इस प्रकार इस सम्पूर्ण सामग्री के सम्मिश्रण से "धीमत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण नयाँ, पं. २३

पृष्ठ ४१६—फहुँ सुलगत

कारि निकारत ॥

यहाँ पर, "श्मशान भूमि" आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसी के द्वारा घृणा की उत्पत्ति हुई है और यही 'ग्लानि' को आलम्बित करता है, यही 'क्रुचि' रूपी कार्य का प्रधान कारण है और शेष गौण। 'चिताओं का सुलगना' 'पुष्पना' 'एक में आग का लगाना' 'एक का जल में गहाना' 'विविध रंग की ज्वालाओं का उठना' "दुर्गन्ध" "चरयी का -"

चटाना” “तुरत आया हुआ मृतक” “अधजला अग” “खाया हुआ कर” “स्नान का अस्थि खण्ड लेकर चाटना तथा चचोड़ना” “काकों का चोच से काले पडे हुए स्थान को ठोकना और टटोलना” “शृगालों का मृतक अग पर खाक लगाना” “शवों पर बैठ कर गिद्धों का चोच चलाना” “जहाँ तहाँ मास मज्जा और रुधिर का लल पडना” “इधर उधर स्वेत तथा रतनारे हाड़ों का छिटका होना”—“हाडे के कड़ाकड़ चवाये जानें का शब्द” “खोपड़ी की प्यालियों में रुधिर का पिया जाना” “अंतड़ियों की माला पहिन कर दिखाना” “चरबी का बड़े चोप के साथ निज अंगों में लगाता” “मुडों का मोद के साथ कन्दुक की तरह उछालना” और “रुडों पर बैठ कर फलेजों का निकालना” यह ससंपूर्ण दृश्य “उद्दीपन-विभाव” है, क्योंकि यह श्मशानरूपी प्रश्रान कारण के गौण तथा अवान्तर विभाग हैं, इनके द्वारा निन्दा तथा घृणा का भाव अत्यंत विस्तृत और परिवर्द्धित होता है। यह मनुष्य की कुरुचि के परिपुष्टक है और यही आलम्बित रस के उद्दीपक है। इन उपर्युक्त कारणों के कार्य आलम्बन तथा सहायक सहकारी भाव, स्पष्टरूप से वर्णित नहीं हुए हैं, केवल अनुमान और कुछ स्वयं सिद्ध प्रमाणों द्वारा आलम्बन विभाव नाक यन्द कत्ता, कम्प और मूर्छादि ई और इसी प्रकार सचारी भाव मोह, असूया इत्यादि हैं। इन सब के द्वारा ‘ग्लानि’ स्थायी हुई, अतः “बीभत्स-रस” की सिद्धि हुई।

अद्भुत-रस

जाको थार्द आचरज, सो अद्भुत रस गाव ।
 असभवति जेते चरित, निनको लखत विभाव ॥
 बचन विचल बोलनि कँपनि, रोम ठठनि अनुभाव ।
 वितरक शका मोह ये, तहँ सचारी भाव ॥
 जासु देवता चतुर्मुख, रग बखानत पीत ।
 मो अद्भुत रस जानिये, सकल रसन को भीत ॥

—जगद्विनोद



श्चर्य की पूर्ण सिरता को अद्भुत-रस कहते हैं । इसके आलम्बन विभाव अचन्मित तथा चकित कर देने वाली वस्तुष, दृश्य, चरित्र तथा वर्णन हैं, गुण वैचित्र्य तथा महिमा इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं । इसी प्रकार मुग्ध

से टूटे फूटे शब्दों का निकलना, शरीर का प्रकम्पित होना तथा रोमांचित होना "अनुभाव" हैं और वितर्क सन्देह इत्यादि सचारी भाव हैं, इस रस के देवता चतुर्मुख (ब्रह्मा) हैं, और वर्ण पीला है ।

इस रस के प्रभाव से हम लोग प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों को बोध में लाने का परिश्रम करते हैं, यह रस हमको अन्वेषण करने की टेव सिखाता है । यही रस हमको परमात्मा की सर्व व्यापकता का बोध

"सी रस के ठाग हमको

जीवन के निगूढ़ रहस्यों का परिचय होता है। यदि हम इस रस के उदाहरण जानने की इच्छा करें तो सर्व श्रेष्ठ उदाहरण यह सम्पूर्ण सृष्टि ही होगी। यदि हम ससार की किसी भी वस्तु की उत्पत्ति तथा विनाश पर विचार करने बैठे तो हमें आश्चर्य-सागर में निमग्न होना पड़ेगा। एक छोटा सा बीज भूमि के गर्भ में गिर कर, खाद, जल, वायु और आतप के संयोग से एक बड़ा वृक्ष बन जाता है, पुनः उसी वृक्ष से वैसे ही अनेक बीज उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे एक के द्वारा वह स्वयं उत्पन्न हुआ है; क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य इत्यादि जीवधारियों का एक जल बुन्द से उत्पन्न होना और फिर उन्हीं के द्वारा अन्य प्रजोत्पत्ति का क्रम स्थित रहना क्या कम आश्चर्य की बात है? क्या पंच तत्त्वों का चक्र मनुष्यों को चक्र में नहीं डालता, कहीं तक कहा जावे, ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं का भंडार है, जितना ही उसका निरीक्षण करते हैं, उसका अन्वेषण करते हैं, और उसकी छानबीन करते हैं, उतनी ही विचित्रताओं की नवीन-नवीन शृङ्खलाएँ निकलती चली जाती हैं। इन विचित्रताओं की खोज करते-करते विचारे वेद पुराणादि भी थक गये, चतुर्मुख ब्रह्मा भी इसके सम्पूर्ण रहस्य समझने में असमर्थ रहे। गणेश, सुरेश, दिनेश, शची, शारदा इत्यादि सभी एक मुख होकर 'नेति-नेति' की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करने लगे; फिर हम जैसे अल्पज्ञों का क्या कथन है। हमारा साहित्य इस रस के उदाहरणों से भरा पड़ा है, हम नीचे इन

रस से सम्बन्ध रखने वाले कुछ उदाहरणों को उद्धृत कर पाठकों को भेट करते हैं, जिनसे उसके समझने में विशेष सहायता मिले—

सती दीक्ष कौतुक मग जाता । आगे राम सहित सिय भ्राता ॥
किर चितरा पाछे प्रभु देखा । सहित बन्धु सिय सुन्दर येपा ॥
जहँ चितरहि तहँ प्रभु आसीना । सेवाहि सिद्ध, सुनीस प्रमीना ॥
देखे गिर, निधि पिप्पु अनेका । अमित प्रभाव एक तैं एका ॥
पदत चरण करत प्रभु सेवा । विविध येष देखे सब देया ॥

सती, निघात्री, इन्दिरा, देखीं अमित अनूप ।

जेहि-जेहि येष अनादि सुर, तेहि-तेहि तनु अनुरूप ॥

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते । शक्तिन सहित सकल सुर तेते ॥
जीय घराघर जे ससारा । इसे सकल अनेक प्रकारा ॥
पूजहि प्रभुहि देव बहु येपा । राम रूप दूसर नहि देखा ॥
अनोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न येष घनैरे ॥
सोइ रघुर साइ लक्ष्मण सीता । देखि सती अति भई सखीता ॥
हृदय कम्प तनु सुनि कहु नार्हो । नयन मृ रि बैठी मग मार्हो ॥
बहुरि निनोकेउ नयन डगती । कहु न दीख तहँ दल कुमारी ॥
पुनि-पुनि नाइ राम पद शीथा । चलीं तहँ जहँ रहे गिरीया ॥

×

×

×

करि पूजा नवेद चढ़ाना । आपु गई जह पाक बगवा ॥
बहुरि मातु तहँ चलि आई । भोजन करत देखि सुत जाइ ॥
गइ जननी सुन पद भयभीता । देखा बालक तहँ पुनीता ॥
बहुरि आई नया सुत सोई । हृदय कम्प मन वीर न होई ॥

इहाँ उहाँ दुइ बालक देया । मति भूम भोरि कि आन विसेखा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हैंनि दीन मधुर सुसुकारी ॥

दियरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखड ॥

रोम-रोम प्रति राजहि, कोटि-कोटि, महाएड ॥

अगणित रति शशि शिव चतुरानन । बहु गिरि सरित सिन्धु महि ज्ञान ॥
काल कर्म गुण दोष सुभाज । सो देखा जो सुना न काज ॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा । तन मूढ़ि चरणन सिर गावा ॥
विस्मयवन्त देखि महतारी । भये बटुरि शिशु रूप जरारी ॥

X

X

X

सानुज मिलि पल मह सन काज । कीन्ह दूरि दुख दारि राहु ॥
यह बड बात राम कहैं नार्ही । जिमि घट कोटि एक रति द्यार्ही ॥
देखी कपिन निसाचर अनी । बहु अगद कपि राक्षस धनी ॥

पहु बालि सुत लक्ष्मण वपीश निलोकि मर्कट अपहरे ।

पनु चित्र निखित समेत लक्ष्मण जहैं सो तहैं चितवत खरे ॥

निज सेन चकित निलोकि हंसि धनु तानि सर कोसल धनी ।

माया हरी हरि निमिष मह हरपी राकल मर्कट अनी ॥

काटत ही पुनि भये गवीने । राम बहोरि भुजा सिर छाी ॥

कटित कटित पुनि नूतन भये । प्रभु बहु बार बाहु सिर द्ये ॥

रहे छाह नभ सिर अरु राहु । मानहुँ अमित केतु अरु राहु ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

केयव । कहि न जाइ का कहिये ।

नकात तुम रग रगिनि अति मधुकि नाहि मन रहिये ॥

शून्य भीति न रगिनि नहि तनु विनु निज चित्तरे ॥

धोये मिटे न मो भीति दुख पाइय रगि तनु हरे ॥

रवि कर गौर बहै अति दारुण मकर रूप तिहि माहीं ॥
बदन हीन सो ब्रह्म चराचर पान करब जे जाहीं ॥

—तुलसीदास (विनय-पत्रिका)

पावटे । नहि भोग लगावन पावै ।

करि-करि पाव जने अरपत है, तबहीं सबे छूवै जावै ॥
इच्छा करि ब्राह्मण में न्योती, तू गोपाल स्निजावै ।
यह अपने ठाकुरहि जिमावत, तू ऐसो बठि धारै ॥
जननी तोष देहु मनि मो कहँ, कर निधान बहु ध्यावै ।
जेन मूढ़ि कर-जोरि नाम ले चारहि बार सुलावै ॥
यह अन्तर क्यों होइ भक्त सो, जो मरे मन भावै ।
सूरदास गनि हैं ताकी जो जन्म पाइ यश गावै ॥

—सूरदास

माझा के चोर मधु चोर दनि दूध चोर,

नेसत दा देसतही हियो हरि तेत हैं ।

पुरप-पुराण अरु पूरण पुराण इन्हें,

पुरप-पुराण सुबहत निहि हेत हैं ॥

वैश्यशस देखि-अंगि सुरन की सुन्दरि ये,

करती विचार सब सुमति समेत हैं ।

दखि गति गोपिका की भूल जाति निजगति,

अगति न कैसे वी परम गति देत हैं ॥

×

×

×

पन माहि मिने हुते वैश्य राइ कदा बरगों गुण गूढ़ ब्यार ।

यपुरा प गई तब रोहिणी पे ॥ आहि गुहायनि धाम निहार ॥

पर जात तो सोवत हैं फिर जावें तौ नद पै खात धरा दधि पारे ।
सपने अनसत्त किधौ सजनी घर बाहर होत चढ़े घर वारे ॥

—केशव

क्यो इन कोमल गोन कपोलनि देखि गुलाब की फूल लजायौ ।
त्यों “हरिचन्द” जु एकज के दल सो सुकुमार सवै अग भायौ ॥
अमृत से मृदु होठ लसैं नन पल्लन सो पर क्यों है सुहायौ ?
साहन सो मा होत जबै अँग कोमल क्यो करतार उनायो ?

—भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र

गावैं गुनी गनिका गन्धर्व औ सारद सेस सरे गुन गावत ।
नाम अनन्त गनन्त गनेस ज्यो नहा त्रिलोचन पार न पानत ।
बोगी जती तपती अरु सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगायत ॥
साहि अहीर की छोहरियाँ छशिया भरि छाछ पे नाच उचायत ॥

—रसखान

अधम अजान एक चढ़ि के विमान भाव्यो,
पूछत हौ गंगा तोइ परि-परि पाइहौ ।
कहै पदमाकर कृपा करि बतावै सौंखी,
देखे अति अद्भुत रसरे सुभाइ हौ ॥
तेरे गुण गानहु की महिमा महान मैया,
कान-कान नाइ के जहान मध्य छाइहौ ।
एक सुख गाये ताके पच सुर पाये अन,
पच सुर गाइहौ तो केते सुख पाइहौ ॥

x

x

x

गोपी ग्वाल माली सुरे आरुस में कहै आली,

[कोज यशुरा के ओतरयो इन्द्र जाली है ।

यहै पदमाकर करे को यो बताली जाये,
 रहन न पावै कहूँ एकी फन खाली है ।
 देखे देख ताली भई निधि के खुशाली,
 कूदि किलकति काली हेरि हँसत कपाली है ।
 जनम को चाली ऐसी अद्भुत दे ख्याली,
 आशु काली की फनाली पे नखत बन माली है ॥

×

×

×

झुरली पजाद तान गाई सुसज्ज्याय मन्द,
 लटक-लटक माई नृत्य में निरत है ।
 कहै पद्माकर गोविन्द के उच्चाह अदि,
 निप को प्रगाह प्रति सुख छै किरत है ॥
 ऐसी कौन परत पुसकरत ही म मनो,
 तारन को वृद्ध कृतकारन गिरत है ।
 कोप करि जो लौं प्य फन फुफकावै काली,
 तोलीं बन माली सीऊ बन पै किरत है ॥

×

×

×

सातदिन सात राति करि वतपात महा,
 भारत भकोरे तरु तोरै दीह दुख मे ।
 यहै पदमाकर करी त्यों धूम धारन हु,
 एते पै न कान्ह काहु आयो रोष रुध मे ॥
 छोर छिगुनी के छत्र पेसे गिरि छाई राख्यो,
 ताके तरे गाय गोप गोपी खरी सुख मे ।
 देखि-देखि मेघन की सैन अकुलानी रह्यो,

वन वषट कर पर धर्यो, गिरि गिरधर निशक ।

धजध गापसुत चरित लखि, सुगपति भयो सयक ॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

ब्रह्म में दूखों पुरानन गाना वेद-रिचा सुनि चागुने चायनि ।

देख्यो सुन्य कपट न कित् उह कैसे सरूप था कैसे मुभायन ॥

भेत हैत हारि पर्यो रसरानि बतायो न लोग लुगाइन ।

क्षो दुरो यह कूज कुटीर में जंगो पलोटत रायिका पायन ॥

मस गनेस मोहस दिनेस सुरेसहु जाहि निरतर गावैं ।

बाहि अनादि थसह अनस अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥

भारद से सुक व्यास रहै पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।

बाहि अहीर की छोहरियाँ छडिया भरि छाछ पै नाचन नचावैं ॥

—रसखान

शहिने घेद पढ़ै चतुरानन सामी भया महेश धर्यो है ।

शयें दोऊ कर जोरि सुसेवक देवन साज सुरेश खर्यो है ॥

स्तन पीच अनेक लिये धन पाँयन आय कुनै पर्यो है ।

सखि निभो अपनी सपनी सपुरो यह मादस्य चौकि पर्यो है ॥

सो हुता सो दे लुके, निम्र न जागी गाथ ।

बलती बेर गुपालजू, फलू न दीनो हाथ ॥

—नरोत्तमदास

बदम पै चढ़ि कै जब कूखो फालिन्दी बीच,

तब यह जान्यो फान्द कैसे धौ डवरिहै ।

शर्म निपधर को है बास महा निपरास ,

पासो भयो पास तो बसास ही सो जरि है ॥

ऐसा फाँव जानतु हो एहो फणि रघुनाथ,

बूढ़ि पड़ी दौली तरैं पानी ही के लरिहै ।

मीन पर चढ़ि आपु ताली दै करत नृत्य,

नाथि काल काली, काली दह सो निकरिहै ॥

—रघुनाथराव

कर्ण से दुष्ट ते पुष्ट हते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे ।

सोहर सेन दुशामन से सन साथ समर्थ मुना उलकारे ॥

दाधी हजारन के बल “केशव” सचि धके पट कोउ न डारे ।

द्रोपदी के दुरयोधन पै तिल अर सङ्ग उबर्यो न उधारे ॥

—केशव

बेइ राख विधान निधान अनेक चरु जिन जोर हईजू ।

चई है राहु यह धनु धीरज दीह मिया जिन शुद्ध जईजू ॥

यई हैं अर्जुन आप तहाँ जग में यस की जिन बेनि बईजू ।

रेखत हो तिनके बिन टुप्पा बाी न बटू निय छीन राईजू ॥

करने मलय प्रह्लाद भक्त का कहना यह कि स्तम्भ भी देख ।

प्रगट हुए सन बनी स्तम्भ में अति अपूर्व नरहरि छत बेप ॥

असुर वध का नाय किया सन हुए सुसी सुर नग मुनिपर ।

हुए मलय निज भूय थोर भी अति थगम्य भी रिधि का घर ॥

तय हुआ क्रोध से देख राज मतयाला,

रसने बनो वहीत अग्नि में दापा ।

पर मलते क्या प्रह्लाद भक्ति-रसाकर

जल गइ आग खुद उई जनाने जाकर ॥

हिन्दी-काव्य में नवरस

धन धर्म कर पर धर्यो, गिरि गिरधर निश्चक ।

धनध गापसुत चरित लखि, सुम्पति भयो सशक ॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

ब्रह्म में दूख्यो पुरानन गाना वेद रिचा सुनि चौगुने चायनि ।

देख्यो सुन्य कपहुँन कितू वह कैसे सरूप ओं कैसे सुभायन ॥

भरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगाइन ।

रेसो दुरो वह कुज कुटीर में देख्यो पलौटत रायिका पायन ॥

मेस गेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।

बाहि अनादि अलड अनत अहेद अभेद सुवेद बतावैं ॥

भारद से सुक व्यास रहै पचि द्वारे तज पुनि पार न पावैं ।

बाहि अदीर की छोहरियो छडिया भरि छाछ पे नाचन नचावैं ॥

—रसखान

राहिने वेद पढ़ै चतुरानन सामने ध्यान महेस धर्यो है ।

रायें दोऊ कर जोरि सुसेवक दयन साथ सुरेश पर्यो है ॥

रतन पोच अनेक लिये धन पाँयन आय कुनेर पर्यो है ।

रखि निभो अपने सपनो गुरो वह ब्राह्मण चौकि पर्यो है ॥

रनो हुतो सो दे लुके, निम्र न जानी गाय ।

चलती बेर गुपालजू, फट न दीनो हाथ ॥

—नरोत्तमदास

बदम पै चढ़ि कै जब फूँयो कालिन्दी बीच,

नन यह जान्यो वान्द कैमे धौ बनगिहै ।

बामें भिखर को है बात महा निपरास ,

पामो मयो पात तो वस्रान ही सो जरि है ॥

एमा कोन जानतु हो एहो फनि रघुनाथ,

बूढ़ि घड़ी दौलौ तरैं पानी ही के लरिहै ।

नीम पर चढ़ि आपु ताली दै भरत नृत्य,

नाथि कान फाली, काली दह सो निकरिहै ॥

—रघुनाथराव

कार्ण से दुष्ट ते पुष्ट होते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे ।

सोहर सेन दुशासन से सर साथ समर्थ भुजा उसकारे ॥

हार्थी हजारन के बल “वैश्व” गेचि धके पट कोर न डारे ।

द्रोपदी के दुरयोधन पे तिन अक तक उग्रयो न डगारे ॥

—केशव

बई बाण विधान निधान अनेक चरु जिन जोर हईनू ।

बेई हूँ बाहु बोंह धनु धीरज द्रोह गिया जिन बुद्ध जईनू ॥

यई हूँ अनुन आप तहीं जग म यय की जिन बेनि पईनू ।

रत्न न तिनके पिन उच्छा मी न कटु निय छीन सईनू ॥

करने सत्य प्रह्लाद भक्त का कहना यह नि स्तभ भी न्ये ।

प्रगट हुण तर हसी स्तम्भ म अति अपूर्व नरहरि एत बेप ॥

असुर द्रुप का नाथ किया मर हुण सुखी सुर नर सुनियर ।

हुण मत्य निज भूल्य आर भी अति अगम्य भी विधि का घर ॥

तब हुआ कोय से देख राज मतगाला,

इसने बनोत बढ़ीत अग्नि में डाला ।

पर जनते क्या प्रह्लाद भक्ति-रसाकर,

रखते जिसको वे चक्र धारनेवाले,
 मरते है बलटे उसे मारनेवाले ।
 रख हरि ने नरहरि रूप पाप नाशन को
 कर अधम असुर का नाश बचाया जनको ॥

—प्रह्लाद

वस एकही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस-जिस ने किया,
 मारा गया अथवा समर ने विमुख होकर ही जिया ।
 जिस भाति विष्णु-दाम से होती सुशोभित धन धरा,
 सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा ॥
 तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यो कहने लगे,
 “आचार्य्य ! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा ।
 रघुवर पिण्ड से सिन्धु-सम तप सैन्य इससे व्यस्त है,
 यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी धीर भीर प्रशस्त है ॥
 होना विमुख सग्राम से है पाप वीरों को महा,
 यह सोचकर ही इस समय ठहरा हुआ हूँ मैं यहाँ ।
 जैसे बने अब मारना ही योग्य इसको है यहीं ।
 तब जान लीजिये अन्यथा निस्तार फिर होगा नहीं ॥

—जयद्रथवध

श्रीकृष्ण के मुन वचन कुछ उत्तर न अर्जुन ने दिया,
 अतएव उनके स्कन्ध पर हरि ने करारोपण किया ।
 तब पड गये अवसन्न ये वैचित्र की सी भूटि में,
 था यह नितान्त नवीन जो कुछ दृश्य आया दृष्टि में ॥
 देखा वन्देने तब कि वे बहुत ऊपर चढ़ गये,
 रथि चन्द्रशेखों के मिले गहू दिव्य दृश्य नये-नये ।

चलते हुए अन्त में वेकुराठ दीक्ष पड़ा उन्हें,
अवलोक उसकी छवि हुआ आश्चर्य्य हर्ष बड़ा उन्हें ॥

×

×

×

फिर आप से ही आप वे हृदि धाम में स्विच से गये,
देखा वहाँ का दृश्य जो युगनेत्र तब मिँच से गये ।

सिंहासनस्थ रमा सहित शोभित वहाँ भगवान थे,
उन दामिनी जिनके यथा-ध्याया प्रकाश-समान थे ?

×

×

×

इसके आन्तर पार्थ ने परिपूर्ण प्रेम समग में,
आता हुआ अभिमन्यु देखा जय विजय के संग में ।

अवलोक उसको सुघ उन्हें कुछ भी रही न शरीर की,
शोभा सहस्रगुनी प्रथम से थी अधिक उस वीर की ॥

×

×

×

तब दिव्य दर्शनों से प्रभा की वृष्टि सी करते हुए ।
घोले स्वयं भगवान यो सब के हृदय हरते हुए ॥

सन्तुष्ट तुने ई किया निज धर्म पालन से मुझे,
सोभद्र ! निज सामीप्य मैं देता सदा वो हू तुने ॥

अति मुग्ध होकर पार्थ ने तब मूढ़ आसों को लिया,
पर खेलने पर फिर न बैठा दृश्य दिखलाई दिया ।

सुस्मित बदन श्रीकृष्ण कोही सामने देखा बड़ा,
चित्ररथ से यह रह गये करते हुए निस्मय बड़ा ॥

थी जिस समय उस दृश्य मे सुध सुध न अर्जुन को रही,
राजा युधिष्ठिर आदि ने भी स्वप्न में देखा

वसलोक-नाटक-सूत्र वर का ठाठ अति अभिराम है,

यह एक होकर भी सदा करता अपनेको काम है ॥

—जयद्रथवध

हो पृथ्वी जन तक पार्थप्रति प्रभु का कथन ऊपर कहा,

तब तक महाअद्भुत हुआ यह एक कोतुब सा ग्रहा ।

मार्तण्ड अस्त्राचल निकट वन मुक्त सा देखा गया,

है जान सकता कोन हरिका कृत्य निश्चय नया-नया ?

हा पार्थ के हित के लिये यह खेल नट्यर ने किया,

दिन शेष रहते सूर्य्य को था गस्तमा छिपला दिया ।

अनुकूल अवसर पर उसे फिर कर दिया यो व्यक्त है,

यह भक्तघटसल भक्त पर रहता न कन अनुरक्त है ॥

इस स्वप्न के से दृश्य में मन धनु रिस्मित रह गये,

कर्तव्य ब्रह्म समान वे नैराश्य-नन्दन बह गये ।

×

×

×

वसकाल उनका तेज मानो पार्थ को ही मिल गया,

तब तो सदा से मौगुना छल बीज उनका खिल गया ॥

—जयद्रथवध ।

मायापति ने सुकुट पर, गन्ध्रा जगदी हाथ ।

छोड़ा तिर भुक्त। ममभि, मायानि सुनिसाथ ॥

महसा स्वप्न विनाश से, होता है जो टाल ।

हुई दया छति की गद्दी, ज्ञान भरवो वन काल ॥

रमा राज पुत्री हुई, तत्क्षण अतर्धान ।

धुनि को वेवता सामने, दीय पड़े भगवान ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

पड़ाया हाथ रानी ने कपन पर,

दिसाई रोगनी सीदी गंगा पर ।

पवन कुट्ट वेग से लहरा उठी फिर,

जय धनि की घटा घहरा उठी फिर ॥

कमल लोचा कमल तनु कमल करमै,

पण्ड कर हाथ थोले नीरधर से ।

अश ! हे धन्य रानी हो चुका बस,

तुम्हारा पुत्र अचतक सो चुका बस ॥

निषादा धर्म तुमने धीरता से,

हुआ रति बग उज्ज्वल कीर्तिता से ।

१ उठा शालक अचानक सुसकराता,

कहा ले पुष्प पूजा हेतु पाता ॥

—सनेही (शैव्या विलाप)

मीन प्रतिष्ठा मुन भीम ऐसी,

हुई अस्थिता जिसकी तु जैती ।

वसे दिसाना निज शब्द द्वारा,

सामर्थ्य हे मित्र ! नहीं हमारा ॥

×

×

×

पंछि वहाँ के वह वाम थोर,

हे जो गडा चित्त किये कठोर ।

हे राज-भग्वी वह स्यामि भक्त,

निघ्रात आश्चर्य्य तथा विरक्त ॥

गायें उसी के कर-बद्ध प्रार्थी,

खड़ा हुआ है वह दास स्वार्थी ।

दृढ़त्व देय-व्रत का विलोक,

हुआ वसे क्या नहिं लाज शोक ॥

X

X

X

जो तर्जनी को अधरस्थ धारे,

सो धीमर-स्त्री निज गेह-द्वारे ।

सन्तान को साथ लिये खड़ी है,

आश्चर्य के सागर में पड़ी है ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (भीष्म-प्रतिज्ञा)

निखिल नाट्य विलास अभिज्ञ मैं,

अभिनयारिक में अति विज्ञ मैं ।

तप अशेष गुणो पर लुब्ध हूँ,

रमण योग्य । मनोभव सुग्ध हूँ ॥

कथन यों उस कामिनी का,

सुन सके फिर और न अर्जुन ।

इसलिये वह धर्म सुधापणे,

वचन यो उससे कहने लगे ॥

बस करो बस देवि । न यों कहो

वचन ये अप पूरित हैं अहो ।

सुन नहीं सकते इनको हम,

तुम सदा मम पूज्य शची सम ॥

सुन घनजय का बहना यह,

अति हताश हुई मन में यह ।

रहगई अति निश्चित सी तथा,

चकित घबल चारु मृगी यथा ॥

—मैथलीशरण गुप्त (अर्जुन और उर्वशी)

लखि अलौकिक-स्मृतिं सुदत्ता,

चकित स्तम्भित लोक समस्त मे ।

अप्रिकत धैर्यता यह ध्यान था,

व्रज विभूषण है यतय वने ॥

लखि अपार प्रसार गिरीद्र में,

व्रज वराजिप के प्रिय पुन का ।

सकल लोग लगे कहने उसे,

रख लिया डँगली पर श्याम ने ॥

—अयोध्यालिह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

रस सामग्री द्वारा अद्भुत-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहला, शब्द १

पृष्ठ ४३३—सखी दीप कौतुक जह रहे गिरीशा ॥

यहाँ पर राम, लक्ष्मण तथा सीता का ही सब ओर दिखाई दिया जाना “आलम्बन त्रिमाव” है, क्योंकि यही रस को आलम्बित करता है, यही सती को आश्चर्य्य-चकित करने वाला मुख्य दृश्य है और यही रस का प्रधान कारण है । ब्रह्मादि सम्पूर्ण सूरों का नाना रूपा में प्रभु की सेवा करते हुए देसना,

श्रीरामचन्द्रजी का सीता सहित एकही रूप में दिखलाई देना, “उद्दीपन-विभाव” हैं, क्योंकि इनके द्वारा सतीजी का आश्चर्य और भी विस्तृत, सुदृढ़ और प्रोढ़ हुआ है। सती का समीत होना, तन का प्रकम्पित होना, सुधि का न रहना, नयनों को मूढ़ कर मग में बैठ जाना, इत्यादि कार्य “अनुभाव” हैं, क्योंकि उपरोक्त “विभाव” तथा “अनुभाव” रूपी कारणों के कार्य हैं और इन्हीं के द्वारा सती के आश्चर्य का अनुभव होता है। कम्प, सुधि का न रहना (प्रलय) सात्विकानुभाव, नयनों को मूढ़ कर मग में बैठ जाना, कायिकानुभाव और समीत होना मानसिकानुभाव है। “मोह” “व्रीडा” तथा “वितर्क” लक्षारी भाव है। सती को अपनी सुध-बुध नहीं रही इससे ‘मोह’ का संचार हुआ। ‘व्रीडा’ पति का कहना न मानकर भगवान के ईश्वरत्व की परीक्षा लेने की अनधिकार चेष्टा करने के कारण, उत्पन्न हुई और वितर्क सब दिशाओं में राम-दर्शन होने के कारण संचारित हुआ। उपर्युक्त कार्य में यह सहायक हुए। इस इन विभाव, अनुभाव और लक्षारी भावों के संयोग से “आश्चर्य” स्थायी हुआ, अतः “अद्भुत-रस” की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहला, खंड २

पृष्ठ ४३३—करि पूजा

शिशुरूप जरासी ॥

यहाँ पर शिशुरूप भगवान रामचन्द्रजी “आलम्बरन” विभाव है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा उन की माता अचम्भित हुई हैं,

“उनको सोता छोड़ भोग लगाने गई, वहाँ पर बालक को खाते देखा और जब वहाँ से लौट कर आई तो वस्त्रों को फिर सोते देखा” माता के विस्मय में पड़ने का मुख्य कारण यही है, और इसी के द्वारा आश्चर्य्य आलम्बित हुआ है, अतः यही आलम्बन विभाव है। “रामचन्द्रजी का अद्भुत अखण्ड रूप तथा रोम रोम में कोटि-कोटि ब्रह्मांड, अगणिता रवि-शशि-शिव चतुरानन-बहु गिरि-सरित्-सिन्धु महि कानन, काल-कर्म, गुरु-दोष” यह विचित्रताएँ महारानी कौशल्या के अवेह को और भी प्रगाढ़ तथा प्रकाशित करती हैं और इनके द्वारा वह और भी उद्दीप्त हुआ है, अतः यह “उद्दीपन-विभाव” है। इन दोनों कारणों के कार्य्य “हृदय का कम्पित होना, मन में धीरज का न धरना, बार-बार इधर से उधर जाना, अकुलाना, तन का पुल कित होना, मुँह से बात न निकलना, और नेत्र मूढ़ कर चरणों में शिंश नवाना” है—इन्हीं कार्य्यों के द्वारा माता के आश्चर्य्यन्वित होने का अनुभव होता है, अतः “अनुभाव” है। “कम्प” “रोमांच” लात्तिकानुभाव हैं, “इधर-उधर जाना, नेत्र मूढ़ना और चरणों में शीश नवाना कायिकानुभाव” और “मन में धीरज का न धरना और अकुलाना” मानसिकानुभाव हैं। “मोह” “आवेग” “जड़ता” “चपलता” और “बिक्क” सच्चागी भाव हैं। अपने शरीर का ज्ञान न रहने में “मोह” आतुरता के साथ धार धार आने जाने में “आवेग” आस्थिरता के न रहने में “चपलता” और “इहाँ-उहाँ” दुई बालक बेसा, ‘मति भ्रम मोरि कि आन विसेखा’ में ‘वितर्क-वचारी’ हैं। इन विभाव, अनुभाव और

संचारी भावों के संयोग से "आश्चर्य्य" स्थायी भाव है। अतः "अद्भुत-रस" है।

उदाहरण सातवाँ, खण्ड १६—५

पृष्ठ ४३८—घन वरपत

सशक ॥

यहाँ पर कृष्ण "आलम्बन-विभाव" है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा गोप सुत स-शंक हुए हैं, यही सदेह युक्त बनाने का मुख्य कारण तथा रस को आलम्बित करने वाले हैं, घन का वरसना "उद्दीपन" विभाव है, क्योंकि यह सदेह को अत्यंत प्रबल तथा विस्तृत करता है, "शका" लचारी भाव है, क्योंकि इसका पद्य में सर्वत्र संचार है। उपर्युक्त विभाव रूपी कारणों का कार्य्य तथा अनुभाव कराने वाला "कर पर निरधारण" वाक्य है, अतः यह "अनुभव" है। उस उपर्युक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से "आश्चर्य्य" स्थायी हुआ, अतः इस सम्पूर्ण सामित्री द्वारा 'अद्भुत-रस' की सिद्धि हुई।

उदाहरण सोलहवाँ, खण्ड २७—

पृष्ठ ४४०—उस एक ही अभिमन्यु

होगा नहीं ॥

यहाँ पर "अभिमन्यु" आलम्बन विभाव है। क्योंकि उसी के कारण "कर्ण" आश्चर्य्य-वर्धक हुआ है, वही सदेह में डालने वाला मुख्य कारण है, और उसी के द्वारा रस आलम्बित होता है, अतः वह आलम्बन विभाव हुआ है। 'शस्त्रच्छटा' उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा आश्चर्य्य और भी प्रबल और उद्दीप्त हुआ है। "जित जिस ने युद्ध किया मारा गया अथवा मान कर बचा" "तथा जिह साते स जगा" "सब सैन्य

इससे व्यस्त है" । जेमे बने इसको मारना चाहिये" "अन्यथा निस्तार न होगा" इत्यादि वान्मयो के कथन में कर्ण की जो शारीरिक तथा मानसिक दशा होगई होगी वही अनुभाव है, जो यहाँ पर गुप्त है । "शका" "विपाद" "चिन्ता" "उग्रता" "आवेग" तथा "वितर्क" सचारी भाव हैं । सब सेना के व्यस्त होने में शका, विजय न प्राप्त होकर विजित होने में विपाद । "जैसे बने उसे मानना ही चाहिये" इसमें "उग्रता" अन्यथा निस्तार न होने में "चिन्ता" भागने की इच्छा में "आवेग" और "रामचन्द्र के वाण से सिन्धु सम इससे सेना व्यस्त है" "यह पार्थ नन्दन पार्थ से भा वीर वांग प्रशस्त है" में वितर्क का सचाग हुआ है । इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से "आश्चर्य" स्थायी हुआ, अतः यहाँ "अद्भुत रस" है ।



शान्त-रस ।

सुरस शान्त निवेद है, जाके थाई भाव ।
 तत्त सगति गुरु तपो जन, मृतक समान स्थाव ॥
 प्रथम रसोच्चादिक तहाँ, भाषत कति अनुभाव ।
 वृत्ति मति हरपादिक कहे, शुभ संचारी भाव ॥
 शुद्ध शुभल रंग देवता, नारायण है जान ।
 ताको कहत उदाहरण, सुनहु सुमति मैं कान ॥



राग्य की पूर्ण स्थिरता का नाम शान्त रस है, नत्सद्गति, शुद्ध, तपोवन और मृतक इत्यादि विभाव है। रसोच्चादिक अनुभाव और वृत्ति, मति और हर्ष इत्यादि संचारी भाव हैं। शुद्ध रंग और देवता नारायण है।

जब इधर-उधर से ध्यान हटकर एक ही स्थान में केन्द्रित हो जाता है, तब शान्त-रस का प्रादुर्भाव होता है। यह रस पूर्ण समता का मन्दिर है, यही कारण है कि महा कवि केशवदास इत्यादि ने इसे सम रस के नाम से पुकारा है। यह रस सत्य, दया, धर्म और आनन्द का निवास स्थान है। मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति इसी रस में होती है। सम्पूर्ण विषय वासनाओं से विरक्त भाव कटाकर जगदाधार से प्रेम भाव उत्पन्न करानेवाला यही रस है। आत्मा का अंतिम विश्राम इसी आनन्द सागर की उपद तथा पवित्र तरंगों में है। जब अन्य रस से स्तब्ध स्थिर हो जाता है तब माता, पिता, भाई

बन्धु, स्त्री इत्यादि से कोई सम्यन्ध नहीं रहता, यहाँ तक कि मनुष्य को अपने शरीर तक की कुछ परवाह नहीं होती। बहुत लोगों का विचार है कि इस रस का आविर्भाव बुढ़ापे में होता है, किन्तु इसके लिये कोई सामान्य सिद्धान्तनिश्चित नहीं किया जा सकता। ध्रुव तथा प्रह्लाद की कथाएँ पढ़ने पर ज्ञात होता है कि वह लोग अपनी बाल्यावस्था से ही इस रस मन्दिर के पुजारी बन गये थे, और इसके विरुद्ध हमें बहुत से प्रत्यक्ष प्रमाण इन बान के भी मिलते हैं कि लोगों को बुढ़ापे में भी तृप्ता देवी की शरण में निवास करना पड़ता है, इस अवस्था में भी उन्हें वन वान्य के सब्ज बागों की ही सैर करने में आनन्द आता है तथा ससाररूपी चुम्बक के साथ लोह बनकर चिमट जाने के मुक्तकण्ठ से अभिलाषी होते हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं ज वृद्धावस्था के ही शत्रु हैं, ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें शान्त रस से किस अवस्था में प्रीति होगी ! हमारे केशवदासजी कहते हैं —

“केशव” के मन ग्रस करी, जैसी अरि न कराहि ।

चट्ट बननि मृग लोचनी, बाग बहि-कहि जाहि ” ॥

उनको “बाग” शब्द बज्ज की भाँति लगता था, स्वैत बाल उनके नाकीले तीरा की तरह चुभते थे। किस लिये कि अब पौडपी, मृगशायक नयनी, परमसुन्दरी, रूप योवन सम्पन्न स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से नहीं देखती थीं। यहाँ तक भी

शान्त-रस ।

सुरस शान्त निवेद है, जाके थार्द भाव ।

गत सगति गुरु तपो उन, मृतक समान मिथार ॥

प्रथम रोमांचादिक तहों, भाषत कनि अनुभाव ।

धृति मति हरपादिक कहे, शुभ सचारी भाव ॥

शुद्ध शुक्ल रंग देवता, नारायण है जान ।

ताको कहत उदाहरण पुनहु सुमति दै कान ॥

राग्य की पूर्ण स्थिरता का नाम शान्त रस है,

नासङ्गति, गुरु, तपोवन और मृतक इत्यादि

विभाव है । रोमांचादिक अनुभाव और धृति,

मति और हर्ष इत्यादि सचारी भाव है । शुद्ध

रङ्ग और उच्चता नारायण है ।

जब इधर-उधर से ध्यान हटकर एक ही स्थान

में केन्द्रित हो जाता है, तब शान्त-रस का प्रादुर्भाव

होता है । यह रस पूर्ण समता का मन्दिर है, यही कारण है कि

महा कवि केशवदास इत्यादि ने इसे सम रस के नाम से पुकारा

है । यह रस सत्य, दया, धर्म और आनन्द का निवास स्थान

है । मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति इसी रस में होती है । सम्पूर्ण

विषय वासनाओं से विरक्त भाव कराकर जगदाधार से प्रेम

भाव उत्पन्न करानेवाला यही रस है । आत्मा का अंतिम विश्राम

इसी आनन्द सागर की सुषुप्त तथा पवित्र तरंगों में है । जब

यस रस से सम्बन्ध स्थिर हो जाता है तब माता, पिता, भाई,



पर ईश्वर की रूपा होती है उसी को शान्त रस का सच्चा मार्ग प्राप्त होता है ।

अब हम नीचे इस रस के कुछ उदाहरण उद्धृत कर पाठकों की भेंट करते हैं, जिससे उसके समझने में सहायता मिले ।

मन हरि पद भनुराग करहु त्यागि गाना कपट ।

महा मोह निसि जाग, सौख्य सोत काल यहु ॥

दीप सिखा सम सुखति मन, मन जनि शोभि पतग ।

भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सत सग ॥

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान खुबार ।

अस विचार खुबंग मणि, इह विषम भर पीर ॥

कामिदिनारि विचारि जिमि लोभिहि मिय जिमि दाम ।

पेसे हूँ कय लागि हा, तुलसी के मन राम ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

भूमि पाल ब्याल पाल नाल पाल लोक पाल,

कारण रूपाल मैं समै के जीर्ण थाहली ।

कादर के आदर काहु के नही देखियत,

सपनि सुहात है सेवा सुमान दाहली ॥

तुलसी सुभाय कहे नहीं कहु पत्तपात,

कोने ईश किये कीय भाहु रास माहली ।

गम ही के द्वारे पे योलाय सनमानियत,

मोसे दीन दूधरे कुपूत कूर काहली ॥

मेरा अनुरूप फल दत्त भूष कूप ज्यो, रि

होन गुण पथिक पियासे जात पथके ।

खैर है—रसिकलालजी तो इनसे भी कहीं आगे पहुँच गये, यहाँ तक कि मृत्यु के पश्चात् भी आपकी उत्कण्ठा थी—

“हमरे यही निरूप, रसिकलाल सुत मो कणो ।

नहाँ चिता तहाँ कूप, मृग नेनी भूमत रहे ॥

इन उपर्युक्त उदाहरण से केवल हमारा यही अभिप्राय है, कि यह आवश्यक नहीं, कि प्रत्येक मनुष्य को शान्त-रस में किसी विशेष अवस्था में प्रीति होती ही होवे। इन सब वानों के अनि-रिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस को कय ससारी धवा से विरक्त भाव उत्पन्न होजावे। भला कौन कह सकता था कि भादा की झुकी हुई अँधेरी में, मुरदे की उठरी को नाच बना कर अपनी प्रेयसी के चन्द्र-वदन का चकोर तुलसी उसके पास पहुँच कर तथा उससे हाँला लकर थोड़े समय पश्चात् ही लौटकर राम भजन में तटलीन हो जायगा। इसी प्रकार कौन कह सकता था कि प्रोफेसर रामतीर्थ अचानक ही अपने माता-पिता तथा छात्र-पुत्र को त्यागकर शान्ति के सच्चे मार्ग की खोज में इतस्तन भ्रमण करेंगे और कहीं पर वास्तविक शान्ति न पाने पर इस शरीर को ही त्याग देंगे। और कौन कह सकता था कि अब “राम” शान्ति प्रदायनी, सलिल प्रवाहिनी सुरसरि की सुललित तरङ्गों में प्रवाहित होंगे? और कौन कह सकता था कि वे अब शोतल, मद, सुगन्ध समीर के झोंकों के साथ अठ्केलियाँ खेलने के लिये इस अल्पकाल में ही उद्यत होजावेंगे और शान्ति का सच्चा केन्द्र ढूँढ कर तद्भाकार होजावेंगे। वास्तव में जिस

बरदत की पगति वृद्धली प्रधमवर पदार्थ मोलन की ।
 चपला चमकै घन बीच जगे दधि मोतिन माल यमोनन की ॥
 घुघरारि लटै लटके मुख उपर वृद्धल लोल कपोलन की ।
 निघझारि प्राण करै “तुलसी” बलि जावै लला इा मोनन की ॥
 यहि घाटतैं धोरिक दूरि अहे वटि लौं जल थोह दलान्होअ ।
 एगमे पग धूरि तरै तरणी घरनीपर क्यों ससुझाइहांजू ॥
 तुलसी अवलम्ब न और कछु लरिका केहि भोति जियाइहांजू ।
 वरु मारिय मोहि बिना पग छोणे हो गाय न नाउ चढाइहांजू ॥
 गम है मातु पिता सुत बडु औ सगि सखा गुरु स्वामि ननेही ।
 गम की मौहि भरोंसो हे गम वो राम रंगी रवि राचो न केही ॥
 जीवत राम छुए पुनि गम सदा रघुनाथहि की गति जेही ।
 सोहि जिये जग में ‘तुलसी’ ननु दोनत ओर छुए धरि देही ॥
 भूठो है भूठो है भूठो सदा जग सत कहत जे अत लहांहे ।
 ताको सदै सठ सकट वेष्टिक काढ़त वस करत हराहे ॥
 जा जानी कै गुमान यद्यौ, तुलसी के निचार गंगार महा हे ।
 जानकी जीवन जाने न चान्यो तो जान कहावत जात कहा है ॥
 आगम वेद पुराण पर्याप्त मारग केटिन जाहि न जाने ।
 जे छुनि ते पुनि आपुहि आप वो ईश कहावत सिद्ध सूर्यान ॥
 धर्म सबै कलिकाल असै जप जोग निराग लैं जीव पराने ।
 को करि सोच भरै तुलसी हम जानवि नाथ के हाथ निकाने ॥

—तुलसीदास

प्रभु आसन आसीन, भरि लोचा शोभा निरदि ।

मुनिवर परम प्रवीन, नोरि पाणि अस्तुति करत ॥

लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित,
 नके देखे देयता देवया देने गय के ॥
 गीध मानो गुर कपि भालु मानो मीत के,
 पुनीत गीत साके मन साहच समथ के ।
 और भूप परलि सुलपि तौलि ताइ नेत,
 लसम के लसम तुही पे दसगथ के ॥
 मेरे जाति पाति ना काहु की जाति-पानि चही,
 मेरे कोऊ काम को न हा काहु क काम को ।
 लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
 भारी है भरोसो तुलसी की एक नाम की ॥
 अतिहि अयाने उपखाने नहीं ब्रह्म लोग,
 साहेब की गोत गोत होत है गुलाम की ।
 साधु हैं असाधु हैं भलो हैं पोच शोच कहा ?
 फा काहु के द्वार परो जो है सो है रामकी ।

—तुलसीदास

पग नूपुर औ पहुँची कर कजन भजु बनो मखि माल हिये ।
 नयनील फलेयर पीत भँगा भज्रकै पुलकै नृप गोद लिये ॥
 अरविन्द सो आनन रूप भरन्द अनन्ति लेचन भुङ्ग पिये ।
 मन म न वस्यो अस बालक जो तुलसी जगमें फल कोन जिये ॥
 तन की छुति श्याम सरोरुहलोचन वजकी मजुलताई हरे ।
 अति सुन्दर सोहत वरि भरे छवि भूरि अलग की दूरि करे ॥
 दमकै दतिपाँ छुति दामिनी ज्यों किलकै बल गाल विनोद करे ।
 वे बालक चारि गटा तुलसी मन मन्दिर में बिहरे ॥

जम सिरानो ऎमे ऎमे ।

के घर-घर भग्मत यदुपति निन के सोवत के वैसे ॥

के कहूँ खान पात्र गस्नादिक के कहूँ याद अनेसे ।

के कहूँ रक कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ॥

चेत्तो नहीं गयो हरि अवसर मीन बिना जल जैसे ।

यह गति भई “सूर” की ऎमे श्याम मिले धौ कैमे ॥

—सूरदास

कोइ कहौ कुलदा कुजोन अकुलीन कहौ

कोइ कहौ रकिनि कलकिनि कुनारी है ।

कैसे परलोक नरलोक घर लोकन में,

लोहो में असोक लोक लोकनते ब्यारी है ।

तन जाहि मन जाहि “देव” गुरुजन जाहि,

जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी है ।

बृन्दावनपारी जगारी के सुकुट पर,

पीत पटगारी बहि मुरति पे बारी है ॥

इस चदावत सीत मदा धनमार ज्यो आसिन आगत हैं अज ।

इन्दिरा के वर की अर साधुन के मुख की नितही सुख की सज ॥

मोपधी ओपधि ब्याधिन की अरु औगुन कान गने गनिका गज ।

“देव” दयानिधि राम निहारे है चदत है पद पकज की रज ॥

चाहे सुमेर को छार करे अरु छार को चाहे सुमेर बनावे ।

चाहे तौ रकते राव करे चाहे राव को द्वारहि द्वार बिगड़े ॥

रीति यही करुणा निधि को “रुमिदेव” कहै बिनती मोहि भावे ।

चौंटी के पाँय में बाँधि गयदहि चाहे मधुद के पार लगावे ॥

मिनती करि मुनि जाइ सिंग, कह करि जोरि बंदहारि ।

चरण सरोरुह गाय जनि 'रुबहु' तजै मनि मोरि ॥

X

X

X

जम जम ता पद सुख कन्दा । नदी प्रेम चकोर जिमि चन्दा ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

अनिगत गति ऊडु कहत न आये ।

ज्यो गूने मीउं फल का रस अन्तर्गत ही भाये ॥

परम स्पादु सवही जुनिरत्तर प्रमित तोष बपजावे ।

मन गानी को अगम अगोचर नो जाने जो पावे ॥

रूप देखि गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धाये ।

तन त्रिधि अगम विचारहि ताते 'सूर' सगुण लीला पद गाये ॥

X

X

X

मेरो मन प्रात कर्हा सुप पाये ।

जैसे छडि जहाज को पनी फिनि जहाज पर आवे ॥

कमल नयन कौ छोडि महातम आंग देन को धावे ।

परम गग कौ छोडि पिशासो दुमति कूप रनाये ॥

जिन महुकर अजुन रस चाख्यो क्यो करील फल खावे ।

'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे ॥

अखियो हरि दरसन की प्यासी ।

देख्यो चाहत कमल नयन को निसि दिन रहत वदासी ॥

आये कधो फिर गये आंगन डारि गये गर फाँसी ।

केसरि को तिलक मोतिन की माला वृन्दावन को बासी ॥

बाहु के माफी कोऊ न जानत लोगन के मन हामी

'सूरदास' प्रभु तुमने दगस को जाइ करवट ल्यो कासी ॥

X

X

X

जम सिरानो ऐसे ऐमे ।

के घर-घर भरमत यदुपति विन के सेवत के वैसे ॥

के कहूँ खान पान रमनादिक के कहूँ बाद अनैसे ।

के कहूँ रक कहूँ ईश्वरता नट धार्जीगर जैसे ॥

चेखो नहीं गयो हरि अघसर मीन बिना जल जैसे ।

यह गति भई "सूर" की वसे इयाम मिलै धौ कैसे ॥

—सूरदास

कोई कहाँ कुलटा कुलीन अकुलीन कहाँ

कोई कहाँ रक्जिनि कलकिनि कुनारी है ।

कैसे परलोक नरलोक यह लोकन में,

लोहो में असोक लोक लोकनते ग्यारी है ।

तन पाहि मन जाहि "देव" गुरुजन जाहि

जीव क्यों न जाहि नेक दरत न शरी है ।

बृन्दावनपारी बनगारी के झकुट पर,

पीत पत्रगारी वहि मुरनि पै मारी है ॥

इस चढ़ापत सीस सदा घनमार ज्यों ओखिन ओजत हैं श्रज ।

दन्धिरा के वर की अरु साधुन के मुख की नितही मुख की सज ॥

मोपधी ओपधि व्याधिन की अरु ओगुन कौन गनै गनिका गज ।

"देव" दयानिधि राम निहारे है बद्ध है पद पकज की रज ॥

चाहे सुमेर को छार करे अरु छार को चाहे सुमेर बनाव ।

चाहे तौ रकते रास रुके चाहे गव को द्वारहि द्वार विराये ॥

रीति यहो करुणा निधि का "कविदेव" कहै बिनती मोहि भाव ।

चौंटी के पाँच में बैधि ॥५॥ ~~~~~ के पाग लगावे ॥

भूषण सारे सँभारे जराऊ तिन्है लखि तारे है लागत फीके ।
 त्यों “द्विज देव” जू आनन को छवि अग सबै सरसाय ससी के ॥
 ताहु पै भानु प्रभा निदरै लसै चंचल कु डल वानन नीके ।
 मोह-मयी तम क्यों न मिटै इमि ध्यान धरे नृपभानु लली के ॥

—देव

मोह दीजै मोप, ज्यो अनेक अधमन दियो ।
 जो बाँधे ही तोप, तौ बाँधौ अपने गुनन ॥
 सीस सुकुट फटि काछनी, कर झरली धर माल ।
 यहि घानिक भो मन बसहु, सदा निहारीलाल ॥

—बिहारी

देखै नहीं अरिभिन्दनि त्यों चित्त चढ़ की आनंद-कन्द निकाई ।
 कामिनि काम कथा करै वान न ताके मिधाम की सुन्दरताई ।
 देखि गई जन ते तुमको तब ते बलु चाहि न देख्यौ सुहाई ।
 छोड़ेगी देह जो देखे मिना अहो गेह न कान्ह कहूँ हूँ दिसाई ।
 खारिक खात न दाराव दाखन माखनहु सह भेटि इगई ।
 “केशव” उख मयूपहि दूषत आई है तो पई छाँडि जिगई ।
 तो रदनच्छद को रस रचक चास गये करिकेहु दिगई ।
 ता दिन ते वन राखी ठगय समेत सुधा बसुधा की मिगई ॥

दनुज मनुज जीव जल थल जननि वे,

पर्योई रहत जहाँ काल सों समर है ।

अनंत-अनंत अज अमर भरत पर,

वैशव निवसि जानै सोई तौ अमर है ।

राजत ध्रुवण सुनि भुक्ति शब्द करि,

वेदनि को वाद नाहीं शिव को धमरु है ।

भागदुर भागो भय्या भागनि ज्यों भायो परे,

भय के भवन मौन भय को नेंवर है ।

—केशव

ज्ञान और हानि ज्ञान जीवन अजीवन हू ,

भोग हू वियोग हू संयोग हू अपार है ।

कह पदमाकर इतेपै ओर केतो कहां,

जिनको नित्यो न वेदहू म निम्धार है ॥

जानियत यातैं रघुनाथ की कला को कहू ,

कोज पार पायौ कोज पायत न पार है ।

कान जिन कान द्विन कोन घरी कौन ठोर,

कोन जाने कोन को कहां धौ दोनहार है ॥

X

X

X

गग के चरित्र लखि भासै जमराज इमि,

छरे चित्र गुप्त मरें दुकुम में कानदे ।

कह पदमाकर ये नरकनि मू टि कर,

मू नि नरबाजन को तजि यह ध्यान दे ॥

रेखु यह देव नगी की है सच देव याते,

दूतन बुलाय कै विदाकै बेगि पान दे ।

पार छार परत १ राखु रोज नामचहुँ,

साता खत जान दे वही को चाहि जान दे ॥

बडि मग सतसगति म विष मानि विषयस कीर्ति सदाहीं ।

यों पदमाकर जितौ जग जानि सुज्ञानहि के अचगाहीं ।

नाक की नोक में डीठि दिये नित चाहै न चीज कहूँ चित चाहौ ।
सतत सत्र तिरोमणि है धन है धन ते जन तेपरमाहौ ॥

X

X

X

उन बितान रबि शशि दिया, फल भए सनिल प्रवाह ।
अनि मेज पखा पवन अन न कटु परमाह ॥

—पद्माकर

तुम करतार जग रक्षा के करा हार,
पूरत मनोरथ है सब चित चाहे के ।
यह जिय जानि सेनापति हु सरन आयो,
हुजिये दयाल ताप मेढो दुख दाहे के ।
जो यो कहै तेरेहेरे करम अनेसे दम,
गाहक है सुकृति भगति रस लाहे के ।
आपने करम करि उतराँगो पाग तो पै,
हम करतार करतार तुम काहेके ॥

—सेनापति

भाखै चित्र गुप्त सुन लीजे अर्ज यमराज
कीजिये हुकम अय पृथ नर्क द्वारे को ।
अधम धभागे आर कृतघ्नी कूर कलहिन
करत कहैया कर्म कुंडल समारे को ।
‘ग्वाल कवि अधिक अनोते त्रिपरीते भई
दोजिये तुडाय तेगि कुलुक किवारे को ।
हम ना निर्वगे गही गम ना जुखेहै हम,
जमुना सिंगारै देत कागद हमारे का ॥

—ग्वाल

या लकुटी धर कामरिया पर राज तिहुँ पुर को तजि डारों ।
 आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख तट की गाढ़ चराइ बिसारों ।
 रसखान फरौ इन आँखिन सो बज के बन पाग तडाग निहारों ।
 कौटि करी कलघौत के वाम करील के कुजन उपर वारों ॥

—रसखान

प्यारी सत्ता जगत गत की नित्य लीलामयी है ।

स्नेहों, सिक्ता परम मुरा, पतना म पगी है ॥

उँची प्यारी सरल सरसा ज्ञान गर्भा मनोका ।

पूज्या माया हृदय तल की रजनी वज्रवला है ॥

×

×

×

मैंने पाते कथन जितनी शास्त्र विज्ञान की हैं ।

य वार्त है प्रगट करती ह प्रभु निज्य रूपी ॥

पाती हूँ निज प्रियतम में, निज में प्राण प्यारा ।

एमे मैंन जगतपति को श्याम में है मिलोका ॥

×

×

×

शास्त्रो म है लिखित प्रभु की भक्ति निजाम जो है ।

सो निव्या ह मनुज तन की सर्व सखिदियो ने ॥

मैं होती हूँ सुखित यह जा तत्पत प्रेम्ती हूँ ।

प्यारे की ओ परम प्रभु की भक्तियाँ है अभिप्रा ॥

भक्तमा है परम शुचि है आप उधो सुभी है ।

अच्छा होगा साथ जो आप चाह प्रभु से ॥

आज्ञा भूल न प्रियतम की चिन्त के काम थाऊँ ।

मरा कामार नत भय में पूणता प्राप्त होये ॥

×

×

×

उप हुई इतना कह सुगंध हा,

नज कुमारि त्रिभूषण राधिका ॥

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

गद्गद् हृदय से पार्थ तब बोले वचन श्रद्धा भरे,

लोला तुम्हारी है विलक्षण है अखिल लांचन हरे ।

इन आपदा से बाण मेरा कान करता तुम बिना ?

प्रत्यन दिखला कर सभी दुख कौन हरना तुम बिना ?

“ जो कुत्र दिसाया आज तुमने वह न भलेगा कभी

क्या दृष्टि में फिर और ऐसा दृश्य झूनेगा कभी ? ”

कहते हुए यो पार्थ फिर हरि के पदों में गिर गये

प्रभु ने किये तब प्रगट उनपर प्रेम भाव नये-नये ॥

।

—जयद्रथराय

“ हे ईश ! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,

उपहार प्रत्युपकार मैं क्या दूँ तुम्हें इसके लिये ?

है क्या हमारा सृष्टि में ? यह सब तुम्हीं मे है बनी,

सन्तत ऋणी है हम तुम्हारे, तुम हमारे हो बनी ॥

×

×

×

कहते हुए यो नृप अधिष्ठित सुगंध होकर रुक गये ।

तत्क्षण अचेत समान फिर प्रभु के पदों में झुक गये ।

बढकर उ हे हरि न हृदय मे हर्ष युक्त लगा लिया ।

आनन्द से सत्प्रेम का मानो शुभालिङ्गन किया ।

—मैथिलीशरण गुप्त

महर्षि-गन्ध का पुत्र तू नही विस्तिन सृष्टि का सानि रस है ।

उदित है हुआ बुधि उगम त्र्ययित निदा ये बाण क लिये ।

तब सुधामयी प्रेम जीवनी, अघनिवारिणी क्लेश हागिणी ।
अवण-सौख्यदा निदयतारिणी, सुदित गा रहे धीर अप्रणी ॥

—श्रीधर पाठक

शान्त हो भाई, हृन्ने, शान्त न आनुर हो तुम यो एकांत ।
अभाग, योधन हे शान्त न हो निज सहनशीलता शान्त ।
तुम्हें है प्रोध, तुम्हें है रोद, नहीं है उसे द्विताहित भेद ।

X

X

X

दयामय उसे सुद्धि-धर दा, भाइयो तुम भी यह कर दो ।
आग उसफो कुछ अन्तर दो, धैर्य अपना न यहीं धर दो ।
नमा करके हरि ने तो दाय, कि या था चेदीश्वर पर रोष ।

X

X

X

नग हा सन्ते है हरि हम स्वय प्रभु है ये पुरुषोत्तम ।
किन्तु अउकृति ही है क्या कम, करेगी वही हम सत्तम ।
इना से होते है अन्तार, कि वनमे शिना ले सत्तार ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (वन-वैभव)

रस सामित्री द्वारा शान्त-रस पर दृष्टिपात ।

उदाहरण पहिला, पङ्क ३—४

पृष्ठ ४५३—मोसम

तुलसी के मन राम ॥

यहाँ पर आलम्बन रघुवीर है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा रस
आलम्बित होता है, यही नसार से विरक्त भाव कगाने के मुख्य

आधार हैं। अपनी दीनता और राम का दीन हित करना उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा वैराग्य और भी प्रबल तथा उद्दीप्त होता है। “अनुभाव” गुप्त है। उस समय की शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं को अनुभाव समझना चाहिये। भवपीर जनित निर्वेद, अपनी दीनता का ज्ञान (मति) यह संचारी भाव है। पराग्रचित्त होकर राम में लग जाना (वैराग्य) स्थायी भाव है। यस इन विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थाई भावों के संयोग से शान्तस्व की सिद्धि हुई।

उदाहरण दूसरा, खंड १

पृष्ठ ४५३—भूमिपाल व्यालपाल

कूरमाहली ॥

यहाँ पर भूमि-पाल, व्याल पाल, नाक पाललोक पाल इत्यादि सबके जी की थाह लेकर उनमें कुछ नत्व न पाने वाली, तथा राम के गुणों से तुलना करके विशेषता पाने वाली बुद्धि उत्पन्न कराने वाला गुरु अथवा सत्संगति “आलम्बन-विभाव” है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होना है, वेही भक्ति को आलम्बित करते हैं। “सब के जी की थाह ले लेना” “कादर का कही आदर न पाना” “सबको सेवा का सुहाना” “राम का कीश भालु नक का सम्मान करना” इत्यादि ‘उद्दीपन विभाव’ है, क्योंकि सत्संग तथा सु-बुद्धि से उत्पन्न हुई बुद्धि इनसे और भी वलिष्ठ होती है, “सय तज, हरि भज” वाला सिद्धान्त इनके द्वारा और भी विस्तृत होता है और यही रस को और भी उद्दीप्त कराते हैं। “मैं स्वभाव से ही कहता हूँ, पक्षपात स

नहीं, भला सुझ से वीन दूबरे कपूत कूर काहली की आप के अति-
रिक्त सम्मानित करने वाला अन्य कौन है ?"—इन वाक्यों के
व्यक्त करते समय वक्ता की जो शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ
हुई होंगी और जिनके द्वारा उसके प्राप्त ज्ञान का पूर्ण अनुभव
हुआ होगा वही "अनुभाव" है। (यहाँ पर अनुभाव स्पष्ट
वर्णित नहीं है) धृति तथा मति सचारी भाव हैं, क्योंकि
यहाँ पर वक्ता के वचनों में पूर्ण धैर्य तथा सुनीति का ज्ञान
है। कवि के कादर इत्यादि शब्दों द्वारा उस पर विपत्ति का
होना और अपने जैसे मनुष्यों की समाई राम दरबार में होने के
प्रमाणों के पाने में धैर्य स्थिर होता है। अतः विपत्तियों में भी
धैर्य होने के कारण 'धृति' का संचार हुआ। इसी प्रकार
मिथ्या भ्रम के कारण भूमिपाल इत्यादि के दरवाजों पर घूमते
हुए भी सुनीति का ज्ञान रहने में 'मति' की स्थिरता हुई। वस
इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के ससर्ग से 'निर्वेद'
स्थायी हुआ। अतः यहाँ शान्त-रस है।

उदाहरण नवों, पङ्क ४—

पृष्ठ ४६०—वन वितान

अब न फछू परधाह ॥

यहाँ पर 'साधु पुरुष' आलम्बन विभाव है क्योंकि इन्हीं
के द्वारा रस आलम्बित हुआ है, अथवा ये कहिये कि यही
विरक्तता के मुख्य आधार तथा कारण है। वन वितान, रवि,
शशि, दिवा, फल भण्ड, सलिल प्रवाह, अवनि सेज, पम्वा-पवन,
ये उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा विरक्त भाव और

भी अधिक विस्तृत, दृढ़ तथा प्रौढ़ होता है, अथवा यों कहिये कि ये वस्तुएँ ससार-त्याग के लिये अथवा मायाजाल से छुटकारा दिलाने के लिये और भी पर्याप्त हैं, अतः विरागोद्दीपक होने के कारण “उद्दीपन” विभाव हुए। “अब न कछू परवाह” यह शान्त वचन “अनुभाव” है, क्योंकि इसके द्वारा संसार की वस्तुओं से घृणा हो जाने का स्पष्ट अनुभव होता है। “धृति, मति, हर्ष” यह सचारी भाव हैं। ससार में जीवनोपयोगी चार-पाई इत्यादि वस्तुओं के अभाव में भी सतों को भूम्यादि अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ उपलब्ध है—इससे धैर्य का सचार होता है। सुनीति का ज्ञान होने के कारण ‘मति’ प्रगट हुई, क्योंकि इसीके द्वारा संतोष हुआ है। “अब कुछ परवाह नहीं” यह वाक्य हर्ष को प्रतिध्वनित करता है। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से “निवेद” स्थायी हुआ, अतः यहाँ शान्त रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण तेरहवाँ

पृष्ठ ४६१—प्यारी सत्ता

विभूषण राधिका ॥

यहाँ पर शास्त्र विज्ञात बातें और श्याम की आज्ञा ये “आलम्बन-विभाव” हैं, क्योंकि विरक्त भाव उत्पन्न कराने के मुख्य कारण येही हैं, इन्हीं के द्वारा राधिका को यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है कि विश्व मं प्रियतम है और प्रियतम में विश्व है, इत्यादि। ससार की सत्ता का लीलामय होना, और प्रभु की निष्काम भक्ति जो सम्पूर्ण ससिद्धियों में दिव्य है, उद्दीपन-

विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा ज्ञान और भी प्रबल होता है, यह निर्वेद को और भी विस्तृत तथा उद्दीप्त करता है। राधिका का मुख्य होकर चुप रह जाना “अनुभाव” है, क्योंकि इससे “निर्वेद” का पूर्ण अनुभव होता है। इसी प्रकार धृति और मति संचारी भाव है, क्योंकि उसको महाराज कृष्ण के न मिलने पर भी धैर्य है और प्यारे तथा परमात्मा की भक्ति के अभिन्न होने का भी ज्ञान है, प्रथम कार्य में धृति और द्वितीय में मति है। वस इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से “निर्वेद” स्थायी हुआ, अतः शान्त-रस है।

उदाहरण चौदहवाँ

पृष्ठ ४६२—गद्गद् हृदय से प्रेम भाव नये-नये ॥

यहाँ पर “जो कुछ दिखायी दिया आज मुझको न भूलेगा कभी”—“वैकुण्ठ दर्शन” करानेवाले (कृष्ण)—आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा अर्जुन का पुत्र सम्बन्धी शोक दूर होकर ज्ञान स्थिर हुआ है। महाराज कृष्ण ही के द्वारा रस आलम्बित होने के कारण वह आलम्बन विभाव हुए। और उपर्युक्त दृश्य उद्दीपन विभाव है, क्योंकि कृष्ण के सत्सङ्ग से प्राप्त किया हुआ ज्ञान इससे और भी उद्दीप्त हुआ है, यदि अर्जुन अपने नेत्रों से स्वर्ग का दृश्य साक्षात् न देख लेते तो उनमें विराग का अविर्भाव कभी नहीं हो सकता था। इसी प्रकार “गद्गद् हृदय से यत्न बोलना” “हरि की लीला को विलक्षण बताना” “उनके यह अनुभाव

देखिने कौ एकै फिरै देवता सी दौरी-दौरी,

देवता मनाय दिन दान में नसति हैं ।

कीजै कद करम को इहि रूप मेरी माई,

ये तौ मेरे काहजू के नामहि हँसति है ॥

—केशवदास

यहाँ पर धाय का बचन सखियों के प्रति है, कि देखो यह हमारे कान्हू के रूप पर हँसती हैं, यह तो हास्य-रस है। “एक महाराज कृष्ण से मिलने की उत्कठा में दूसरों से मिल मिल कर प्रयत्न कराती है, दूसरी मन ही मन में विलास करती है, तीसरी उनसे बात-चीत करने के लिये लालायित हो रही है और चौथी उनकी बाणी के श्रवण मात्र की अभिलाषिनी है, इसी प्रकार कोई-कोई तो उनके दर्शने के लिये दौड़ी-दौड़ी फिरती हैं और कोई-कोई देवी-देवता मना कर दान-वृत्त में अपने दिन व्यतीत करती हैं”। इन वाक्यों से शृङ्गार-रस प्रकट होता है। “कर्म को क्या करूँ, जिसके कारण श्यामवर्ण हुआ और उनका नाम कृष्ण पड़ा” इस वाक्य में साक्षात् कृष्ण-रस प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार इस एक ही उदाहरण में शृङ्गार, हास्य और कृष्ण तीनों रसों का वर्णन किया गया है। वर्ण भी सरल है, उक्त छन्द के चारों चरणों में क्रमशः मकार, नकार, दकार और फकार का प्रयोग किया गया है जो भाधुर्य्य-गुण प्रकाशक है। इनके अतिरिक्त सुन्दर और शुभ भाव भी है, अतः कौशिकी-वृत्ति है।

भारतेन्दुजी कोशिकी-वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार वतलाते हैं कि जो वृत्ति अत्यंत मनेहर, स्त्रियों के लिए जिन वस्त्राभूषणों की आवश्यकता है उनसे सुसज्जित, रमणीय नृत्य, गीतादि से परिपूर्ण तथा नाना भोग विलासादि युक्त होती है। उसे कोशिकी वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शृङ्गार-रस प्रधान नाट्यको के लिये उपयुक्त है।

भारती-वृत्ति

परणै जामे मीर-रस, अर अद्भुत रस हास ।

कहि "केशव" शुभ अर्थ जहँ, मो भारती प्रकाम ॥

—केशव

जहाँ वीर, अद्भुत तथा हास्य रस का वर्णन होता है, और अर्थ सुन्दर अथवा शुभ होता है उसे भारती-वृत्ति कहते हैं। यथा,—

काननि कनिक पन चक्र चमकत चार,

धन्या भुलसुली भलकति अनि सुप दा

'केशव' छपीलो छत्र शीशपूल साग्यी सों,

केसर की आढ अधिराधिका रची बनाइ ।

नीके ही नकीन सम नीकों नक् मोती नाक,

एक ही विलासनि गुपाल ता गने बिकाइ ।

लाचन विगास भाल भरित ज्वाक लाल,

मानो चण्डो मीनन के रय मनमय राइ ।

—केशव

यहाँ पर सजारी का वर्णन किया गया है। कानों में सुवर्ण-पत्र के पवित्र चक्र हैं, लो छवि की भूल है, शीश

सजीला शोशफल ही सारथी है, केशरि की आड़ अधि-
राधिका (जिसके आसरे पर सब रहते हैं) है। उत्तम
नकीब के समान नाक में मोती है। उसके एक बार देखते ही
गोपाल तो उसके हाथों विक से गये हे। उसके बड़े-बड़े नेत्र
हैं और मस्तक पर जडाऊ लाल है, वही मानो मछलियों के
रथ में बैठकर कामदेव ने पयान किया है।

यहाँ पर नाक के मोती को नकीब मानने में “वीर-रस”
का वर्णन समझा जाता है। चेहों को काम और लोचन को
मीन कल्पित करने में “मन्द-हास” का वर्णन है। कामदेव का
मीन के रथ पर चढ़कर चलना “अद्भुत” रस का वर्णन है।
और इसी प्रकार एक ही विलोकन से ग्याम के बिका जाने में
“शृंगार रस” वर्णित हुआ है। यों एक ही छन्द में कवि ने
वीर, अद्भुत और हास्य अथवा शृङ्गार की छटा दिखलाई है।
अर्थ भी सुन्दर है, अतः यहाँ पर भारती-वृत्ति है।

जिस वृत्ति में साधु भाषा का बाहुल्य होता है, उसका
नाम भारती-वृत्ति है जहाँ पर प्रधानतया वीर-रस का वर्णन
करना हो वहाँ पर इसी वृत्ति का प्रयोग होना उचित है।

आरभटी-वृत्ति ।

“केशरि” जामें रुद्र-रस , भय विभक्तक जान ।

आरभटी आरम्भ यह , पद पद जगज्ज पखान ॥

जहाँ पर रौद्र, भय और वीर-रस का वर्णन हो और

पद-पद में यमकालकार का दिग्दर्शन कराया गया हो उसे “आरम्भटी वृत्ति” कहते हैं।

भारतेन्दुजी के मतानुसार, माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बन्धादि नाना प्रकार के रौद्र प्रधान युक्त काव्यों से संयुक्त होने वाली वृत्ति को ही “आरम्भटी वृत्ति” कहते हैं। जब कभी नोड रस का वर्णन करना हो तो इस वृत्ति पर दृष्टि रखना उचित है। उदाहरण —

घोर घने घन घोरत सज्जन उज्जन कज्जन की रचि राचे ।

फूने किँ इम से नभ पाइय सायन की पहिली तिथि पाचै ।

चाहु कुधा तडिता तडपै डरपै ननिता कहि ‘केथर’ सार्व ।

जाति मनी मजराज बिना नज ऊपर काल कुटुम्भिन नाचै ॥

यहाँ पर तडिता का तडपना, और घने के घोरने से यह जाना जाता है कि ये मारने के लिये क्रोध करते हैं, इससे रौद्र-रस है। देख देख कर वनिताओं के डरने से—“भयानक रस” है। और काल कुटुम्भिन के नाचने में “बीभत्स रस” का वर्णन होने से “आरम्भटी वृत्ति” है।

सात्विकी-वृत्ति ।

यद्भुत वीर शृङ्गार-रस , सम रस वरणि समान ।

सुनतहि समुक्त भाव जिहि, सो सात्विकी सुजान ॥

जहाँ पर श्रद्धा, वीर, शृङ्गार और शान्त रस का वर्णन हो, उस वृत्ति को सात्विकी वृत्ति कहते हैं। जिसका भाव मारने की भाव में आजावे।

किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के मत में इस वृत्ति में अद्भुत, रुद्र, वीर तथा शान्त-रस का वर्णन होना चाहिये।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी वीर-रस प्रधान नाटकों में इस वृत्ति को उपयोगी बतलाते हैं। वह अपनी "नाटक" नाम्नी पुस्तिका में सात्त्विकी वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं :—

“जिस वृत्ति द्वारा शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से विरोचिता, विविधगुणान्विता, आनन्द विशंपोद्भाविनी, सामान्य विलास युक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भगी नायक कर्तृक प्रयुक्त होती है, उसका नाम सात्त्विकी-वृत्ति है।

महाकवि केशवदासजी ने रसिक-प्रिया में सात्त्विकी-वृत्ति का निम्नलिखित उदाहरण अंकित किया है। उदाहरण —

केशोदाम लाज-लाख भातिन के अभिलाष,

घारि दैरी यागरी न घारि हिये होरी सी।

राधा-दृष्टि केरी प्रीति सघते अत्रिज जाणि,

रति-रति नाथहु में दखो रति धोरी सी ॥

तिनहु में भेद न भयानि हु प पाख्यो जाइ,

भारती की मारती है कदिये को भोरी सी।

एकै गति एक मति एकै प्राण एकै मन,

देखिये को देह द्वै दे नैनन की जोरी सी ॥

यहाँ पर सखी की उक्ति अन्य नायिका के प्रति है, कि नू. चारम्भार मुझसे कहती है कि “श्याम से मिला-श्याम से मिला।”
 १. अरी चागली इन अभिलाषाओं को जला क्यों नहीं देती,

हृदय में वृथा चिन्ता की होलीसी जलाने से क्या हाथ आवेगा ? अपने मन में इम बात को निश्चय जान कि राधा, और कृष्ण की प्रीति सब से अधिक है। यदि तुलना की जावे तो रति और कामदेव की प्रीति कम ठहरैगी। इनकी प्रीति का वर्णन करने में सरस्वती की वाणी भी असमर्थ है। यदि उन दोनों में भवानी भी भेद डलवाना चाहे तो वह भी सफल मनेरथ न होगी (भला मेरी क्या सामर्थ्य है)। वास्तव में उनकी गति, मति, प्राण और मन एक ही है, केवल देगने के लिये नेत्रों की जोड़ी के समान उनकी देह प्रथक् प्रथक् है।

यहाँ पर दोनों के उत्साह वर्णन में, वीर-रस, अभिलाष चारि डे में, गौड-रस। राधा तथा कृष्ण की प्रीति में, शृङ्गार-रस और राधा तथा कृष्ण के अभेद वर्णन में शान्त रस का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दो देहों में एक जीव का वर्णन होना अद्भुत रस है। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द में अद्भुत, रुद्र, वीर और शान्त का वर्णन होने से उसमें नाट्यकी वृत्ति है।



छन्द निर्णय ।

अथवा

किस रस के लिये कौनसा छन्द अनुकूल वा
प्रतिकूल है ।



माँ मुख्य छन्द में किसी विशेष रस के वर्णन करने की प्रणाली हमारे हिन्दी भाषा के काव्य में प्रचलित नहीं है और न यह बात आवश्यक ही जान पड़ती है, क्योंकि काव्य-सौन्दर्य, अर्थ लालित्य, भाव-लहरी तथा सरसता तो, रस की प्रतिभा

पर ही निर्भर है । छन्द गौण है—तो भी शिष्टों के मतानुसार भानु कवि के निर्मित किये कोष्टक को नीचे उद्धृत करते हैं, क्योंकि संस्कृत काव्य में इसका विशेष विचार किया जाता है । और आजकल भिन्न नुकान्त तथा अन्त्यानुप्रास युक्त दानों प्रकार की ही कविता में संस्कृत छन्द लिखे जा रहे हैं, अतः ऐसी अवस्था में इस कोष्टक से कुछ लाभ होने की सम्भावना की जा सकती है ।

हिन्दी भाषा में दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय, सवैया तथा कवित्त इत्यादि सभी प्रकार के वर्णनों के लिये अनुकूल हैं । संस्कृत छन्दों में उनका विचार निम्नलिखित कोष्ट के अनुसार करना चाहिये —

रस	श्रुतुल-छन्द	प्रतिकूल-छन्द
शृंगार	शार्दूल—विक्रीडित, वसन्त—तिलका, पृथ्वी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, द्रुत विलम्बित ।	पथ्या
हास्य	दोधक, तोटक, भुजगप्रयात और जिनका प्रत्येक पद में विच्छेद हो ऐसे सब वृत्त ।	पृथ्वी
पाण्डु	मालिनी, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता और पुष्पिताग्रा ।	दोधक
द	शार्दूल विक्रीडित, हरिणी, स्रग्धरा, रथोद्धता, अनुष्टुप ।	शिखरिणी
वीर	शार्दूल विक्रीडित, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, गशस्य, शिखरिणी, स्रग्धरा, भुजगप्रयात, पञ्च-चामर, श्रमृतध्वनि, कृपाण, वीर ।	प्रह्विणी
भगवन्	शार्दूल—विक्रीडित, स्रग्धरा, पथ्या ।	मालिनी
वीरभक्त	शार्दूल—विक्रीडित, स्रग्धरा, वशस्य, रथोद्धता ।	मन्दाक्रान्ता
श्रद्धा	शार्दूल विक्रीडित, नन्दिनी, कुसुम—विचित्रा, मालिनी स्यागता, उपनित्रा, वसन्त तिलका, इन्द्रवज्रा ।	शिखरिणी

रस-दोष ।



सार में कोई भी वस्तु दोष रहित नहीं, केवल एक मात्र ईश्वर ही निर्दोष है, फिर भला काव्य ही इस सिद्धान्त से किस प्रकार प्रथक रह सकता था, उसमें भी दोष पाये जाते हैं। विद्वानों के मत से वह दोष चार प्रकार के हैं (१) शब्द-दोष, (२) वाक्यदोष, (३) अर्थदोष और (४) रस-दोष। इनमें से प्रथम तीन को छोड़कर हम केवल अन्तिम दोष का वर्णन करते हैं, क्योंकि उसी का हमारे विषय से सम्बन्ध है।

रस-दोष को अन-रस तथा अपरस भी कहते हैं। यह दोष पाँच प्रकार के होते हैं —

प्रत्यनीक नीरस विरस, “केशव” दुस्सन्धान ।

पात्र-दुष्ट करि न सुकवि बखान ॥

अर्थात् (१) प्रत्यनीक (२) नीरस, (३) विरस, (४) दुस्सन्धान, (५) पात्र-दुष्ट ।

१—प्रत्यनीक ।

जहाँ शृङ्गार बीभत्स भय, वीरहि वरणे कोइ ।

गैद सुकरुणा मिलत ही, प्रत्यनीक रस होइ ॥

जब शृङ्गार-बीभत्स, भय-वीर, रौद्र और करुणा में से एक ही छन्द में दो अथवा अधिक का संयोग हो जाता है, तब उसे प्रत्यनीक दोष कहते हैं। यथा —

फरफे भुज आनंद भरे, मिलि मुख चुम्बन चाह ।

परदि भाल मुरकी अरन, नैन शोक उर माह ॥

यहाँ भुजाओं के फरफने में वीर रस मुख चुम्बन की चाह में शृङ्गार-रस, परदि भाल मुरकी में वीभत्सरस, अरुण-नयन में रौद्र-रस, और उरमाह शोक होने में करुणारस होने के कारण प्रत्यनीक दोष है । पुनर्यथा :—

हँसि बोलत ही मुह से सख केयन' लाज भगानत लोक भगे ।

कदु पात चलावत घेर चले मन आनत ही मनमथ जगै ॥

मलि तू जुबही सुहुती मन भेरेहि जानिये नेह हिये समगे ।

दृगि त्यों नेकु दृष्टि पसागत ही अंगुरीनि पसारन लोग लगै ॥

यहाँ हँसि बोलत, लाज भगावत, पात चलावत, मनमथ जगै, और दृष्टि पसारने में शृङ्गार-रस का वर्णन हुआ है । लोक भगियो, घेर चलिघो, हियौ न उमगै, लोगों का उगली पसारना, इन सस्पूर्ण वाक्यों में वीभत्सरस प्रतिपादित होता है । इस प्रकार शृङ्गार और वीभत्स दो रस एक ही छन्द में वर्णित हुए हैं, अतः प्रत्यनीक दोष है । जहाँ पर भय, वीर, रौद्र करुणा, इसी प्रकार मिलें वहाँ भी प्रत्यनीक समझना चाहिए ।

२—नीरस ।

जहा टपती मुह मिल, सदा रहै यह रीति ।

कपट रहै लपटाय मन, नीरम रम की प्रीति ॥

यहाँ पर नायिका नेचल मुख से मिलें, ८१

कपट रखे और सदैव यही रोति स्थिर रहे, वहाँ नीरस समझना चाहिए। यथा—

गाहत सि उ सयाननि के जिनकी मति की मति देह देखी ।

मोहि हँसी दुख दोऊ दई तिनहु सो जनार्ति प्रेम पहेली ॥

आजु ला कान्हू न सुनी सु तौ देखि चली हम सोनि सहेली ।

जानी हँ जानी मिली मुह ही हिय ना हिये भावति गर्व गहेली ॥

यहाँ पर सखी की उक्ति नायिका तथा नायक के प्रति है। वह कहती है, कि भला जिनकी बुद्धि चतुराइयो के समुद्र का अवगाहन करने वाली, है यहाँ तक कि वह बिलकुल परिमार्जित होगई है, उनको तुम प्रेम पहेली सुनाकर टहलाना चाहते हो। अस्तु, जो बात आज तक कभी कानों भी न सुनी थी चलो आज आँखों से तो देखी, कि सौतें भी सहेलियाँ होती हैं। मुझे तुम लोगों के व्यवहार देखकर हसी और रोद दोनों ही हैं। (प्रेम पहेली सुनकर तो/ हसी आती है और तुम्हारे कपट पर रोद) मैंने भली भाँति समझ लिया कि तुम्हारा मेल बिलकुल दिखावटी है, मुँह से तो मिलते हो किन्तु हृदय में कपट है, (दोनों स्त्री, पुरुषों का प्रेम अन्य नायक, नायिका से है) पर प्रेम में कपट का वर्णन होने के कारण नीरस—

३-विरस

जदा शोक मह भोग को वरणि कहे कवि

केगनदास हुलास सो, तहँ ही वीर

जहाँ पर शोक में भोग का वर्णन

समझना चाहिये। यथा—

लान भान जायक लपट, वरी पिरह के मार ।

भरी शोक लपटत गरे, बिहसति भूपन भार ॥

यहाँ शोक में रति का वर्णन है, अतः विरस टोप हुआ ।

पुनर्यथा —

पेशोनास न्यान दान खान पान भूल्या गान,

गयो जान भया प्राण पीठि की सी पीठि हे ।

छाहटु रसिकलाल यह जब वह बाल,

रसन हा सग सुख तुमहि उनीठि हे ॥

पेनी मोच सीठी सीठा र्चाठी अति दाठी सुने,

मीठी-मीठी बातनि जु नीयेहु में नीठि ह ।

ईदनि सो तूदी ईटी तावे शोक की अंगीठी,

उठी जाके वरम सुकेसे हँसि दीठि ह ॥

यहाँ पर नायिका की दशा का वर्णन सखी द्वारा नायक से हुआ है, कि वह न्हान दान, खान, पान इत्यादि सभी नित्य-कर्म भूल गई है, भ्रान विलकुल नहीं रहा है, और प्राणों की तो यह दशा है कि पीठी की भी पीठि होगये हैं, अर्थात् केवल नाममात्र को उलभे हुए हैं । इसलिये हे रसिकलाल तुम भोग की जरूर छोड़ दो, नायिका तो केवल तुम्हारे दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण सुखों को उठाकर एक ओर रख देगी, यह विचार कर चिट्ठी (जोकि उसके लिये अत्यन्त सीठी है) से काम न निकालो, क्योंकि जब वह अच्छी भली होनी है तब भी तो मीठी मीठी बातों को अवण कर पूर्णतया प्रसन्नता प्रगट नहीं करती ३
अतः तो यह अवस्था है, कि शोक के कारण उसके

अंगीठी सी सुलग रही है, फिर भला उससे क्या आशा की जा सकती है कि वह हँसकर देखे। यहाँ भोग में शोक का वर्णन हुआ है, अतः धिरस-दोष है।

४—दुस्सन्धान ।

एक होइ अनुकूल जहाँ, दूजो हे प्रतिकूल ।

“केशव” दुस्सन्धान रस, शोभित तहाँ सखल ॥

नायिका, नायक में से जहाँ एक अनुकूल हो और दूसरा प्रतिकूल हो वहाँ दुस्सन्धान दोष होता है। उदाहरण —

दे दधि दीनो वधार हो “केशव” दान कहा अर मोल लै खैंहैं ।

दीने बिना जुगई हो गई न गई न गई पर ही फिर जहें ॥

गो हित रेर फियो कव हो हितु मरु किये बर नीकी है रैहै ।

बेरु कै गोरस बेचहुगी अहो बेचो न बेच्यो तौ दारि न दैहै ॥

यहाँ पर प्रत्युत्तर है। नायक अनुकूलता से बोलता है, और नायिका प्रत्येक बात का उत्तर प्रतिकूलता से देती है यथा — नायक ने कहा कि “दधि दो”, तब नायिका ने कहा—“क्या दान में चाहते हो? यह बात न होगी यहाँ तो उधार बेचने वाले हैं।” फिर नायक ने कहा कि “जाने दो हम मोल लेकर ही खालेंगे।” इस पर नायिका ने कहा “मोल तो तब लोगे जब हम देंगे।” इस पर नायक ने कहा कि “इस प्रकार क्या काम चलेगा।” नायिका बोली “न सही घर तो लौट जायेंगे।” फिर नायक ने कहा कि “क्या अब तुम हित को त्याग कर बैर करना चाहती हो।” तब नायिका ने कहा “यह तौ बतलाओ कि हमारी तुम्हारी प्रीति ही कव थी।” फिर नायक ने कहा कि

“वैर करने में कुछ करुणा का भी स्थान है कि नहीं।” इस पर नायिका ने कहा कि हमें तुमसे वैर की कुछ भी परवाह नहीं, हम तो आनन्द में रहेंगे।” इस पर नायक ने कहा कि “क्यों जी इस प्रकार वैर करके क्या मोरस बेच लोगी।” इस पर नायिका बोली “अजी बेच न लेंगे तो फेला भी तो न देंगे, (अपने घर ही ले जावेंगे) । इस प्रकार नायक के अनुकूल तथा नायिका के प्रतिकूल होने के कारण यहाँ दुस्सन्धान दोष है।

५—पात्रादुष्ट

जमो जहा न बुझिआ, तेसो करिये पुष्ट ।

बिनु विचार जो बरनिये, सो रस पातर दुष्ट ॥

प्रश्न के विरुद्ध पुष्ट करना अथवा किसी बात को बिना विचारें हुए वर्णन करना पात्रादुष्ट कहलाता है। यथा —

कपट कृपानी मानी प्रेम रस लपटानी,

प्राननि को गगान के पानी सम जानिये ।

स्वार्थ मिथानी परमाग्रथ की रजधाना,

काम की कहानी ‘केशादाम’ जग मानिये ॥

सुनरन अरुझानी सुधा सों सुधार आनी

सकल सपानी मानी शानी सुख दानिये ।

गारा आ गिरात जानी मोहे मुनि दूद प्रानी,

मेरी रानी त्रिपुक बरानिये ॥

यहाँ सब पदों में बिना विचार के वर्णन हुआ है, अतः राजादुष्ट दोष है। यथा—कपट कृपानी से अभिप्राय लिया गया है “सब के कपट को काटने वाली” यह पद बिना विचार के है, क्योंकि सब में तो उसकी भी गणना होगई इसी प्रकार प्रेम-रस तथा गगाजी वाली इत्यादि बातें भी हैं।



उपसंहार

एकादश क्यारी रची, नन-रस पुष्प निचारि ।
 पाढ़ि वृत्ति ओर दोष की, तापे धरा सुचारि ॥ १ ॥
 या निधि सो यह नाटिका, भई पुष्प युत आज ।
 गतिक मित्र । सेजन करहु, भयो पूर्ण मम काज ॥ २ ॥
 भूमि चीज सब आपु फौ, जल तक तुम ही दीन ।
 रत्नक सब निधि आपु ही, भये सकल परधीन ॥ ३ ॥
 वस्तु तुम्हारी ही तुम्हीं, भेदहि मित्र । लजाय ।
 पुष्प-वन जैसे कटू, तिनहि लेहु अपनाय ॥ ४ ॥
 काव्य सिन्धु जैसे अगम, जानत सबे प्रीन ।
 कहो पार किमि पावही, मेरी बुद्धि 'नवीन' ॥ ५ ॥
 यह निचार निज चित्त में, छिमा करहु मम चूक ।
 तब-रस वरनन में भई, मोमो होइ बहूक ॥ ६ ॥

रमिक गिरामणि साँवरे, फनिता कमिनि कन्त ।
 तिनकी भामिनि राधिका, मगल करहि अन्त ॥ ७ ॥
 शिव (मन्वामेश्वर) भवा, रहहि सदा अनुकूल ।
 तिनके सुत गनपति अर्ह करहि कूल मा-द्वल ॥ ८ ॥
 परदायनि श्रीगारदा, येद शुभ घाम ।
 नश सुमगल लीजिये -रन काम ॥ ९ ॥

गुर-पट पद्म-पराग नित , मम मन करहि अन्नन्द ।

मोह निविड तम दूरि कर, सदा करै आनन्द ॥ १० ॥

सवत् वसु अग्नि ग्रह शशी , चैत्र कृष्ण भुवि चन्द ।

यह 'नवीन' पूरन कार्यो , नय-रस नूतन चन्द ॥ ११ ॥

कवि किङ्कर सिरसागंज, जिला मैनपुरी निवासी :—

बाबूराम बित्थरिया 'नवीन'

मि० चैत्र, कृष्ण ११ }
म० १६५८ वि० }

अध्यापक, ए० बी० गेल्वे स्कूल,

वाँदीकुई—राजपूताना ।



